THE
VIDYABHAWAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA
107

VEDAKĀLĪNA SAMĀJA

By

Dr. SHIVADATTA GYANĪ
M. A., Ph. D.
(Head of the Department of Ancient Indian History and Culture, Vikrama University, Ujjain.)

THE
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI-1
1967

समर्पण-पत्र

मातर् !

(स्व० सरस्वती देवी, मृत्यु आषाढ़ी पूर्णिमा, वि० सं० २००२)

त्वत्प्रसादमहिम्ना हि वेदामृतसमन्वितः ।
रचितो ग्रन्थश्रेष्ठोऽयं तव हस्ताभ्यां समर्प्यते ॥

चरणसेवक

शिवदत्तः

दो शब्द

यह 'वेदकालीन समाज' सुज्ञ पाठकों की सेवा मे प्रस्तुत है। विश्व-संस्कृति व विश्व-साहित्य के इतिहास मे वेदों का स्थान अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। विश्व के सास्कृतिक इतिहास की कितनी ही गुत्थियाँ वैदिक साहित्य की सहायता से सुलझाई जा सकती हैं। प्राचीन विश्व को संस्कृति का पाठ पढ़ाने वाले भारतीय आर्यों के रहस्य को वेद ही समझा सकते हैं। इसी प्रकार भारत के सास्कृतिक जीवन की आधार-शिला भी वेदों मे ही निहित है। हम अपनी कितनी ही वर्तमान समस्याओं को सुलझाने के लिये वेदों से प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं।

वैदिक आर्यों ने इन आर्य-दस्यु, आर्य-व्रात्य आदि समस्याओ को वर्ण-व्यवस्था के विकास द्वारा बड़ी ही सफलतापूर्वक सुलझाया था। उन्होंने आर्येतर तत्वों को समाज के अविकल अङ्ग के रूप में स्वीकार कर उन्हे आत्म-विकास का पूर्ण अवसर प्रदान किया, तथा विभिन्न तत्वों के मध्य सामञ्जस्य स्थापित कर सामाजिक विषमता का निराकरण किया। कवष ऐलूष, कक्षीवान् आदि वेदकालीन मन्त्रद्रष्टा ऋषि इसी सामाजिक सामञ्जस्य के ज्वलन्त उदाहरण है। इस सामाजिक सामञ्जस्य में स्त्रियों का भी समुचित स्थान निर्धारित किया गया था। उन्हें गृह की 'सम्राज्ञी' 'जायेदस्तं' आदि पदवी से विभूषित कर समाज मे गौरवपूर्ण स्थान प्रदान किया गया था। स्त्रियो को भी आत्मविकास का पूर्ण अवसर प्रदान किया गया था। यही कारण है कि वेदकालीन समाज लोपामुद्रा, अपाला आत्रेयी, घोषा काक्षीवती, वाग्जृम्भणी, शची इन्द्राणी आदि ऋग्वेद की मन्त्रद्रष्ट्री विदुषी नारियों को जन्म दे सका। मानव को सच्चे अर्थ मे मानव बनाने तथा उसके जीवन को सोद्देश्य व लोककल्याणकारी बनाने के हेतु से आश्रम-व्यवस्था को विकसित किया गया था। वेदकालीन समाज ने वर्णाश्रम-व्यवस्था के रूप मे मानव संस्कृति को एक महान् देन प्रदान की है, जिसके द्वारा मानवता आज भी अपनी समस्याओ को हल कर सकती है।

वैदिक साहित्य मे तत्कालीन अर्थ-व्यवस्था, धार्मिक व दार्शनिक जीवन के मूल तत्व, साहित्यिक व कलात्मक प्रवृत्तियाँ एवं विभिन्न विज्ञानो के मौलिक सिद्धान्त पूर्णतया प्रतिबिम्बित होते हैं। इन्ही पर हमारा आर्थिक, सामाजिक व धार्मिक जीवन विकसित हुआ है। यह स्पष्ट है कि हमारे सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन की जड़ें वैदिक साहित्य मे समाविष्ट है। अतएव हम अपनी

वर्तमान समस्याओ के निराकरण के लिये वेदकालीन समाज से प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं। उस प्रेरणा को आज हमारा समाज आत्मसात् करे इसी उद्देश से 'वेदकालीन समाज' की रचना हुई है। यदि यह ग्रन्थ इस विकट परिस्थिति मे समाज का मार्ग-दर्शन करने मे सफल हुआ तो लेखक अपने प्रयत्नो को कृतकृत्य मानेगा।

इस ग्रन्थ के मुद्रण व प्रकाशन के लिये 'चौखम्बा सस्कृत सीरीज आफिस' तथा 'चौखम्बा विद्याभवन' वाराणसी के उदीयमान बन्धुओ ने जो प्रयास किये हैं, उनके लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं। उनकी सहानुभूतिपूर्ण सहृदयता व प्राचीन भारतीय सस्कृति के प्रति श्रद्धा के विना यह ग्रन्थ प्रकाश मे न आया होता। मेरी पुत्री छात्रा कु० आशा ज्ञानी भी आशीर्वादार्ह है, क्योकि एम० ए० (फायनल) के अध्ययन मे व्यस्त रहते हुए भी उसने सहायता प्रदान की, व ग्रन्थ की अनुक्रमणिका तैयार करने का जटिल कार्य भी सफलतापूर्वक सम्पादित किया।

आश्विन शुक्ला १२,
वि० सं० २०२३

विनीत
शिवदत्त ज्ञानी

विषय-सूची

—

शुद्धिसंशोधन—प्रेस की असावधानी से पृ० ४१ से ५९ तक 'भौगोलिक विवेचन' के स्थान पर, एवं पृ० ६० से ९४ तक 'सांस्कृतिक पृष्ठभूमि' के स्थान पर तथा पृ० ९५ से १५७ तक 'सामाजिक जीवन' के स्थान पर प्रत्येक पृष्ठ के माथे पर 'भूमिका'—एवं पृ० १७९ से २११ तक 'राजनैतिक विकास' के स्थान पर प्रत्येक पृष्ठ के माथे पर 'सामाजिक उदारता' नामक शीर्षक छप गये हैं। कृपालु पाठक इस त्रुटि के लिए क्षमा करेंगे।

वेदकालीन समाज

अध्याय—१

१

आर्य जाति व उसका आदिम निवासस्थान

आर्य-समस्या

ऐतिहासिकों की खोज के परिणामस्वरूप आर्यों का ऐतिहासिक महत्त्व बहुत बढ़ गया है। प्राचीन काल में ऐसी कोई भी संस्कृति न थी जिसको आर्य्यों ने प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से प्रभावित न किया हो। यूरोप व एशिया की प्राचीन भाषाओं पर आर्यभाषा के प्रभाव का दृष्टिगोचर होना तथा आर्य देवताओं व आर्य राजाओं के नामों का बेबिलोनिया व मिश्र के प्राचीन लेखों में पाया जाना आदि तथ्यों से उनके विस्तृत प्रभाव की ही पुष्टि होती है। आर्यों के ऐतिहासिक महत्त्व को समझाते हुए सिनोबस[1] लिखते हैं कि आर्य लोग प्राचीन काल में सर्वश्रेष्ठ थे व वर्तमान काल में भी सर्वश्रेष्ठ हैं। प्राचीन काल में दार्शनिक व धार्मिक वृत्ति के हिन्दू, कला व विज्ञान के जनक यूनानी, बड़े बड़े साम्राज्य के संस्थापक ईरानी व रोम तथा अर्वाचीन काल में इटली-निवासी, फरासीसी, जर्मन, डच, रूस-निवासी, अंग्रेज व अमेरिका-निवासी।

भाषा-साम्य व तुलनात्मक भाषाशास्त्र

अठारहवीं व उन्नीसवीं शताब्दि में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा संस्कृत साहित्य के अध्ययन के परिणाम-स्वरूप संस्कृत व एशिया तथा यूरोप की भाषाओं के मध्य आश्चर्यजनक साम्य का पता चला। फ्लोरेन्स के एक व्यापारी फिलिप्पो ससेटी ने (ई० स० १५८३-१५८८)

[1] सिनोबस — हिस्ट्री ऑफ ऐन्शन्ट सिविलिजेशन पृ० १८-१९

सर्वप्रथम यह घोषणा की कि संस्कृत व यूरोप की कुछ भाषाओं के मध्य निश्चित रूप से समानता है। किन्तु इन भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन का सूत्रपात ई० स० १७८६ में बङ्गाल के मुख्य न्यायाधीश सर विलियम जोन्स ने किया। बङ्गाल की "एशियाटिक सोसायटी" के सभापति की हैसियत से भाषण देते हुए उन्होंने कहा था कि भारत की पवित्र भाषा संस्कृत, ईरान की भाषा जेन्द, प्राचीन यूनान व रोम की भाषाएँ, केल्ट, जर्मन व स्लाव्ह लोगों की भाषाएँ परस्पर निकटतम सम्बन्ध रखने वाली हैं[१]। इनके इस युग-प्रवर्तक भाषण ने तुलनात्मक भाषा-शास्त्र को जन्म दिया[२]। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों विद्वानों ने इस दिशा में अधिक परिश्रम किया, जिसके परिणामस्वरुप वे इस निर्णय पर पहुँचे कि यूरोप, अमेरिका, भारत आदि की भाषाएँ एक ही भाषा-परिवार की हैं व ईस्वी सन् के प्रारम्भ होने के बहुत पहिले ही इनकी जन्मदात्री भाषाएँ अटलांटिक महासागर से लेकर गंगा व टेरिम (मध्य एशिया) नदी तक के प्रदेश में फैली हुई थीं[३]। उन विद्वानों ने यह भी निश्चय किया कि वे सब प्राचीन भाषाएँ किसी एक भाषा से बनी थीं, जो कि उन सब की माता थी[४]। इस प्रकार एक भाषा-परिवार की कल्पना की गई[५] जिसके अन्तर्गत निम्नाङ्कित भाषाओं का समावेश होता है—

यूरोप की भाषाएँ—हेलेनिक, इटेलिक, केल्टिक, ट्यूटोनिक, स्लाव्होनिक, लिथ्यूनिक या लेटिक व अल्बेनियन।

एशिया की भाषाएँ—इन्डिक जिसमें संस्कृत से बनी चौदह आधुनिक भारतीय भाषाओं का समावेश होता है, इरानिक जिसमें जेन्द, फारसी, पुश्तु या अफगान, बलूची, कुर्दिश व ओसेटिक का समावेश होता है, तथा आर्मेनियन। पाश्चात्य विद्वानों ने इन भाषाओं को "इन्डोजर्मनिक" या "इन्डो-आर्यन" नाम दिया है। तुलनात्मक भाषाशास्त्र की सहायता से उन भाषाओं की जननी मूलभाषा को जानने का प्रयत्न किया गया। उन सब प्राचीन भाषाओं के कुछ

[१] कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इन्डिया, जि० १, पृ० ६३–६४

[२] वही, पृ० ६५

[३] चाइल्ड – दी आर्यन्स, पृ० ५–६

[४] वही, पृ० ६

[५] टेल्प – दी ओरिजिन ऑफ दी आर्यन्स, पृ० २

शब्दों के प्राचीनतम रूप व सर्वसाधारण धातुओं को लेकर एक मौलिक भाषा बना दी गई[1]। इस सम्बन्ध में मेक्समूलर ने अपना मत स्थिर किया कि वैज्ञानिक भाषा में 'आर्य' शब्द जातिसूचक नहीं हो सकता है किन्तु केवल भाषासूचक ही। पेंका ने इस मत का विरोध करते हुए अपना यह मत प्रतिपादित किया कि 'आर्य' शब्द भाषा व जाति दोनों का सूचक है। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला गया कि उस मौलिक भाषा को बोलने वाली विशिष्ट संस्कृतिवाली कोई जातिविशेष रही होगी[2]। उसी जाति को 'आर्य' नाम से सम्बोधित किया जाने लगा। यह मत स्थिर किया गया कि ये ही आर्य यूरोप, सीरिया, ईरान, भारत आदि में फैल गये थे[3]। कुछ ऐतिहासिक 'आर्य' नाम को उचित न समझ, उन्हें "वीरॉस" नाम से सम्बोधित करने लगे[4]।

इस भाषा साम्य के द्वारा इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि प्राचीन आर्यभाषा ने एशिया व यूरोप की प्राचीन भाषाओं पर जबरदस्त प्रभाव डाला था। भाषा का प्रभाव व उसका प्रभुत्व सांस्कृतिक प्रभुत्व के (कदाचित् राजनैतिक प्रभुत्व के भी) अस्तित्व को सिद्ध करता है। ऐतिहासिक खोज ने इन देशों पर आर्यों के सांस्कृतिक प्रभाव पर भी अच्छा प्रभाव डाला है।

सांस्कृतिक साम्य

ऋग्वेद व अवेस्ता के धार्मिक सिद्धान्तों तथा प्राचीन भारत व ईरान के सामाजिक संगठन की एकता[5] यह प्रमाणित करती है कि प्राचीन ईरान के निवासी आर्य ही थे[6]। इसी प्रकार जरतुस्त्र धर्म के सिद्धान्तों का प्रभाव यहूदी, ईसाई, इस्लाम आदि धर्मों पर स्पष्ट

---

[1] कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया जि० १ पृ० ६६–६७ चाइल्ड—दी आर्यन्स पृ० ४–७

[2] कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया जि० १ पृ० ६७

[3] वही पृ० ६७

[4] वही पृ० ६७

[5] गंगाप्रसाद उपाध्याय — फाउन्टेन हेड ऑफ रिलीजन, पृ० ९६–१०१, हॉब्ज—'एसेज" पृ० ६९–७२

[6] गंगाप्रसाद उपाध्याय — फाउन्टेन हेड ऑफ रिलीजन', पृ० ९७

रूप से दीखता[1] है। ईसाई धर्म को तो बौद्ध धर्म ने भी प्रभावित किया था[2]। प्राचीन बेबिलोनिया व मिश्र के प्राचीन लेखों में आर्य देवताओं व आर्य राजाओं के नामों का उल्लेख[3] स्पष्टतया सिद्ध करता है कि ईसा के १६०० व १७०० वर्ष पूर्व आर्य लोग बेबिलोनिया आदि देशों तक फैल गये थे जहाँ कि उनके देवता पूजे जाते थे व राजा राज करते थे।

प्राचीन यूनान व रोम के निवासियों के आर्य होने के बारे में किसी भी ऐतिहासिक को लेशमात्र भी शंका नहीं है। उनके देवता, धार्मिक विश्वास, सामाजिक संगठन, यज्ञ, मृतकश्राद्ध आदि रीति रिवाज़ इस मत की पुष्टि करते हैं[4]। यूनान का प्राचीन साहित्य इसे स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करता है[5]। इस सांस्कृतिक साम्य की सहायता से आर्यों के विस्तार व प्रभाव का पता चलता है।

मूल भाषा व मूल जाति

आर्यों के विस्तृत प्रभाव से प्रभावित होकर भाषाशास्त्रियों ने 'आर्य-समस्या' को हल करने का प्रयत्न किया। पेंका के पदचिह्नों पर चल कर वे इस निष्कर्ष पर आये कि जिस प्रकार यूरोप व एशिया की विभिन्न भाषाओं की जननी एक मूल भाषा थी, उसी प्रकार उस मूल भाषा को बोलने वाली एक जाति-विशेष थी, जो कि मूल भाषा से उत्पन्न विभिन्न आधुनिक भाषाओं के बोलने वाले लोगों की जननी थी। इस प्रकार मूल-भाषा के सिद्धान्त ने मूलजाति के सिद्धान्त को जन्म दिया। यह तय किया गया कि मूल भाषा को बोलने वाली मूलजाति ही थी, जिसे 'आर्य' नाम से सम्बोधित किया गया। गाइल्स ने उन्हें "वीरॉस" कहना उचित समझा, क्योंकि 'वीर' (मनुष्य) शब्द "आर्य"-भाषा परिवार की अधिकांश भाषाओं में प्रयुक्त होता है।

इस मूल जाति के सिद्धान्त ने मैक्समूलर को भी प्रभावित किया। उन्होंने अपने भाषा-विज्ञान पर दिये गये भाषणों में

[1] वही अ० १, २, ४,

[2] वही पृ० २४, २५,

[3] चाइल्ड—"दी आर्यन्स", पृ० २३

[4] सिनोबस—"हिस्ट्री ऑफ एन्शेन्ट सिव्हिलिजेशन" पृ० २०८—१९

[5] वही, पृ० १००

प्रतिपादित किया कि "किसी समय भारतीय, पारसीक, रोमन, स्लॉव्ह, केल्ट व जर्मन के सर्वप्रथम पूर्वज एक साथ एक ही स्थान पर रहते थे, यहां तक कि एक ही मकान में रहते थे[1]।" टैलर[2] इस विचार-सरणी को पूर्णतया भ्रमपूर्ण मानते हैं, जिस पर आगे चल कर विचार किया जायगा।

मूल-संस्कृति

मूल भाषा तथा मूल जाति के सिद्धान्त ने मूल संस्कृति के सिद्धान्त को जन्म दिया। भाषाशास्त्रियों ने विभिन्न भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन की सहायता से मूल-भाषा बोलने वाली मूल-जाति के सांस्कृतिक जीवन के चित्रण का प्रयास किया व इस प्रकार मूल संस्कृति के मन्तव्य को उपस्थित किया। विभिन्न भाषाओं के कुछ समान शब्दों की सहायता से निश्चित किया गया कि मूलजाति के लोगों को किन किन वृक्षों, फलों, पशुओं, पक्षियों आदि का ज्ञान था व उनके उदर-निर्वाह के क्या साधन थे। भाषा-साम्य के सहारे निश्चित किया गया कि वे बहुत समय तक किसी एक ही स्थान में रहे होंगे तथा उनके निवास का प्रदेश समुद्र या पर्वतों से घिरा होगा। वहां 'ओक', 'बीच', 'विलो' आदि वृक्ष ऊगते होंगे। वहां के लोग स्थायी व अस्थायी जीवन व्यतीत करने वाले थे। बैल, गाय, भेड़, घोड़ा, कुत्ता, सूअर, हरिण आदि पशुओं का ज्ञान उन्हें था। बहुत ही प्राचीन काल में उन्हें हाथी, गधा, ऊँट आदि का पता नहीं था। उन्हें अनाज का भी ज्ञान रहा होगा व वे कृषि भी करते होंगे। पक्षियों में हंस, बतख आदि का ज्ञान उन्हें था। गरुड़ उनका सबसे बड़ा शिकारी पक्षी था। भेड़िये व रीछ को वे जानते थे किन्तु सिंह व व्याघ्र से वे परिचित नहीं थे[3]।

भाषा-साम्य की सहायता से प्राप्त मूल-संस्कृति के चित्र के अधूरेपन को दूर करने के प्रयत्न भी किये गये। विभिन्न इन्डोयूरोपियन लोगों के रीति-रिवाज, धार्मिक विश्वास, संस्थाएँ, उद्योगधंदे आदि के तुलनात्मक अध्ययन से अधिकांश लोगों की

[1] मैक्समूलर – 'लेक्चर्स'', पृ० २११–११२

[2] "ओरिजिन ऑफ दी आर्यन्स", पृ० ३

[3] "कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया", जि० १ पृ० ६६, ६७; चाइल्ड – "दी आर्यन्स" पृ० ८१

सर्वसाधारण विशेषताओं को मूल-संस्कृति से सम्बन्धित किया गया[१]। किन्तु यह प्रयत्न कितना भ्रमपूर्ण है, इस पर आगे विचार किया जायगा। इस प्रकार मूल-संस्कृति का चित्र बनाकर उसे मूल-जाति से सम्बन्धित किया गया, तथा यह भी माना गया कि मूलभाषा बोलनेवाली मूल-जाति का, जिसने मूल-संस्कृति का विकास किया था, कोई आदिम निवास-स्थान भी होना चाहिये। अतएव इतिहासकारों ने आर्यों के आदिम निवासस्थान को निश्चित करने के प्रयत्न किये।

आर्यों का आदिम निवासस्थान

भाषासाम्य व सांस्कृतिक साम्य के द्वारा आर्यों के वृहत् विस्तार को समझ उनके आदिम निवासस्थान के सम्बन्ध में विद्वानों ने विभिन्न मन्तव्य उपस्थित किये। भिन्न-भिन्न इतिहासकारों ने अपनी रुचि के अनुसार इस प्रश्न को हल करने की कोशिश की। परिणामतः आर्यों के आदिम निवासस्थान से सम्बन्धित कितने ही मत व सिद्धान्त प्रतिपादित किये जाने लगे, जिनको दो विभागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) एशिया के किसी भाग में आर्यों का आदिम निवासस्थान (२) यूरोप के किसी भाग में आर्यों का आदिम निवासस्थान।

(१) एशिया में निवासस्थान सम्बन्धी मत :—

कोई शीतप्रधान देश

आर्यों के आदिम निवासस्थान ढूँढ़ने के कितने ही तरीके विद्वान् ऐतिहासिकों ने ढूँढ़ निकाले। सबसे पहिले रंग व रूप की सहायता से इस प्रश्न को हल किया जाने लगा। आर्यों के श्वेत रङ्ग, लम्बा कद, लम्बी नाक आदि की सहायता से उनके आदिम निवास-स्थान का पता लगाया जाने लगा[२]। किन्तु अनुभव व साधारण ज्ञान ने इन विद्वानों को बताया कि रूप, रंग आदि समय, जल-वायु व अन्य भौगोलिक परिस्थिति से प्रभावित होकर बदलते रहते हैं। अतएव यह विचारसरणी उपयुक्त नहीं हो सकती।

---

[१] चाइल्ड – "दी आर्यन्स", पृ० ७९

[२] चाइल्ड – "दी आर्यन्स", पृ० १५९

मध्य-एशिया

मैक्समूलर, पॉट, फ्लेग्रॉथ, रिट लेसन, ग्रिम प्रभृति ने ऐतिहासिक घटनाओं की सहायता से इस प्रश्न को हल करने की कोशिश की[१]। इतिहास से पता लगता है कि प्राचीन काल में कितनी ही जातियाँ पूर्व से निकल कर पश्चिम के देशों में बस गई जिनमें शक व हूण विशेष उल्लेखनीय हैं[२]। वे सब मध्य एशिया की रहनेवाली थीं, अतएव आर्य लोग भी प्राचीन काल में उसी स्थान से निकल कर विश्व के भिन्न-भिन्न भागों में फैल गये। इस मन्तव्य के समर्थन में निम्न युक्तियाँ दी जाती हैं।

(१) "बाइबिल" मे लिखा है कि मानव-सृष्टि का प्रारम्भ एशिया में ही हुआ। मध्य एशिया ही आदि सृष्टि के लिये उपयुक्त स्थान है[३]।

(२) पारसियों के धर्मग्रन्थ "अवेस्ता" में कहा गया है कि आर्य लोग "ईरान वैज़" के रहने वाले थे। वहां से निकल कर कुछ भारतवर्ष में जा बसे व बाक़ी के पारस के पन्द्रह सोलह प्रान्तों में बस गये[४]। पेहेलवी ग्रन्थ "दीन अगासी" के अनुसार "ईरान वैज़" पारस के पश्चिमोत्तर में अज़रबाइजान में कहीं था। उसे कास्पियन सागर के पास स्थित अरान से सम्बन्धित किया जाता है। टाईड के मतानुसार 'ईरान वैज़' पारस के पूर्वोत्तर में होना चाहिये। आधुनिक ख्वारिज्म या खीव्हा उसका प्रतिनिधि हो सकता है[५]। इस प्रकार मध्य एशिया मे ही आर्य्यों का आदिम निवासस्थान होना चाहिये।

(३) मध्यएशिया में भूर्ज आदि वृक्ष भी होते हैं, जिन्हें आर्यों के आदिम निवास स्थान से सम्बन्धित किया जाता है[६]।

(४) मध्य एशिया स्थलान्तर्गत प्रदेश है। प्राचीन आर्य ऐसे

---

[१] मैक्समूलर — "हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर" पृ० ११–१६

[२] स्मिथ — 'अरली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया", चौथी आवृत्ति, पृ० २६३-२६८

[३] चाइल्ड — "दी आर्यन्स", पृ० ९४

[४] "भारतीय अनुशीलन", विभाग १, पृ० ४३–५८

[५] वही, पृ० ४३–५८

[६] "कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया", जि० १, पृ० ६७

ही स्थान के निवासी रहे होंगे, क्योंकि उन्हें मछली पकड़ने, नमक आदि का ज्ञान नहीं था।

(५) मित्तानी (ई० पू० १४००) व केसाइट (ई० पू० १७६०) लेखों से पता चलता है कि प्राचीन बेबिलोनिया में आर्य लोग बस गये थे[1]। वहां वे जेग्रॉस पर्वत को पार करके ही पहुँचे होंगे। उस पर्वत की दूसरी ओर से आना याने कास्पियन सागर या मध्यएशिया से ही आना है। इसलिये मध्यएशिया आर्यों का आदिम निवासस्थान होना चाहिये।

(६) एशिया की प्राचीन आर्य भाषाएं 'शतं समुदाय' की हैं न कि 'केन्टम समुदाय' की[1]। किन्तु ई० स० १९०७ में मध्यएशिया में 'केन्टम समुदाय' की एक भाषा तोखारियन ढूँढी गई है।

(७) मध्य एशिया को आर्यों का आदिम निवासस्थान मानने से उन पर जो सेमेटिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है वह समझ में आ सकता है।

(८) रीछ, सूअर, भेड़िया, लोमड़ी, खरगोश, चूहा आदि मध्य एशिया में पाये जाते हैं। भाषा साम्य के सहारे यह निश्चित किया गया है कि प्राचीन आर्य इन जानवरों से परिचित थे।

(९) संस्कृत भाषा की प्राचीनता व भाषाशास्त्र की दृष्टि से उसका शुद्ध स्वरूप इसी मत की पुष्टि करते हैं। सब आर्य भाषाओं में केवल संस्कृत व जेन्द प्राचीनतम रूपवाली व कम से कम परिवर्तित भाषाएँ हैं।

(१०) यूरोप में नव पाषाणयुग के छोटे सिर वाले मानव एशिया से वहां गये हुए आर्यों के वंशज थे, ऐसा प्रतीत होता है।

उपरोक्त मत के विरुद्ध भी कुछ युक्तियाँ दी जाती हैं, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं।

(१) कास्पियन व अरल सागर प्राचीन काल में आज की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत थे। इसलिये मध्यएशिया आर्यों के

---

[1] चाइल्ड — 'दी आर्यन्स", पृ० २०—२४

[2] वही, पृ० ७—८

समान बड़ी व विचरणशील जाति के निवासस्थान के लिये उपयुक्त नहीं हो सकता।

(२) यदि आर्य जाति का आदिम निवास-स्थान मध्यएशिया होता तो उस पर मंगोल जाति का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य रहता, जो कि बिलकुल नहीं है।

(३) प्राचीन आर्यों को मधु का ज्ञान था। मध्यएशिया में मधुमक्खियाँ ही नहीं होतीं, तब मधु की बात ही कहां?

(४) यदि आर्य लोग मध्य एशिया के रहने वाले होते तो वे पूर्व में चीन की ओर फैलते न कि पश्चिम में आक्सस नदी के ऊपर में।

(५) यूरोप को ही आर्यों का आदिम निवासस्थान मानना अधिक युक्तिसंगत है, क्योंकि वहां के सब देशों में आर्यभाषाएं ही हैं व एशिया के केवल एक ही देश भारत में आर्यभाषा हैं।

कॉकेकस पर्वत का प्रदेश (एशिया मायनर की उच्चसम भूमि)—मेयर ने आर्यों के आदिम निवासस्थान का पता लगाने का एक अनोखा साधन ढूँढ़ निकाला है। उसने एक विचित्र रथ की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है जो प्राचीन मिश्र के अट्ठारहवें राजघराने की एक कबर में पाया गया था[१]। उस रथ को आर्यों का बताया जाता है व जो अब फ्लॉरेन्स में है। वह रथ विदेशी ढङ्ग का मालूम होता है व उसके अक्ष में भूर्ज की छाल बँधी हुई है। मेयर के मतानुसार भूर्ज वृक्ष मिश्र से कॉकेशस पर्वत के अतिरिक्त और कहीं अधिक निकट नहीं पाया जाता। अतएव आर्य लोगों का आदिम निवास स्थान कॉकेशस का कोई प्रदेश होगा, जहां से वे लोग बेबिलोनिया आदि देशों में फैले व उन्होंने अपनी रथरूपी विशिष्टता का प्रचार किया[२]।

प्रो० सेइस के मतानुसार एशिया मायनर में 'शतम्' व 'कैन्टम' समुदाय की भाषाओं का पाया जाना भी विचारणीय है। साथ ही मानवशास्त्र (Anthropology) के विद्वान् इसी प्रदेश को छोटे सिरवाली अल्पाइन जाति का मूल निवास स्थान मानते हैं[३]।

[१] चाइल्ड—"दी आर्यन्स" पृ० २६

[२] वही, पृ० २६—२७

[३] वही, पृ० १९२—९३, २०४

हथियार आदि आज भी यूरोप के संग्रहालयों में रखे हुए हैं[1]।

इस प्रकार यह सिद्धान्त गलत माना जाने लगा कि यूरोप में बसने वाली जातियाँ एशिया से आकर बसी थीं। जब कि यूरोप के निवासी आर्य सिद्ध हो ही चुके हैं, तब वे मूलतः यूरोप के ही रहने-वाले होने चाहिये।

मानव-शास्त्र, भूगर्भशास्त्र आदि की खोजों के सामने भाषा-शास्त्रियों को भी सिर झुकाना पड़ा। उन्होंने 'लिंगुइस्टिक पेलिऑन्टोलॉजी'' (Linguistic Paleontology) के सहारे आर्यों की मूलभाषा का स्वरूप तय किया तथा यूरोप में ही आर्यों के आदिम निवासस्थान को निश्चित किया।

ऑस्ट्रिया हंगेरी का प्रदेश

श्री गाइल्स ने तुलनात्मक भाषाशास्त्र की सहायता से यह मत स्थिर किया कि आर्यों का आदिम निवासस्थान ऐसे ही देश में हो सकता है, जहां पर भौगोलिक भिन्नता अधिक हो। घोड़ा (जिसका ज्ञान प्राचीन आर्यों को था) खुले मैदान में ही रह सकता है। उसका बच्चा पैदा होते ही माँ के साथ दौड़ने लगता है व उसके पीछे पीछे जाता है। इसके विपरीत गाय का बछड़ा (गाय का ज्ञान भी आर्यों को था) पैदा होने पर बहुत ही अशक्त रहता है तथा चलने में व स्पष्टतया देखने में भी असमर्थ रहता है। इसलिये उसकी माँ उसे किसी झाड़ी आदि में सुरक्षित स्थान पर रख चरने जायगी। इस प्रकार आर्य लोग ऐसे स्थान के रहनेवाले होंगे, जहां मैदान व जंगल दोनों हों, मवेशियों के चरने की भूमि हो व कृषि के योग्य सब साधन भी हों, क्योंकि भाषासाम्य से यह पता लगता है कि आर्य लोग भेड़, बकरी आदि चराते तथा खेती करते थे। ऐसा स्थान उत्तरी यूरोप में नहीं हो सकता, क्योंकि प्राचीन काल में वहां जंगल ही जंगल थे। यूरोप में ऐसा स्थान, जहां खेती, चराने आदि की सुविधाओं के अतिरिक्त भाषा-साम्य द्वारा ज्ञात पशु, पक्षी, वृक्ष आदि भी हों, केवल एक ही है। उस स्थान के पूर्व में कार्पेथियन पर्वत, दक्षिण में बाल्कन, पश्चिम में ऑस्ट्रियन ऑल्प्स व बोहमर

[1] बा० गं० तिलक—"आर्कटिक होम इन दी वेदाज़", पृ० १५-१६

[2] गाइल्स—"दी आर्यन्स", पृ० ७८, ७९

चॉल्ड तथा उत्तर में पर्ज़ियर्ज़ व कार्पेथियन से मिलनेवाले पर्वत हैं। उसका नाम ऑस्ट्रिया-हंगेरी है। वहां से आर्य लोग डेन्यूब नदी के किनारे बेलेशिया होते हुए दूसरे देशों में फैले होंगे[1]।

बहुत से विद्वान् उपरोक्त मत का खण्डन करते हैं। वे कहते हैं कि ऑस्ट्रिया-हंगेरी का प्रदेश आर्यों के समान एक बड़ी जाति के लिये बहुत ही छोटा पड़ेगा। साथ ही डेन्यूबतटवर्ती प्राचीन संस्कृति व आर्य-संस्कृति में कोई भी समानता नहीं मालूम होती। इसलिये वह प्रदेश आर्यों का आदिम निवासस्थान नहीं हो सकता।

उत्तर यूरोप का कोई प्रदेश

श्री क्यूनो, जेवोरॉस्की प्रभृति विद्वानों के मतानुसार आर्यों का आदिम निवासस्थान उत्तर समुद्र से कास्पियन सागर तक फैले हुए विशाल मैदान में कहीं होना चाहिये, क्योंकि तुलनात्मक भाषाशास्त्र आदि द्वारा प्राप्त आदिम निवासस्थान सम्बन्धी सब शर्तें वहां पूरी हो सकती हैं। वहीं ऊँचे कद वाली सुन्दर नॉर्डिक जाति पाई जाती है। आर्यों में भी वे ही विशेषताएं थीं। पेंका, कोसिना आदि विद्वान् स्केन्डिनेव्हिया (नार्वे व स्वीडन) को आर्यों का आदिम निवासस्थान मानते हैं[2]।

जर्मनी

कुछ विद्वान् जर्मनी को आर्यों का आदिम निवासस्थान मानते हैं[3], क्योंकि ऐतिहासिक काल में वहीं से गॉल्स आदि जातियाँ यूरोप के विभिन्न भागों में फैलीं। टेसिटस[4] के मतानुसार वे सब जातियाँ आर्य थीं। इस मत के खण्डन में कहा जाता है कि जर्मनी में अभी भी घने जंगल हैं। प्राचीन काल में उस प्रदेश का अधिकांश भाग घने जंगलों से ढका हुआ था।

पोलेन्ड व यूक्रेन का प्रदेश

कोई कोई विद्वान् पोलेन्ड व यूक्रेन के प्रदेश को आर्यों का आदिम

---

[1] "कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया", जि० १, पृ० ६६–६९

[2] चाइल्ड – "दी आर्यन्स", पृ० १३८–१५८

[3] वही, पृ० १३८–१५८

[4] "कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया", जि० १, पृ० ६६, ४९१

निवासस्थान मानते हैं¹, क्योंकि वह प्रदेश 'केन्टम' व 'शतं' समुदाय की भाषाओं को विभाजित करने वाली रेखा पर स्थित है। वहांपर खेती करने, चराने आदि का सुभीता है, तथा भूर्ज आदि वृक्ष भी होते हैं।

रूसी 'स्टीपीज़'

रूस के दक्षिणी मैदान (जो घास से हरे भरे रहते हैं) को कतिपय ऐतिहासिक आर्यों का आदिम निवासस्थान मानते हैं²। वहा खेती हो सकती है तथा घोड़े के चरने के लिये भी पर्याप्त भूमि है। प्राचीनकालीन मिट्टी के बर्तन हथियारों आदि के सहारे नॉर्डिक जाति को दक्षिण रूस की रहनेवालीसिद्ध किया जा सकता है। उस स्थान में पाये गये 'पोस्ट ग्लेशियल'-युग के लोगों के अवशेषों से प्राचीन आर्यों की संस्कृति के समान संस्कृति का पता लगता है। यह मत भी सर्वमान्य न हो सका।

पोलेन्ड व कास्पियन सागर का मध्यवर्ती कोई प्रदेश

कुछ इतिहासकारों का मत³ है कि पोलेन्ड व कास्पियन सागर के मध्य कहीं आर्यों का आदिम निवासस्थान रहा होगा, क्योंकि प्राचीनकाल में सब यूरोपनिवासी हंगेरी के पूर्व में इकट्ठे रहते थे। वह स्थान जलवायु की दृष्टि से भी उपयुक्त प्रतीत होता है। यूराल पर्वत म ताम्बा बहुत होता है, प्राचीन आर्यों को तांबे का ज्ञान था। वह स्थान कास्पियन सागर से भी काफी दूर होगा, इसीलिये आर्यों को नमक का पता नहीं था। बहुत से चौपाये भी, जिनका ज्ञान प्राचीन आर्यों को था, उस प्रदेश में पाये जाते हैं।

भ्रमपूर्ण विचारसरणी

आर्यों के आदिम निवासस्थान के सम्बन्ध में इतना मतभेद रहना ही यह सिद्ध करता है कि इतिहास के विद्वान् अभी सत्य से कोसों दूर हैं। यदि विवेचनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो यह स्पष्ट होगा कि जिस भूमिका पर इन सिद्धान्तों के बड़े बड़े भवन खड़े किये गये हैं, वह नितान्त कच्ची व भ्रमपूर्ण है। प्राचीन व

¹ चाइल्ड — 'दी आयन्स'', पृ० १३८–१५८

² वही, पृ० १८३–२०६

³ 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया', जि० १, पृ० ६९

अर्वाचीन भाषाओं के कुछ सर्वसाधारण शब्दों को एकत्रित कर उनकी सहायता से उन भाषाओं की जन्मदात्री किसी प्राचीन मूल-भाषा का स्वरूप निश्चित करना निरा काल्पनिक ही होगा व सत्य से कोसों दूर रहेगा। आर्यों के सम्बन्ध में यही किया जा रहा है। भाषा-साम्य की सहायता से मूलभाषा व उससे उसको बोलनेवाली एक जाति की कल्पना तथा उसके सांस्कृतिक जीवन का चित्र खींचना हास्यास्पद ही होगा। भाषा की समानता का जाति की समानता तथा संस्कृति की समानता से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रह सकता[1]। भिन्न भिन्न जाति व संस्कृति के लोगों के बीच भी भाषा-साम्य पाया जा सकता है। यदि कुछ निग्रो, रेड इन्डियन, चीनी आदि भारत में आकर एक साथ बस जायँ, तो कुछ वर्षों बाद ही एक की भाषा पर दूसरे की भाषा का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहेगा। दो सौ वर्षों बाद यह प्रभाव बिलकुल स्पष्ट हो जायगा। इस पर यदि कोई इतिहास का विद्वान् यह कहने लगे कि उन निग्रो, रेड इन्डियन्स, चीनी आदि के पूर्वज एक ही जाति व संस्कृति के थे, क्योंकि उनकी भाषाओं में बहुत समानता है तथा वह जाति भारत की ही रहने वाली होगी, क्योंकि उसकी भाषा व संस्कृति पर भारतीयता की जबरदस्त छाप है, तो यह कथन नितान्त असत्य होगा। सान्निध्य के कारण एक भाषा का दूसरी भाषा पर, एक संस्कृति का दूसरी संस्कृति पर असर पड़ता है। आज भी अंग्रेज़ी भाषा के कितने ही शब्द भारतीय भाषाओं ने अपनाये हैं; इतना ही नहीं, अंग्रेज़ी रीतिरिवाज़ों ने भी भारतीयों के जीवन में प्रवेश कर लिया है। इस पर से पांच सौ वर्षों के पश्चात् यह तो नहीं कहा जा सकता कि बीसवीं शताब्दि के भारतीय अंग्रेज़ जाति के व अंग्रेज़ी संस्कृति के थे।

यूरोप को आर्यों का आदिम निवासस्थान माननेवाले ऐतिहासिक महान् भ्रम में पड़े हैं। उन्हें अपने पक्ष की पुष्टि के लिये ऐसी दलीलें देनी पड़ती हैं, जो सचमुच में हास्यास्पद ही हैं। उनमें से एक दलील इस प्रकार है। आर्यभाषा-परिवार की अधिकांश भाषाएँ यूरोप में ही पाई जाती हैं, एशिया में केवल दो ही मिलती हैं[2]। यदि

[1] "कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया", जि० १, पृ० ६४, ६६

[2] चाइल्ड – 'दी आर्यन्स', पृ० ९५

इस प्रकार भाषा की बहुसंख्या द्वारा ही आर्यों का आदिम निवासस्थान तय करना है, तब तो एशिया को बहुमत प्राप्त कराने के लिये भारत की प्रादेशिक भाषाओं (हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगाली आदि) को भी उस परिवार में सम्मिलित कर लेना चाहिये,[1] क्योंकि भारत भी तो रूस के बिना यूरोप के बराबर विशाल है। किन्तु यह तथ्य की खोज का मार्ग नहीं है। इस सम्बन्ध में यह बात भी विचारणीय है कि जिन जिन देशों को आर्यों का आदिम निवासस्थान बताया जाता है, उनमें से एक में भी आज आर्यत्व का कोई भी चिह्न नहीं पाया जाता सिवाय इसके कि वहां के लोग जो भाषाएं बोलते हैं, उनमें कुछ शब्द प्राचीन आर्यभाषा से प्रभावित हैं।

खेद का विषय है कि किसी विद्वान् ने आर्यों की समस्या सुलझाते समय यह सोचने का कष्ट नहीं उठाया कि 'आर्य' शब्द कभी भी जातिवाचक नहीं रहा, वह तो पूर्णतया संस्कृतिविशेष का द्योतक है, जैसा कि "कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्"[2] "आर्य्या व्रता विसृजन्तो अभि क्षमि"[3] आदि ऋग्वेद के वचनों से स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार 'आर्य' शब्द के सच्चे अर्थ को समझ लेने से कितना ही मतभेद दूर हो सकता है। प्रथम, भाषाशास्त्रियों ने 'आर्य' शब्द को भाषासूचक माना पश्चात् मानव शास्त्र, प्रागैतिहासिक पुरातत्त्व आदि से प्रभावित होकर विद्वान 'आर्य' शब्द को जातिसूचक मानने लगे और आर्यों के सम्बन्ध में एक कल्पना भवन खड़ा किया गया।

(*भारत आर्यों का आदिम निवासस्थान क्यों नहीं ?*

सचमुच में यह समझना कठिन है कि भारतवर्ष को ही आर्यों का आदिम निवासस्थान क्यों नहीं माना जाता ? भारत के आदिम निवासस्थान न होने के बारे में जो दलीलें दी जाती हैं वे बिलकुल ही निर्जीव हैं। भाषासाम्य की सहायता से जिन जिन पशु, पक्षी, वृक्ष आदि का आर्यों के आदिम निवासस्थान में पाया जाना आवश्यकीय समझा गया है, उनमें से लगभग सब भारत में पाये जाते हैं। बैल, गाय, भेड़, घोड़ा, कुत्ता, सूअर,

---

[1] टेलर—'ओरिजिन ऑफ दी आर्यन्स', पृ० २

[2] ऋग्वेद ९।६३।५, "विश्व (या सब) को 'आर्य' बनाते हुए"।

[3] वही १०।६५।११, "आर्य व्रतों को पृथ्वी पर फैलाते हुए"

हरिण आदि भारत के लिये नये नहीं हैं। भूर्जवृक्ष भी हिमालय प्रदेश में पाये जाते हैं। नैसर्गिक दृष्टि से भारत से अधिक भाग्यशाली और कोई दूसरा देश भूमण्डल पर नहीं है। यूरोप में आर्यों का आदिम निवासस्थान सिद्ध करते समय अक्सर यह दलील भी दी जाती है कि वहां खेती करने व घोड़ों को चरने के लिये उपयुक्त भूमि है[1]। किन्तु भारत में भी ऐसी भूमि पाई जाती है। यह कितने आश्चर्य की बात है कि इतना सब रहते हुए भी भारतवर्ष को आर्य्यों के आदिम निवासस्थान कहलाने का गौरव नहीं दिया जाता।

भारत के आदिम निवासस्थान होने के पक्ष में सबसे जबरदस्त दलील तो यह है कि 'आर्य' नाम 'आर्य' जाति व 'आर्य संस्कृति' का ज्ञान दुनियाँ को सर्वप्रथम भारत से ही हुआ है, न कि और किसी देश से। भारत के ही प्राचीन साहित्य की भाषा के अध्ययन ने उन्नीसवीं शताब्दि में पाश्चात्य विद्वानों की आंखें खोलीं व उन्हें पाश्चात्य भाषा व संस्कृति पर आर्यत्व की छाप का भास कराया। उन विद्वानों ने तुलनात्मक भाषाशास्त्र को जन्म दिया। भारत के ऋग्वेद को पढ़कर ही पाश्चात्य विद्वान् आर्यों के स्वरूप व संस्कृति को समझ पाये। प्राचीन बेबिलोनिया, मिश्र आदि देशों के प्राचीन लेखों में उल्लिखित इन्द्र, वरुण, अग्नि, नासत्य आदि देवताओं तथा अर्ततम, दुसरत्त, सुवरदत्त आदि राजाओं के नामों के आर्यत्व को भी विद्वानों ने भारत की सहायता से पहिचाना व समझा। प्राचीन काल में यदि किसी देश ने अपने को "आर्यों का निवास स्थान" कहा हो तो वह भी भारत का "आर्यावर्त" ही है, जिसका स्पष्ट उल्लेख मनुस्मृति[2] में आया है। यूरोप में या और कहीं (ईरान के अतिरिक्त) ऐसा कोई भी देश नहीं है जो 'आर्य' नामसे सम्बन्धित हो।

सारांश में, यह कहना पर्य्याप्त होगा कि ऐतिहासिक जगत् आज जो कुछ भी आर्यों के सम्बन्ध में जानता है, वह सब प्राचीन भारतीय साहित्य के ही कारण है। प्राचीन काल से आज तक आर्यत्व, आर्य संस्कृति आदि को जिस प्रकार निसर्ग की लाड़िली भारतभूमि ने

---

[1] "कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया", जि० १, पृ० ६८-६९

[2] २।१७-२२

अपनाया है, वैसा किसी अन्य देश ने नहीं अपनाया। इसलिये आर्यों का आदिम निवासस्थान भारत के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं हो सकता। ऋग्वेद व संस्कृत भाषा की सहायता से जिन सुसभ्य व सुसंस्कृत आर्य लोगों के बारे में इतिहासकार विचार करते हैं, वे तो भारत के ही थे, कहीं बाहिर से नहीं आये, क्योंकि उनके प्राचीन साहित्य में उनके बाहिर से आने का यत्किञ्चित् भी उल्लेख नहीं है और न कोई ऐसी ऐतिहासिक खोज ही की गई है, जो इस सम्बन्ध में प्रमाणभूत हो सके। ऋग्वेद[1] में सप्तसिन्धु को 'देवकृतयोनि' कहा गया है। इस सम्बन्ध मे श्री म्यूर[2] का कथन उल्लेखनीय है—"मुझे तो भी स्पष्ट स्वीकारोक्ति के साथ लिखना चाहिये कि जहां तक मुझे पता है किसी भी संस्कृत ग्रन्थ में, प्राचीनतम ग्रन्थ में भी, आर्यों की वैदेशिक उत्पत्ति का कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं है।" ऋग्वेद[3] मे तो स्पष्ट उल्लेख है कि तत्कालीन आर्य व उनके पूर्वज भारत के ही निवासी थे, वे कहीं बाहिर से नहीं आये थे।

कम से कम इतना तो निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि जिन आर्यों का व जिनकी संस्कृति के महत्त्व का विवेचन इतिहासकार करते हैं व जिस आर्यसंस्कृति ने प्राचीन एशिया, यूरोप आदि की संस्कृतियों को प्रभावित किया था, वे आर्य व वह आर्य-संस्कृति भारतवर्ष में ही पैदा हुए, फले फूले तथा यहीं से अन्य देशों में उन्होंने अपना सांस्कृतिक सौरभ फैलाया। यदि कोई बाहिर से आये हों तो उन सभ्य आर्यों के असभ्य पूर्वज कहीं से आये होंगे। किन्तु ये सब बातें इतिहास के क्षेत्र के बाहिर की हैं। इस सम्बन्ध में आज निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इसका सम्बन्ध मानव-जाति की उत्पत्ति से है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आर्य संस्कृति व सुसंस्कृत आर्य लोगों को भारत ने ही जन्म दिया है।)

---

[1] १।३३।४ "अनु योनिं देवकृत चरन्ती।"

[2] "ओरिजिनल सस्कृत टैक्स्ट्स" पृ० ३२२

[3] १।३२।१२, १।८४।१४, ३।३९।२, ३।४८।२, ६।६१।७, ७।९८।२, १०।७५।१

२

सिन्धु घाटी की प्राचीन संस्कृति व आर्य लोग

सिन्धु-संस्कृति

ई० सं० १९२२ में सिन्धु घाटी के हरप्पा, मोहेन्जोदारो, छन्होंदारो, बलोचिस्तान, खलात, नाल आदि स्थानों में पुरातत्त्व विभाग द्वारा खुदाई किये जाने पर लगभग ई० पू० ३००० वर्ष पुरानी एक संस्कृति के भग्नावशेष प्राप्त हुए। इसके पश्चात् जब अन्य स्थानों में भी खुदाई की गई तब उत्तर प्रदेश के बिजनौर व बनारस जिलों में, गुजरात के अहमदाबाद जिले में तथा नर्मदा व ताप्ती की घाटियों में उपरोक्त संस्कृति के अवशेष पाये गये। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि उपरोक्त संस्कृति का बहुत बड़ा विस्तार था।

पंजाब के मांटगोमरी जिले के हरप्पा व सिन्ध के मोहेन्जोदारो में एक प्राचीन नगर के खण्डहर व बहुतसी अन्य वस्तुएँ पाई गई, जिनके सहारे इतिहासकारों ने यह निष्कर्ष निकाला कि आज से लगभग पांच हजार वर्षों पूर्व उन स्थानों पर नगर वर्तमान थे, जहाँ के मकान पकाई हुई बड़ी-बड़ी मजबूत ईंटों के बने थे, सड़कें बहुत ही अच्छे ढङ्ग पर परस्पर समानान्तर रूप में बनाई गई थीं। वहां पर कुएँ व स्नानागार भी थे। प्रत्येक घर में नालियों की व्यवस्था थी, जो कि घर के बाहिर गलियों व सड़कों तक बनी हुई थीं, नगर के बाहिर नहीं ले जाई गई थीं। वहां बहुत से बड़े-बड़े मकान थे तथा सर्वसाधारण लोगों के नहाने के लिये बड़े-बड़े स्नानागार थे।

उपरोक्त नगर के निवासियों के रहन-सहन के बारे में भी बहुत कुछ पता लगा है। वे लोग गेहूँ व बाजरा बोते थे तथा मवेशी, भेड़ सूअर आदि पालते थे, तथा मुर्गी आदि भी रखते थे। वे सिन्धु नदी की मछलियों को भी भोजन के काम में वे लाते थे। भैंस, ऊँट, हाथी व कई प्रकार के मृगों के अस्थिपञ्जर मोहन्जोदारो से प्राप्त हुए हैं। व्याघ्र, घोड़ा, बंदर आदि तत्कालीन मुद्राओं पर खुदे हुए हैं। कुत्ते व घोड़े के अस्तित्व के भी कुछ-कुछ चिह्न मिले हैं। सोना, चांदी, तांबा, सीसा, नाना प्रकार के रत्न, हाथी-दांत आदि का पता भी यहां के लोगों को था। भाला, फरसा, कटार, धनुष आदि

का भी ज्ञान उन्हें था। वहाँ बच्चों के मिट्टी के खिलौने भी पाये गये हैं।

उन स्थानों में बहुतसी मुद्राएं भी पाई गई हैं, जिन में चित्रलिपि में कुछ लिखा हुआ है।[1] कुछ ऐतिहासिकों का मत है कि उन मुद्राओं की लिपि सुमेर की प्राचीन लिपि से मिलती है।[2] किन्तु उन लेखों को अभी तक कोई पढ़ नहीं सका है।

सिन्धु घाटी के लोगों के धर्म के बारे में भी बहुत कुछ मालूम होता है। खण्डहरों में से बहुत सी मूर्त्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं, जिससे ज्ञात होता है कि मूर्तिपूजा का प्राबल्य था। पृथ्वी की मूर्तियाँ बहुतायत से पाई गई हैं।[3] इससे मालूम होता है कि पृथ्वी को मुख्य देवता माना जाता था। दो सींगवाले किसी देव की एक मूर्ति पाई गई है, जो कि कुछ विद्वानों के मतानुसार शिव की मूर्ति है।[4] वृक्ष व पशु भी पूजे जाते थे। मृतकों को गाड़ दिया जाता था, अथवा जला दिया जाता था।

पाश्चात्य विद्वान् उन खण्डहरों में प्राप्त वस्तुओं के सहारे यह कहते हैं कि प्राचीन काल में कोई विदेशी संस्कृति सिन्धु नदी के किनारे फैली थी, जिसका भारतीय संस्कृति से कोई भी सम्बन्ध नहीं था। वह संस्कृति बेबिलोनिया, सुमेर आदि की प्राचीन संस्कृति से मिलती जुलती थी, क्योंकि उनके मध्य बहुतसी समानता पाई जाती है, जो कि इस प्रकार है—(१) चित्रलिपि की समानता, मुद्राओं की समानता तथा मिट्टी के बर्तन व उन पर खुदी हुई चित्रकला की समानता।[5] इस समानता के आधार पर ऐतिहासिकों ने यह तय कर लिया कि सिन्धु घाटी की संस्कृति प्राचीन बेबिलोनिया से यहाँ आई, अतएव वहां की संस्कृति के समान ई० पू० ३००० वर्ष पहिले की होनी चाहिये।

---

[1] सर जॉन मार्शल—"मोहेन्जोदारो एण्ड दी इन्डज सिविलिजेशन" अ० १६

[2] मेके—"फर्दर एक्सवेव्हेशन्स ऐट मोहेन्जोदारो", अ० ११

[3] "भारतीय अनुशीलन", विभाग १, पृ० ६५ ६६

[4] मार्शल—"मोहेन्जोदारो एंड दी इंडज सिविलिजेशन", अ० १, पृ० ५४

[5] डॉ० हॉल—"एन्शन्ट हिस्ट्री ऑफ दी फार ईस्ट" (१९१७) पृ० १७३, १७४।

पाश्चात्य विद्वानों ने सिन्धुघाटी की संस्कृति को प्राचीन भारतीय संस्कृति से बिलकुल पृथक् सिद्ध करने के बहुत से प्रयत्न किये हैं। श्री कीथ नीचे लिखे मुद्दोंके आधार पर यह प्रमाणित करने का प्रयत्न करते हैं कि इस संस्कृति से भारत के आर्यों का कोई सम्बन्ध नहीं था[1]।

(१) इतिहास व संस्कृत साहित्य का कोई भी विद्वान् यह मानने को तैयार न होगा कि ई० पू० ३००० वर्ष के लगभग आर्य लोग भारत में पहुँच गये थे। ई० पू० २००० वर्ष तक भी आर्य लोग भारत में नहीं पहुँचे थे। इसलिये सिन्धु संस्कृति से उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं रह सकता।

(२) ऋग्वेद में नगर के जीवन का उल्लेख नहीं आता, किन्तु सिन्धुघाटी की संस्कृति में नगरों का बाहुल्य है।

(३) ऋग्वेद मे चांदी का उल्लेख नहीं आता, किन्तु सिन्धु घाटी की संस्कृति में सोने की अपेक्षा चांदी का उपयोग अधिक होता था।

(४) ऋग्वेद में शिरस्त्राण व कवच का उल्लेख है, किन्तु हथियार के रूप में गदा कहीं उल्लिखित नहीं है। इसके विपरीत सिन्धुघाटी की संस्कृति में गदा का पता लगता है, किन्तु शिरस्त्राण व कवच का कोई पता नहीं।

(५) ऋग्वेदकालीन आर्य लोग मछली नहीं खाते थे, किन्तु सिन्धु घाटी की संस्कृति के लोग मछली बहुत खाते थे।

(६) मोहन्जोदारो में घोड़ा नहीं पाया जाता, किन्तु ऋग्वेद में घोड़े का आधिक्य है।

(७) ऋग्वेद म बैल की अपेक्षा गाय का अधिक सत्कार किया गया है, किन्तु सिन्धु घाटी की संस्कृति के लोगों के लिये गाय का इतना महत्त्व नहीं था।

(८) ऋग्वेद में मूर्तिपूजा का कोई उल्लेख नहीं आता, किन्तु सिन्धु घाटी की संस्कृति में मूर्तिपूजा धर्म का मुख्य अङ्ग थी। पशुपति योगिराज के रूप में शिव की पूजा की जाती थी, जो ऋग्वेद काल में ज्ञात नहीं थी।

कीथ के मत का परीक्षण

---

[1] "भारतीय अनुशीलन,' वि० १ पृ० ६

इन आठ युक्तियों के सहारे कीथ महाशय यह सिद्ध करना चाहते हैं कि सिन्धु-घाटी की संस्कृति से आर्यों का कोई भी सम्बन्ध नहीं था। किन्तु ये दलीलें पूर्णतया निर्जीव हैं। आश्चर्य होता है कि कीथ के समान बड़ा विद्वान् ऐसी निरर्थक दलीलों का सहारा क्यों लेता है? आर्य लोग ई० पू० ३००० वर्ष पूर्व भारत में नहीं थे, यह तो निश्चित रूप से कोई भी नहीं कह सकता। अभी तो ऋग्वेद के काल का निश्चय नहीं हो सका है। यदि ऋग्वेद में नगरों का उल्लेख नहीं है तो यह नहीं कहा जा सकता है कि उस काल में नगर थे ही नहीं। ऋग्वेद इतिहास का ग्रन्थ तो है नहीं कि उसमें सब बातों का उल्लेख होना ही चाहिये। वह तो एक धार्मिक ग्रन्थ है; उसमें उन ऋषियों के मन्त्रों को संगृहित किया गया है, जो जंगलों में आश्रम बनाकर रहते थे। इसलिये, ऋग्वेद में बड़े बड़े नगरों का कोई प्रत्यक्ष उल्लेख न मिलना स्वाभाविक ही है। किन्तु परोक्षरूप से पता अवश्य लगता है कि उस समय बड़े बड़े नगर भी थे। ऋग्वेद में सभा व समिति का उल्लेख कितने ही स्थलों पर आता है। समिति वेदकालीन 'पार्लियामेन्ट' थी व कुछ ऐतिहासिकों के मतानुसार जिस विशाल भवन में समिति की बैठक होती थी, वह 'सभा' कहलाता था।[1] उस सभा मे नगरनिवासी अन्य कार्यों के लिये भी एकत्रित होते थे।[2] यह वर्णन जिस रूप में किया गया है, उससे मालूम होता है कि वहां का वातावरण एक नगर का ही वातावरण हो सकता है।

इसी प्रकार सिन्धु-घाटी की संस्कृति में देहाती जीवन का उल्लेख इसलिये नहीं है कि संयोगवशात् किसी प्राचीन नगर के ही खण्डहर खोदे गये। नगर में पाई गई चीजें नगर के जीवन का ही पता देंगी; उनसे देहातों का कोई भी पता नहीं लग सकता। फिर भी गेहूँ, बाजरा आदि का पाया जाना स्पष्टतया बताता है कि उस समय में देहात भी अवश्य रहे होंगे।

गाय व बैल का कम या अधिक महत्त्व, सोने व चांदी का कम या अधिक उपयोग, शिरस्त्राण, कवच, गदा आदि का पाया जाना या न पाया जाना, मछली खाना या न खाना आदि के सहारे

---

[1] "कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया", जि० १, पृ० ९६

[2] वही, पृ० ९६

सांस्कृतिक भिन्नता सिद्ध नहीं की जा सकती। एक ही संस्कृति को माननेवाले समाज में ये सब भेद एक ही समय पाये जाते हैं। एक ही माता-पिता से उत्पन्न चार भाइयों में भी, जिनके परिवार अलग अलग रहते हैं, ये सब भेद पाये जा सकते हैं।

हरप्पा निवासी व आर्य

सिन्धु घाटी की संस्कृति के विस्तारको समझाने के लिए हाल ही में पुरातत्त्व-विभाग द्वारा जो खुदाई की गई व उसके परिणाम-स्वरूप जो ऐतिहासिक सामग्री प्रकाश में आई, उसके द्वारा इतिहासकार आर्यों के इतिहास की गुत्थियों को भी सुलझाने का प्रयत्न करते हैं। व्हीलर, वूल्से व अन्य पुरातत्त्ववेत्ता भारत में आर्यों का आगमन लगभग ई० पू० १५०० में रखते हैं, क्योंकि उनके मतानुसार हरप्पा संस्कृति ई० पू० १५०० के लगभग आर्यों के आक्रमण के कारण विनष्ट हुई। हरप्पा में मुर्दों के गाड़ने के स्थल पर खुदाई के परिणामस्वरूप जो तीन सतह प्रकाश में आई हैं उनमें जो सर्वोपरि है उसे वेदकालीन आर्यों से सम्बन्धित किया जाता है। उसके ठीक नीचे की सतह को हरप्पा-संस्कृति से सम्बन्धित किया जाता है।[1]

डॉ० अल्टेकर[2] उपरोक्त मतका खण्डन करते हुए यह प्रतिपादित करते हैं कि इस कथन के लिये पुरातत्त्व का प्रमाण नहीं के बराबर है कि आर्यों ने हरप्पा-संस्कृति को पूर्णतया नष्ट किया। मोहेन्जोदारो में जो लगभग दो दर्जन लाशें मकानों में मिली हैं, उनसे सम्पूर्ण संस्कृति के विनष्ट होने का निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। इसके अतिरिक्त हरप्पा के मुर्दे गाड़ने के स्थान पर जिस सतह को वैदिक संस्कृति से सम्बन्धित किया जाता है उसमें वैदिक संस्कृति का कोई भी चिह्न नहीं है। ऋग्वेद में मुर्दों को जलाने का उल्लेख है, गाड़ने का उल्लेख तो एक पुरातन प्रथा के रूप में किया गया है। यह कथन कि आर्यों ने ई० पू० १५०० के लगभग हरप्पा-संस्कृति को प्रनष्ट किया केवल काल्पनिक है।

---

[1] इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, २२ वा अधिवेशन, अध्यक्षीय भाषण, पृ० ७, ३

[2] वही, पृ० २-४

डॉ० अल्टेकर[1] के मतानुसार आर्य लोग ई० पू० २००० के लगभग भारत में आये, जब कि हरप्पा-संस्कृति अस्तित्व में थी। हरप्पा-संस्कृति के चिह्न अभी तक उत्तर अफगानिस्तान या पश्चिम या मध्य पञ्जाब में नहीं पाये गये हैं; वे चिह्न अम्बाला जिले के रूपर व मेरठ जिले के आलमगीरपुर में पाये गये हैं। पश्चिम भारत में सौराष्ट्र, गुजरात आदि हरप्पा संस्कृति के केन्द्र थे, जिसका विस्तार राजस्थान व मध्यभारत तक हुआ था। इस पर से डॉ० अल्टेकर ने यह निष्कर्ष निकाला है कि आर्य लोग उत्तर अफगानिस्तान, पञ्जाब आदि में बस गये थे जब कि हरप्पा-संस्कृति के लोग उसके दक्षिण में पश्चिम भारत में बसे थे। दोनों में परस्पर युद्ध भी होते थे व सांस्कृतिक आदान-प्रदान भी होता था। डॉ० अल्टेकर ने ऋग्वेद में उल्लिखित पणियों से हरप्पा संस्कृति के लोगों को संबंधित किया है। यह मत कहां तक सर्वग्राह्य हो सकता है, यह कहना कठिन है।

सिन्धु-घाटी संस्कृति की मुद्राएँ व ऋग्वेद

इन्डियन हिस्ट्री कांग्रेस के उन्नीसवें अधिवेशन में प्राचीन विभाग के अपने अध्यक्षीय भाषण में श्री रामचन्द्रन ने सिन्धुघाटी की संस्कृति व ऋग्वेद के सम्बन्ध पर नया प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। उनके मतानुसार मोहेन्जोदारो व हरप्पा की मुद्राओं पर भारतीय बैल (वृषभ), हाथी, भैंस, व्याघ्र, मृग आदि अङ्कित हैं। उन मुद्राओं को ऋग्वेद के मंत्रों से सम्बन्धित किया जा सकता है। ऋग्वेद में वर्णित धर्मविजय की घोषणा करने वाले वृषभ की कल्पना मोहेन्जोदारो की मुद्राओं में पाई जाती है।[2] एक बलिष्ठ वृषभ सर्वकाल में महादेव के प्रादुर्भाव की घोषणा करता हुआ गर्जन करता है, यह भाव सिन्धु-घाटी की अन्य मुद्राओं पर भी अङ्कित है। उन मुद्राओं पर अङ्कित बैल के तीन सिर हैं, एक सिर पीछे की ओर देखता है, दूसरा सिर जो कि मध्य में है नीचे की ओर देखता है और तीसरा सिर सामने देखता है। पीछे देखनेवाला सिर सूचित करता है कि वृषभ गर्जन कर चुका है व इससे भूतकाल का बोध

---

[1] वही, पृ० ६–१०

[2] "इन्डियन हिस्ट्री कांग्रेस–प्रोसिडिंग्ज ऑफ दी नाइन्टीन्थ सेशन" पृ० ६०

होता है। नीचे देखनेवाले सिर का अर्थ है कि यह गर्जन कर रहा है व इससे वर्तमान काल का बोध होता है। सामने देखनेवाले सिर से ज्ञात होता है कि वृषभ गर्जन करेगा व इससे भविष्य काल का बोध होता है। इस तीन सिरवाले बैल से तीन कालों का बोध होता है। यह बैल ऊपर की ओर नहीं देखता, इससे ज्ञात होता है कि उसका सम्बन्ध मृत्युलोक से ही है। सिन्धु-घाटी की एक और मुद्रा है जिस पर एक देवता (जिसे महायोगी के रूप में रुद्र से सम्बन्धित किया जाता है) अङ्कित है जो कि विभिन्न पशुओं (बैल, हाथी, गैंडा, व्याघ्र, मृग आदि) पक्षियों आदि के मध्य पद्मासन लगा कर बैठा हुआ है। इसमें भी पशुपति महादेव से सम्बन्धित ऋग्वेद के मंत्रों का भाव भरा हुआ है। इस देवता के तीन से अधिक सिर हैं और उन सिरों पर बैल के सींग हैं व शरीर पर लकीरें हैं। यह भाव भी ऋग्वेद के एक मंत्र[1] में पाया जाता है, जिसका अर्थ इस प्रकार है—"देवताओं मे ब्रह्मा कवियों का मुखिया, ब्राह्मणों में ऋषि, पशुओं में भैंस, गृध्रों मे श्येन, शस्त्रों में परशु ऐसा सोम गर्जन करता हुआ छलनी पर जाता है।" इस प्रकार, श्री रामचंद्रन के मतानुसार ऋग्वेद कालीन व सिन्धुघाटी की संस्कृति के लोगों का मानस एक सा ही था। ऋग्वेदकालीन कवि व सिन्धु-घाटी के कलाकार ने एक सी ही कल्पना की है व एक सी ही कलाकृति का निर्माण किया है। सिन्धु-घाटी की कला बेबिलोनिया तथा मिश्र की कला के उतनी निकट नहीं है जितनी कि ऋग्वेद-कालीन कला के। दोनों मे अटूट सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है।

उपसंहार

डॉ० अल्टेकर तथा श्री रामचंद्रन के मतों पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करने से स्पष्ट होता है कि सिन्धुघाटी की संस्कृति के यथार्थ स्वरूप को तथा उसके वैदिक आर्यों से सम्बन्ध को अभी तक ठीक से समझा नहीं गया है। पुरातत्त्ववेत्ताओं ने इस सम्बन्ध में जो खोज की है व वे जिस निष्कर्ष पर पहुँचे हे उसे भी सर्व-मान्यता प्राप्त न हो सकी। पुरातत्त्ववेत्ताओं द्वारा प्राचीन साहित्य

---

[1] वही, पृ० ६१ · "ब्रह्मा देवाना पदवी कवीना ऋषिर्विप्राणा महिषो मृगाणाम्। श्येनो गृध्राणा स्वधितिर्वनाना सोम पवित्र अत्येति रेभन्॥"

की अवहेलना व प्राचीन साहित्यिकों द्वारा पुरातत्त्व के प्रमाणों की अवहेलना ही तथ्य को प्रकट होने से रोकती है। दोनों दृष्टिकोणों के मध्य स्थापित सामञ्जस्य द्वारा ही यह ऐतिहासिक समस्या सुलझाई जा सकती है।

३

वेदकाल-निर्णय

वेद

भारत के ही नहीं, किन्तु प्राचीन विश्व के इतिहास में वेदों का स्थान अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है।[1] प्राचीन आर्यों के आदिम निवास-स्थान के सम्बन्ध में भले ही मतभेद हो, किन्तु उनके व उनकी संस्कृति के ऐतिहासिक महत्त्व के बारे में किसी प्रकार कीभी विचार-भिन्नता नहीं हो सकती। यह बात सर्वमान्य ही है कि प्राचीन काल में आर्यों ने विश्व के विभिन्न भागों में फैल कर अपनी संस्कृति का प्रचार किया व वहाँ के लोगों को संस्कृति का पाठ पढ़ाया। एशिया व यूरोप के सांस्कृतिक विकास पर आर्यत्व की छाप स्पष्टतया दिखाई देती है, जिसके चिह्न आज भी वर्तमान हैं। इसी आर्य-संस्कृति के सर्वप्रथम दर्शन हमें वेद में होते हैं। यह कथन अत्युक्ति न होगा कि वेद में आर्यसंस्कृति की आत्मा ओत-प्रोत है। भारतीय संस्कृति सम्पूर्ण प्रेरणा वेद से ही प्राप्त करती है। भारत के धर्म, दर्शन, साहित्य, कला, विद्या आदि की जड़ें वेद में ही पाई जाती हैं।

वैदिक साहित्य को साधारणतया दो भागों में विभाजित किया जाता है, मंत्र व ब्राह्मण। मंत्र-भाग को संहिता भी कहते हैं, जो चार हैं ऋक्, यजु, साम व अथर्व। ये चारों संहितायें (यजुर्वेद के गद्यांश को छोड़कर) पद्य में हैं। ब्राह्मण साहित्य गद्य में है व यज्ञों की विधि तथा तत्सम्बन्धी अन्य बातें उसमें वर्णित हैं। उसमें नाना प्रकार के यज्ञों का उल्लेख है जिनका सम्बन्ध संहिता के मन्त्रों से लगाया गया है। ब्राह्मणों के अन्तिम भाग को आरण्यक कहा जाता है। इस साहित्य को आरण्यक नाम

---

[1] मैक्समूलर—"चिप्स फ्राम ए जर्मन वर्कशाप", जि० १, पृ० ४

इसलिये दिया गया कि इसकी रचना जंगल में आश्रम बनाकर रहनेवाले वानप्रस्थियों द्वारा की गई है। इसमें यज्ञों की प्रतीकात्मक व्याख्या की गई है। आरण्यक का अन्तिम भाग उपनिषद् कहाता है। उपनिषदों में भारत के प्राचीन दार्शनिक सिद्धान्तों के दर्शन होते हैं। उनमें जीव, ब्रह्म, जगत् आदि की गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। उपनिषत्साहित्य को वेदान्त भी कहा जाता है क्योंकि वह वैदिक साहित्य का अन्तिम भाग है। इस प्रकार वैदिक साहित्य का बृहत् विस्तार स्पष्ट हो जाता है। संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि सब साहित्य साधारणतया वेद नाम से जाना जाता है।[1] लौकिक व्यवहार में वेद शब्द से चार संहिताओं का बोध होता है जिनको क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद कहते हैं। प्राचीन ग्रन्थों में वेदत्रयीका उल्लेख भी आता है। ऐतिहासिकोंके मतानुसार पहिले ऋक्, यजु व साम ये तीन ही वेद माने जाते थे। अथर्ववेद का सम्बन्ध जनसाधारण के विश्वासों से होने के कारण उसे वह अधिकार बहुत समय पश्चात् प्राप्त हुआ। प्राचीन जनश्रुति को माननेवाले कहते हैं कि यज्ञ में तीन ही वेदों की आवश्यकता पड़ने के कारण 'वेदत्रयी' नाम प्रसिद्ध हुआ।

वेद-काल

ऊपर जो वैदिक साहित्य का स्वरूप बताया गया है, उसमें ऐतिहासिक दृष्टि से संहिता-भाग प्राचीनतम है, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि बाद में बने हैं। ऐतिहासिकों का मत है कि संहिता-भाग में ऋग्वेद संहिता प्राचीनतम है तथा अन्य संहिताएँ उसके पश्चात् बनी हैं। इसलिये जब वेदकाल निर्णय किया जाता है, तब ऋग्वेद को ही ध्यान में रखकर सब विचार किया जाता है। अतएव वेदकाल-निर्णय से ऋग्वेदकाल-निर्णय का मतलब होता है।

वेदकाल-निर्णय एक जटिल समस्या है। भाषा की कठिनता व प्राचीनता के कारण वैदिक मन्त्रों के सच्चे अर्थ को समझना भी मुश्किल हो गया है। इसलिये इस सम्बन्ध में कोई मत स्थिर करना सरल नहीं है।

मैक्समूलर का मत

वेदकाल-निर्णय के सम्बन्ध में श्री मैक्समूलर का प्रयत्न महत्त्वपूर्ण

[1] विन्टरनीज्—"हिस्ट्री ऑफ इन्डियन लिटरेचर", पृ० ५२-५६

है।[1] उनके मतानुसार प्राचीन उपनिषदों में बौद्ध भूमिका-पाई जाती है। छान्दोग्य व बृहदारण्यक उपनिषदों में अहिंसा के सिद्धान्त पर विशेष जोर दिया गया है तथा यज्ञ को नैतिकता के नये ढांचे में ढालने का प्रयत्न किया गया है। इन सब बातों से ज्ञात होता है कि बौद्ध काल के कुछ पूर्व ही प्राचीन उपनिषद् बने होंगे। गौतम बुद्ध का प्रादुर्भाव-काल ई० पू० छठी शताब्दि का मध्य भाग माना जाता है। इसलिये उसके पूर्व की शताब्दि में उपनिषदों का विकास प्रारम्भ हुआ होगा। ब्राह्मण-ग्रन्थ उपनिषदों के पूर्व के हैं। मैक्समूलर ने ब्राह्मण-ग्रन्थों का समय ई० पू० आठवीं शताब्दि में निश्चित किया है। उससे दो सौ वर्ष पूर्व अर्थात् ई० पू० १००० के लगभग उन्होंने यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद का समय बताया है, व ऋग्वेद के लिये ई० पू० १२०० के करीब का समय निश्चित किया है। मैक्समूलर ने अंदाज़ से वेद, ब्राह्मण व उपनिषद् आदि प्रत्येक के विकास के लिये दो सौ वर्ष मान लिये व बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव के एक शताब्दि पूर्व प्राचीन उपनिषदों का काल मान कर दो-दो सौ वर्ष पहिले ब्राह्मण, संहिता आदि का काल निश्चित करने का प्रयत्न किया। वे स्वतः इस बात को स्वीकार करते हैं कि उनका सिद्धान्त निश्चित काल का द्योतक नहीं है, किन्तु कम से कम उतने वर्ष पुराना तो वह साहित्य होना ही चाहिये। इस प्रकार मैक्समूलर का मत किसी निश्चय पर नहीं ले जा सकता। वैदिक साहित्य के प्रत्येक विभाग के लिये दो सौ वर्ष ही लगे होंगे, यह कहना सरल नहीं है। अधिक सम्भावना तो इस बात की है कि वैदिक साहित्य के विकास के लिये कहीं अधिक समय लगा होगा।

तिलक व जेकोबी का मत

लो० तिलक व श्री जेकोबी[2] ज्योतिषशास्त्र की सहायता से ई० पू० ४५०० वर्ष के लगभग ऋग्वेद का समय निश्चित करते हैं। किन्तु जिन मन्त्रों के आधार पर यह सिद्धान्त बनाया गया है, उनके अर्थ के सम्बन्ध में ही विद्वानों में बड़ा मतभेद है। इसलिये यह सिद्धान्त सर्वमान्य न हो सका।

---

[1] विन्टरनीज़—"हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर", भाग, पृ० २९२–२९४

[2] "इन्डियन एन्टिक्वेरी" (१८८४), पृ० २४५, विन्टरनीज़—"हिस्ट्री ऑफ इन्डियन लिटरेचर", जि० १, पृ० २९४-२९९

विन्टरनीज़ व अन्य विद्वानों का मत

जर्मन विद्वान् विन्टरनीज़[1] भारत के बाहिर पाये गये वैदिक संस्कृति के चिह्नों के आधार पर ऋग्वेद का समय ई० पू० ३००० वर्ष के लगभग सिद्ध करते हैं तथा भारतीय संस्कृति के प्रारम्भ का काल ई० पू० ४००० वर्ष तक निर्धारित करते हैं। प्रो० वूह्लर मैक्स-मूलर के मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि ऋग्वेद ई० पू० १२०० वर्ष के बहुत पहिले का होना चाहिये। किन्तु प्रो० हॉप्किन्स व प्रो० जेम्सन के मतानुसार ऋग्वेद का अधिकांश भाग ई० पू० १०००-६०० वर्ष का होना चाहिये।[2] इन सब सिद्धान्तों के विपरीत श्री अविनाशचंद्र दास भूगर्भशास्त्र के सिद्धान्तों की सहायता से सिद्ध करते हैं कि ऋग्वेद का समय ई० पू० ५०,००० वर्ष के करीब होना चाहिये।[3] किन्तु इस मत को विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया।

डॉ० अल्टेकर का मत

डॉ० अल्टेकर[4] पौराणिक राजवंशावलियों के सहारे भारत-युद्ध का समय ई० पू० ९५०, के लगभग निश्चित कर इक्ष्वाकु तथा पौरव वंश की स्थापना भारत-युद्ध के ७५ पीढ़ी पूर्व मानकर उसका समय ई० पू० २००० या २१०० वर्ष निर्धारित करते हैं। इस प्रकार उन्होंने वैदिक युग का प्रारंभ ई० पू० २००० वर्ष के करीब निर्धारित किया। वायुपुराण में उल्लिखित मन्तव्य (वेदव्यास ने वेदों का संकलन भारत युद्ध से तीन पीढ़ियां पहिले किया।) के आधार पर वैदिक साहित्य को अन्तिम स्वरूप ई० पू० ११०० वर्ष के करीब दिया गया। किन्तु वैदिक मन्त्रों का निर्माण इसके कितने ही पहिले चालू रहा। वेद-मंत्रों के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि नये मंत्रों का सृजन हो रहा था व पुराने मंत्रों में सुधार किया जा रहा था। वैदिक युग के लोग पुराने मंत्रों की अपेक्षा नयों को अधिक पसन्द करते थे। ऋग्वेद[5] में नये व पुराने मंत्रद्रष्टा ऋषियों का उल्लेख

---

[1] वही, पृ० ३००-३१०

[2] वही पृ० ३०७

[3] वही पृ० ३०८, "कलकत्ता-रिव्हयू", मार्च १९२४, पृ० ५४

[4] इन्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, २२ वा अधिवेशन, अध्यक्षीय भाषण, पृ० १२-१४

[5] १।१।२ "पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो"

आता है। यह कहा जा सकता है कि वेदमंत्रों के सृजन-कार्य का प्रारंभ ई० पू० २००० वर्ष के लगभग प्रारंभ हुआ व उनका अन्तिम संकलन वेदव्यास द्वारा ई० पू० ११०० वर्ष के करीब किया गया। इस प्रकार वैदिक युग का समय ई० पू० २००० व ई० पू० ११०० के मध्य निर्धारित किया जा सकता है।

विभिन्न मतों का परीक्षण

वेदकाल-निर्णय से सम्बन्धित विभिन्न मतों पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करने से स्पष्ट होता है कि अभीतक इस बारे में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। साथ ही, इस बात का भी पता चलता है कि पाश्चात्य विद्वान वेद को बहुत प्राचीनकाल तक ले जाने को तैयार नहीं हैं। यदि इस प्रश्न पर निष्पक्षवृत्ति से विचार किया जाय तो इतना अवश्य ही मानना होगा कि ऋग्वेद ई० पू० १७६० के पहिले का होना चाहिये। ई० स० १९०७ में विन्कलर ने मिटान्नी व हिट्टाइट लेखों (ई० पू० १३६०) में इन्द्र, वरुण, मित्र, नासत्य आदि ऋग्वेद के देवताओं का पता लगाकर ऐतिहासिक जगत् को आश्चर्यचकित किया था।[1] इसी प्रकार केसाइट लेखों (ई० पू० १७६०) में राजाओं के नामों के अन्तर्गत वैदिक देवताओं के नामों का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट है कि ई० पू० १७६० तक वैदिक देवताओं के नाम एशिया मायनर व मिश्र तक पहुँच चुके थे। अतः ऋग्वेद इस समय के बहुत पहले का होना चाहिये। किन्तु यथार्थ में वेद का समय निश्चित करना कोई साधारण बात नहीं है।

वेदोत्पत्ति व पुराण

वायुपुराण[2] में लिखा है कि "जो द्विज अङ्ग व उपनिषदों सहित चारों वेदों को जानता है, किन्तु पुराण को नहीं जानता वह विद्वान् नहीं हो सकता। इतिहास व पुराण की सहायता से वेद को समझना चाहिये। अल्पश्रुत से वेद इस भय से भयभीत होता है कि कहीं वह मुझे मार न दे।"

---

[1] विन्टरनीज—"हिस्ट्री ऑफ इन्डियन लिटरेचर" जि० १,पृ० ३०४,३०५

[2] १।२००–२०१: "यो विद्याच्चतुरो वेदान्साङ्गोपनिषदो द्विजः। न चेत्पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः॥ इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति।"

वायुपुराण के इन वचनों में एक ऐतिहासिक रहस्य भरा है, जिसे ऐतिहासिकों ने नहीं समझा है। वेद-काल का निर्णय करते समय कभी भी कोई पुराणों का विचार तक नहीं करता। भारत के प्राचीनतम इतिहास की कितनी ही सामग्री पुराणों में भरी पड़ी है। वेद कब व कैसे बने इन प्रश्नों को पुराणों की सहायता से सरलता-पूर्वक हल किया जा सकता है। वायु, विष्णु आदि पुराणों में जहां राजवंशावलियां वर्णित हैं वहां वेदमंत्रों के द्रष्टा ऋषियों के सम्बन्ध में भी कुछ कुछ ऐतिहासिक सामग्री मिल जाती है[1]। वैदिक संहिताओं व अनुक्रमणिकाओं में मन्त्रद्रष्टा ऋषियों का वर्णन आता है। उनके नाम के साथ उनके पिता के नाम का भी उल्लेख रहता है, जैसे मेधातिथि काण्व, हिरण्यस्तूप आङ्गिरस आदि। ऋग्वेदादि के सूक्तों के पूर्व मंत्रों के ऋषि, देवता, छन्द आदि के नाम दिये रहते हैं। इन मन्त्रद्रष्टा ऋषियों में से कुछ के नाम पुराणों में भी आते हैं व वहां उनके बारे मे जो कुछ कहा गया है, उसकी पुष्टि वैदिक संहिताओं से होती है।

पुराणों[2] में सूर्यवंशी मनु के दस पुत्रों का उल्लेख है, उनमें शार्याति भी एक है। उसके वंशज पश्चिमी भारत में राज करते थे। उन्होंने आनर्त आदि देशों को बसाया। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के एक द्रष्टा ऋषि को 'शार्यातो मानव.' कहा गया है[3], जिसका अर्थ 'मनु का पुत्र शार्यात' होता है। वेद का शार्यात मानव व पुराणों का मनु-पुत्र शार्याति एक ही व्यक्ति प्रतीत होते हैं। मनुपुत्र इक्ष्वाकु के वंश में अठारहवां राजा मान्धाता[4] था, जो कि बड़ा ही प्रतापी था। उसके पिता का नाम पुराणों में युवनाश्व[5] दिया है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के एक सूक्त का द्रष्टा ऋषि 'यौवनाश्व मान्धाता[6]' है, जिस का अर्थ 'युवनाश्व का पुत्र मान्धाता' होता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पुराणों का प्रतापी राजा मान्धाता ऋग्वेद का मन्त्र-

[1] पार्जिटर—"एन्शन्ट इन्डियन हिस्टॉरिकल ट्रेडिशन्स" पृ० १९३–१९४

[2] विष्णु० ४।१।५; मत्स्य० ११।४०, १२।१९, पद्म० ५।८।१२४

[3] ऋग्वेद १०।९२

[4] वायुपुराण ८८।६७–६९, ब्रह्माण्ड पुराण ३।६३।६९–७०

[5] वायुपुराण ८८।८५, हरिवंश १२।७११

[6] ऋग्वेद १०।१२४

द्रष्टा भी था। इस प्रकार सूर्यवंश के दो राजाओं को हम ऋग्वेद के मन्त्रद्रष्टाओं के रुप में पाते हैं।

चन्द्रवंशी राजाओं में भी ऋग्वेद के मन्त्रद्रष्टा थे। इस वंश का जन्मदाता पुरूरवाः ऐल स्वयं ही अपनी पत्नी उर्वशी सहित ऋग्वेद के दसवें मण्डल के कई मन्त्रों का द्रष्टा है[1] जिनमें ऐतिहासिकों के मतानुसार, उन दोनों के प्रेम सम्बन्ध का उल्लेख भी है। कविकुल-गुरु कालिदास ने अपने 'विक्रमोर्वशीयम्' नाटक में इसी प्रेम कहानी को अमर बना दिया है। ऋग्वेद के उक्त सूक्त के ऋषि के नाते पुरूरवाः को 'पुरूरवाः ऐल' कहा गया है अर्थात् 'इला का पुत्र पुरूरवाः'। पुराणों में इला को मनु की पुत्री बताया गया है तथा बुध से उसके सम्बन्ध व पुरूरवाः पुत्र की प्राप्ति आदि का विशद वर्णन[2] है। पुरूरवाः के द्वितीय पुत्र अमावसु के वंश में गाधि नाम का ९ वाँ राजा हुआ है[3]। उसे कौशिक भी कहा गया है। ऋग्वेद के तीसरे मंडल के १९, २०, २१ व २२ वें सूक्त का मन्त्रद्रष्टा 'कुशिक पुत्रो गाथी ऋषिः' अर्थात् 'कुशिक का पुत्र गाथी ऋषि' है। यह गाथी पुराण का गाधि ही प्रतीत होता है, क्योंकि ऋग्वेद का 'कुशिक पुत्र' व पुराणों का 'कौशिक' एक ही अर्थ रखते हैं। पुराणों के अनुसार गाधि का पुत्र विश्वामित्र[4] था, जो कि ऋग्वेद के तीसरे मंडल के १ से १२, २४ से ३७, ३९ से ५३ व ५७ से ६२ सूक्तों का द्रष्टा है। विश्वामित्र के कितने ही पुत्र थे, जिनका उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण में आता है, जहां यह भी बताया गया है कि अजीगर्ति मुनि का पुत्र शुनःशेप किस प्रकार विश्वामित्र का पुत्र बन गया[5]। उसका उल्लेख ऋग्वेद में भी आता है। शुनःशेप ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के २४ से ३० सूक्तों व नवें मण्डल के तीन सूक्तों का द्रष्टा है व उसे 'शुनःशेप आजिगर्ति कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरात ऋषिः' अर्थात् अजिगर्ति का औरस पुत्र व विश्वामित्र का गोद लिया हुआ पुत्र शुनःशेप 'देवरात' (देवताओं द्वारा दिया हुआ) कहा

[1] वही १०।९५

[2] "मत्स्य पुराण", ११।४०।१२-१९

[3] वायुपुराण ९१।६३-६५

[4] वही ९१।९२-९३

[5] ऐतरेय ब्राह्मण ७।१३।१८

गया है। विश्वामित्र का औरस-ज्येष्ठपुत्र मधुच्छन्दा भी ऋग्वेद के प्रथम मंडल के १ से १० सूक्तों का व नवें मण्डल के पहिले सूक्त का द्रष्टा है। उसे 'मधुच्छन्दा वैश्वामित्रो' अर्थात् विश्वामित्र का पुत्र मधुच्छन्दा' कहा गया है। इस प्रकार विश्वामित्र स्वत, उसके पिता व पुत्र सब ही वेदों के मन्त्रद्रष्टा थे। बराबर तीन पीढ़ी तक उस वंश में मन्त्रद्रष्टृत्व सुरक्षित रहा, यह बात पुराणों की सहायता से स्पष्ट होती है। पुरूरवा के ज्येष्ठपुत्र आयुस् का अनेना नामी एक पुत्र था[1]। उसके वंश में लगभग २३ राजा हुए थे। इसी वंश का तीसवाँ राजा गृत्समद[2] था। उसके दो बड़े भाई काश्य व काश नाम के थे। काश के वंशज पुराणों में काश्य कहलाये। वे काश्य कदाचित् एशिया मायनर 'केसाइट' हों। गृत्समद ऋग्वेद के नौवें मंडल के ८६ वें सूक्त के ४६ से ४८ मन्त्रों का द्रष्टा है। काश्यप का प्रपौत्र दीर्घतमस्[3] भी मंत्रद्रष्टा है[4]। आयुर्वेद का सुविख्यात लेखक धन्वन्तरि दीर्घतमस का पुत्र था[5]। इसी वंश का नवां राजा प्रतर्दन था जिसके पिता का नाम दिवोदास[6] था। ऋग्वेद के नवें मण्डल के ९६ वें सूक्त का वह द्रष्टा है, जहां उसे 'प्रतर्दन दैवोदासि' अर्थात् 'दिवोदास का पुत्र प्रतर्दन' कहा गया है।

पुरूरवस पुत्र आयुस् के ज्येष्ठ पुत्र नहुष का द्वितीय पुत्र ययाति[7] था, जिसने औशनसी देवयानी व वार्षपार्वणी शर्मिष्ठा से विवाह किया था। उसके यदु, तुर्वश, द्रुह्य, अनु, पूरु आदि पांच पुत्र बड़े ही प्रतापी थे, जो भारत के विभिन्न भागों में राज्य करते थे। उन पांचों का उल्लेख ऋग्वेद में भी आता है[8]। उनका पिता ययाति ऋग्वेद के नवें मण्डल के एक सूक्त का द्रष्टा है, जहां उसे ययाति नाहुष कहा गया है[9]।

---

[1] वायुपुराण ९३।७–११

[2] वही ९२।२–४

[3] वही ९९।३६–४६

[4] ऋग्वेद १।१४७।३, १।१५८। १, ४, ६, १।१४०–१६४

[5] विष्णुपुराण ४।८।८

[6] वायु० ९२।६०–६७, विष्णु० ४।८।५–७, ऋग्वेद ९।९६।१–२४,

[7] वायु० ९३।९०, मत्स्य २४।५५–५६

[8] मेकडॉनेल—"संस्कृतलिटरैचर" पृ० ५२

[9] ऋग्वेद ९।१०१।४–६

इस प्रकार पुराणों की सहायता से हम वेदों के मंत्रों को उनके सच्चे स्वरूप में समझ सकते हैं तथा उनको तिथिक्रम के अनुसार भी व्यवस्थित कर सकते हैं। इस दिशा में अधिक खोज की आवश्यकता है। वेदमंत्रों को उनके ऋषियों के क्रम के अनुसार व्यवस्थित कर उनकी भाषा आदि का आलोचनात्मक अध्ययन कर पुराणों की सहायता से वेदमंत्रों की बनावट व उनके कालनिर्णय के सम्बन्ध में बहुत कुछ निश्चित रूप से जाना जा सकता है। पुराणों की सहायता से वेद सम्बन्धी कितने ही भ्रम दूर किये जा सकते हैं।

ऋग्वेद

ऋग्वेद एक धार्मिक ग्रन्थ है। उसमें विभिन्न देवताओं की स्तुति की गई है जैसे अग्नि, वायु, इन्द्र, वरुण, मित्र, सविता, विष्णु, द्यावापृथिवी, सरस्वती आदि। ऋग्वेद के विभिन्न मंत्रों को विचारपूर्वक पढ़ने से ज्ञात होता है कि उस समय एकेश्वरवाद का सिद्धान्त भी भलीभांति ज्ञात था। ऋग्वेद से यज्ञ सम्बन्धी कर्मकाण्ड के पर्याप्त विकास का पता चलता[1] है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल से तत्कालीन दार्शनिक विकास का पता लगता है। उसमें भारतीय दर्शनशास्त्र के विकास के बीज वर्तमान हैं, क्योंकि वैदिक काल से ही आर्यों ने सांसारिक पहेलियों को समझने की चेष्टा प्रारंभ कर दी थी। ऋग्वेद में नासदीय सूक्त, पुरुषसूक्त, हिरण्यगर्भसूक्त आदि में सृष्ट्युत्पत्ति, सामाजिक जीवन का प्रारंभ, सर्वोपरि सत्ता का अस्तित्व आदि पर दार्शनिक ढङ्ग से विचार किया गया है।

यद्यपि ऋग्वेद एक धार्मिक ग्रन्थ है व उसमें अन्य विषयों का प्रत्यक्ष विवेचन अप्राप्य सा ही है तो भी उसमें कितने ही मन्त्र ऐसे हैं जिनकी सहायता से तत्कालीन राजनैतिक, आर्थिक व सामाजिक विकास पर पर्य्याप्त प्रकाश डाला जा सकता है। इस प्रकार ऋग्वेद में धर्म व दर्शन के अतिरिक्त राजनीति, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, गणितादि विद्या, ज्योतिषशास्त्र, काव्य, अलंकार आदि विभिन्न शास्त्रों व विद्याओं के मौलिक सिद्धान्तों का उल्लेख है।

ऋग्वेद को पाश्चात्य विद्वान् प्राचीनतम संहिता मानते हैं। उसमें दस मण्डल हैं व कुल मिलाकर १०२८ सूक्त हैं। उसका विभाजन एक और प्रकार से किया गया है। सम्पूर्ण संहिता को आठ अष्टकों

[1] ऋग्वेद १।१।१-२; १०।९०

में विभाजित किया गया है। प्रत्येक अष्टक में आठ अध्याय तथा कितने ही वर्ग हैं। प्रत्येक वर्ग में साधारणतया पांच मन्त्र रहते हैं। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार द्वितीय मण्डल से सप्तम मण्डल तक अधिकांश प्राचीन मंत्र आ गये हैं[1]। इन मण्डलों के द्रष्टा ऋषिविशेष हैं। उन ऋषियों के नाम ब्राह्मण-ग्रन्थों व वैदिक अनुक्रमणिकाओं में पाये जाते हैं, यथा गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज व वसिष्ठ। ये ऋषि व उनके वंशज दूसरे मण्डल से सातवें मण्डल तक के मंत्रों के द्रष्टा माने जाते हैं। अनुक्रमणिकाओं में पहिले, नवें व दसवें मंडल के सब मन्त्रों के ऋषियों के नाम भी दिये गये हैं। उनमें कुछ स्त्रियां भी हैं; यथा वागाम्भृणी[2], घोषा काक्षीवती[3] व अपाला आत्रेयी[4]।

सामवेद, यजुर्वेद व अथर्ववेद साधारणतया ऋग्वेद से ही सम्बन्धित हैं, क्योंकि ऋग्वेद से बहुत से मंत्र उनमें लिये गये हैं।

सामवेद

उन तीनों वेदों में सामवेद, ऋग्वेद से अधिक सम्बन्धित है, क्योंकि उसमें ऋग्वेद से बहुत से मन्त्र लिये गये हैं। ये मंत्र अधिकांश ऋग्वेद के ८ वें व ९ वें मण्डल से लिये गये हैं, जो सोम से सम्बन्धित हैं। यजुर्वेद के समान यह वेद भी यज्ञ को दृष्टि में रख संकलित किया गया है। इसके सब मंत्र सोम-यज्ञों के समय उच्चारित किये जाते हैं। सामवेद में १५४९ मन्त्र हैं व समस्त वेद को दो अर्चिकाओं में बाँटा गया है। पहिली अर्चिका में ६ प्रपाठक हैं जिनमें अग्नि, सोम व इन्द्र की स्तुति की गई है। दूसरी अर्चिका में ९ प्रपाठक हैं।

यजुर्वेद

यजुर्वेद विशेष रूप से यज्ञ से सम्बन्धित है। विभिन्न यज्ञों के समय उच्चारित किये जाने वाले मन्त्रों का इसमें संग्रह है। ब्राह्मण-रहित यजुर्वेद को शुक्ल यजुर्वेद कहते हैं। इसमें ४० अध्याय हैं।

---

[1] मैकडॉनेल—"हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर" पृ० ४१–४२,

[2] ऋग्वेद १०।१२५

[3] वही १०।३९; १०।४०

[4] वही ८।९२

कुछ विद्वानों के मतानुसार इसमें प्रथम अठारह अध्याय ही थे, बाकी के अध्याय बाद में मिलाये गये[1]। इनमें विभिन्न यज्ञों का वर्णन है। किन्तु इस वेद में यत्र तत्र सामाजिक व आर्थिक परिस्थिति से सम्बन्धित सामग्री भी प्राप्त होती है। इसमें अङ्कगणित, रेखागणित आदि का भी उल्लेख आता है। यजुर्वेद में ऋग्वेद से विभिन्न, भौगोलिक, धार्मिक, सामाजिक आदि परिस्थितियाँ अङ्कित हैं। इसमें पञ्जाब की सिन्धु आदि नदियों का उल्लेख नहीं है; उत्तर प्रदेश के उस प्रदेश का निर्देश है जहाँ कुरु व पाञ्चाल बसे थे। कुरु का प्रदेश कुरुक्षेत्र अत्यन्त पवित्र माना गया है, जो कि सतलज व यमुना का मध्यवर्ती भूभाग था। उसके पूर्व में गङ्गा व यमुना का मध्यवर्ती भूभाग पाञ्चालों का प्रदेश कहलाता था। ये दोनों प्रदेश भारत के सांस्कृतिक विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। विद्वानों का साधारणतया यह मत है कि ब्राह्मण धर्म, ब्राह्मण-संस्कृति आदि ने अपना स्वरुप यहीं धारण किया।

धार्मिक दृष्टि से यजुर्वेद व ऋग्वेद में कोई विशेष अन्तर प्रतीत नहीं होता, क्योंकि दोनों के देवता लगभग समान ही हैं, फिर भी कुछ परिवर्तन अवश्य है। ऋग्वेद में यत्र तत्र उल्लिखित प्रजापति यजुर्वेद में अधिक महत्वशाली है। ऋग्वेद का रुद्र यजुर्वेद में शिव के रूप में वर्णित है तथा शंकर, महादेव आदि नामों से उल्लिखित है। इसी प्रकार यजुर्वेद में विष्णु ने भी महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लिया है तथा यज्ञ से उसका तादात्म्य स्थापित किया गया है। देव व असुर को क्रमशः अच्छाई व बुराई से सम्बन्धित कर उनके पारस्परिक झगड़ों का भी उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार यजुर्वेद में बहुत सी अप्सराओं का भी उल्लेख आता है।

यजुर्वेद में सर्व प्रथम उपनिषद् के ब्रह्म के दर्शन होते हैं। धार्मिक जीवन में यज्ञ का महत्त्व अधिक था। यज्ञ की विधि, सामग्री तथा अन्य आवश्यक बातों का विस्तारशः वर्णन किया गया है। शुक्ल यजुर्वेद में १ से १० अध्याय तक अमावस्या सम्बन्धी व ११ से १८ अध्याय तक पूर्णिमा सम्बन्धी यज्ञों का विस्तृत वर्णन है, जिन पर शतपथ ब्राह्मण[2] में अच्छा प्रकाश डाला गया है।

---

[1] मैकडानल—"हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरैचर", पृ० १७५–१७६

[2] १।५।६।१

अथर्ववेद

अथर्ववेद संहिता में २० काण्ड हैं, जिनमें ७३० सूक्त व ६००० मंत्र हैं। बहुत से विद्वान् इस संहिता को अन्धविश्वास व जादू टोने का भण्डार मानते हैं[१] तथा इसे जन-साधारण का वेद मानते हैं। इसमें राजनीति, समाज शास्त्र, आयुर्वेद आदि से सम्बन्धित ऊँचे ऊँचे सिद्धान्त भरे पड़े हैं[२]। ईश्वर को सत्य कहकर उसका सुन्दर वर्णन किया गया है। वरुणादि से सम्बन्धित सूक्तों में उच्च नैतिकता के दर्शन होते हैं। काल सम्बन्धी मंत्रों में सुन्दर दार्शनिक ढङ्ग पर काल की महिमा का वर्णन किया गया है। सभा व समिति के वर्णन में तत्कालीन राजनैतिक जागृति का बोध हो जाता है।

अथर्ववेद में आयुर्वेद सम्बन्धी सामग्री भी पर्याप्त रूप में मिलती है। उसमें सूर्य की स्वास्थ्यप्रद शक्ति व विभिन्न रोगोत्पादक क्रिमियों का विस्तृत वर्णन आता है तथा ज्योतिष सम्बन्धी मंत्रों में नक्षत्रों का उल्लेख है। गान्धार, मूजवत, महावृष, बाह्लीक, मगध, अङ्ग आदि भूभागों के नामों का उल्लेख भी इस वेद मे आता है।

सारांश में यह कहा जा सकता है कि उपरोक्त विवेचन से आर्यों के गौरवमय इतिहास तथा वैदिक साहित्य के ऐतिहासिक महत्त्व पर अच्छा प्रकाश पड़ता है, जिससे वेदकालीन समाज को समझने में पूरी सहायता मिलती है।

—

[१] मैक्डनिल—"हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर" पृ० १८५–१८६

[२] "अथर्ववेद" ३।४।२; ७।१२।१–२, २।३१।३३ आदि

अध्याय—२

१

भौगोलिक-विवेचन

प्राकृतिक विशेषताएँ

निसर्ग ने भारत पर जितनी कृपा की है उतनी कदाचित् ही किसी देश पर की हो। अच्छे से अच्छा जलवायु, सुन्दर पर्वत व नदियाँ भारत की विशेषताएँ हैं। अन्न, वस्त्र, फल, फूल आदि यहां बहुत सरलता से प्राप्य हैं। प्रकृति ने अपने सौन्दर्य को यहीं के वनों, नदियों, पर्वतों आदि में बिखेर दिया है जिससे कितने ही दार्शनिकों व कवियों ने प्रेरणा प्राप्त की है।

भौगोलिक दृष्टि से भारतवर्ष एक छोटा सा महाद्वीप ही है। यह एशिया महाद्वीप के ठीक दक्षिण में है। इसके उत्तर में हिमालय है जो लगभग १४०० मील लम्बा व लगभग १९००० फुट ऊँचा है। इसकी चोटियाँ २५००० से २९००० फुट ऊँची हैं। इसके पश्चिमोत्तर में हिन्दुकुश, सुलेमान आदि पर्वतश्रेणियाँ हैं। इन्हीं में प्रसिद्ध खैबर, कुर्रम, बोलन आदि घाटियाँ हैं। पूर्व की ओर नांगा, पतकुई, अराकान आदि पर्वत व घने जंगल हैं। दक्षिण में पूर्व व पश्चिम की ओर झुकता हुआ समुद्र है। ठीक दक्षिण में हिन्द महासागर लहराता है तथा पूर्व व पश्चिम में क्रमशः बंगाल की खाड़ी व अरब सागर है। भारत की जलवायु उष्ण है। क्योंकि भूमध्य रेखा उसके पास से ही जाती है तथा उष्ण कटिबन्ध इसके दो त्रिकोण बनाता है। समुद्रतटवर्ती प्रदेशों का जलवायु समशीतोष्ण तथा हिमालयतटवर्ती का अत्यन्त ही शीत है।

भारत में कितने ही छोटे बड़े पर्वत हैं। मध्य में विन्ध्य है जो भारत के दो भाग करता है यथा उत्तर भारत व दक्षिण भारत जो कि प्राचीन काल में क्रमशः उत्तरापथ व दक्षिणापथ कहलाते थे। उसके दक्षिण में सतपुड़ा पर्वत है, जो दक्षिण की उच्चसमभूमि पर फैला हुआ है। पश्चिम में राजस्थान के मध्य में अरावली पर्वत है। दक्षिण के दोनों तटों पर पूर्वीघाट व पश्चिमी घाट (सह्याद्रि) पर्वत

स्थित हैं। मैसूर के दक्षिण में नीलगिरि पर्वत है। इन पर्वतों से कितनी ही छोटी बड़ी नदियां निकल कर भारत के निभिन्न भागों को सींचती हुई समुद्र में जा मिलती हैं। सिन्धु, गङ्गा, यमुना, ब्रह्मपुत्रा, नर्मदा, तापी, महानदी, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी आदि नदियों ने भारत के सांस्कृतिक इतिहास में गौरवपूर्ण योगदान दिया है। प्राकृतिक दृष्टि से भारत के तीन विभाग किये जाते हैं, यथा उत्तरीय मैदान, दक्षिण की उच्चसमभूमि व दक्षिण भारत। उत्तरीय मैदान हिमालय र विन्ध्याचल के मध्य में स्थित है। इस मैदान में पत्थर का नाम नहीं है। दक्षिण की उच्चसमभूमि के दोनों सिरों पर पूर्वी व पश्चिमी घाट पर्वत हैं तथा विन्ध्याचल से तुङ्गभद्रा तक उसका विस्तार है। इसके मध्य भाग में घना जंगल है। दक्षिण भारत का भाग तुङ्गभद्रा से कन्याकुमारी तक विस्तृत है। यहां प्राचीन काल से ही पाण्ड्य, चोल, केरल आदि राज्य स्थापित हुए थे।

२

ों में प्रतिबिम्बित भौगोलिक परिस्थिति

वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से उसमें प्रतिबिम्बित भौगोलिक परिस्थिति का सम्यक् बोध होता है। ऋग्वेदादि संहिताओं में पर्वत, नदियों आदि का उल्लेख आता है। इसी प्रकार जलवायु, वनस्पति, पशु, पक्षी आदि के बारे में भी बहुत सी बातें ज्ञात होती हैं। इस भौगोलिक सामग्री के सहारे इतिहास के विद्वान् वेदकालीन भारत का मानचित्र भी तैयार करते हैं। विभिन्न वेदों में प्राप्त भौगोलिक उल्लेखों की सहायता से आर्यों के अफगानिस्तान, पञ्जाब आदि में बसने तथा उत्तर भारत में धीरे धीरे फैलने का इतिहास भी तैयार किया जाता है। किन्तु आर्यों के प्रसार व विस्तार को समझने का यह ढङ्ग कितना भ्रमपूर्ण है यह स्पष्ट है। ऋग्वेद आदि संहिताएँ ऐतिहासिक या भौगोलिक ग्रन्थ नहीं हैं कि उनके आधार पर तत्कालीन भारत का मानचित्र तैयार किया जा सके। यदि ऋग्वेद में किसी पर्वत, नदी आदि का उल्लेख नहीं है, तो इसका यह अर्थ तो नहीं हो सकता कि तत्कालीन आर्यों को उस नदी या पर्वत का ज्ञान

नहीं था। उस पर से केवल इतना ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वैदिक ऋषियों ने अमुक नदी या पर्वत के उल्लेख की आवश्यकता नहीं समझी। वेदों में प्रतिबिम्बित भौगोलिक परिस्थिति पर विचार करने के पूर्व हमें उपरोक्त तथ्य को नहीं भुलाना चाहिये।

ऋग्वेद

ऋग्वेद के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि उसमें कितनी ही भौगोलिक सामग्री सन्निहित है। उसमें पर्वत नदियों आदि के उल्लेख हैं। ऋग्वेद में कितने ही स्थानों में पर्वतों का उल्लेख है जिनसे नदियों का निकलना वर्णित किया गया है। केवल हिमालय पर्वत अपने नाम द्वारा उल्लिखित किया गया है। उसकी एक चोटी मूजवन्त नाम से उल्लिखित है जहां सोम पाया जाता था। वैदिक साहित्य में लगभग ३१ नदियों का उल्लेख है—जिनमें से २५ ऋग्वेद में उल्लिखित हैं[1]। उनमें दो को छोड़कर सब की सब सिन्धु नदी से सम्बन्धित हैं। गंगा, यमुना, सरस्वती व सरयू सिन्धु नदी से सम्बन्धित नहीं हैं। गंगा महत्वपूर्ण नदी के रूप में उल्लिखित नहीं है। यमुना का ऋग्वेद में तीन बार उल्लेख है। प्रसिद्ध दासराज्ञ युद्ध में सुदास व तृत्सु की यमुना तट पर महान् विजय का उल्लेख उक्त वेद में आता है। सिन्धु व सरस्वती का उल्लेख बार बार आता है, जिससे स्पष्ट होता है कि ये नदियाँ वैदिक ऋषियों के जीवन में अधिक महत्वपूर्ण होंगी। सरस्वती को सर्वोत्तम नदी कहा गया है। उसे 'अम्बितमे नदीतमे, देवितमे' आदि शब्दों से सम्बोधित किया गया है[2]।

सरस्वती के साथ दृषद्वती भी कितनी ही बार उल्लिखित है तथा इसे आधुनिक घग्घार या चिताङ्ग से सम्बन्धित किया जा

---

[1] "ऋग्वेद" १०, ७५, ५६७; "इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या। असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया॥ तृष्टामया प्रथमं यातवे सजूः सुसर्त्वा रसया श्वेत्या त्या। त्वं सिन्धो कुभया गोमती क्रुमुं मेहत्न्वा सरथं याभिरीयसे।

[2] ऋग्वेद २, ४१, १६ : "अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति। अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि॥"

सकता है। आपया सरस्वती व दृषद्वती के मध्य स्थित थी तथा सरस्वती की एक छोटी सहायक नदी थी।

सिन्धु व उसकी पूर्वी तथा पश्चिमी सहायक नदियाँ ऋग्वेद में विशेष रूप से उल्लिखित हैं। महान् सिन्धु नदी ने वैदिक ऋषियों के मन को बहुत ही प्रभावित किया था। उसे सर्वाधिक गतिशील सर्वाधिक जलयुक्त कह कर सम्बोधित किया गया है। जब जोरदार वर्षा होने लगती है, तब सिन्धु वृषभ के समान गर्जन करती हुई बहने लगती है। अन्य नदियाँ उसकी ओर इस प्रकार बहती हैं, जैसे रम्भाती हुई गायें अपने बछड़े की ओर दौड़ती हैं[1]।

पञ्जाब की पांच नदियाँ जिनके कारण उस भूभाग को पञ्जाब नाम दिया गया, ऋग्वेद में उल्लिखित हैं, यथा शुतुद्री (सतलज), विपाश (व्यास), परुष्णी (रावी), असिक्नी (चिनाव), व वितस्ता (झेलम)[2]। इसी प्रकार सिन्धु की पश्चिमी सहायक नदियों का भी उल्लेख है, यथा रसा (पश्चिमोत्तर की जेक्सरटीज़ अथवा उत्तर-प्रदेश व बिहार की सीमा पर स्थित एक नदी), कुभा (काबुल नदी), क्रुमु (कुर्रम), गोमती (गोमल), सुसर्तु व श्वेत्या (कुभा के उत्तर में), मेहत्नु (कुभा के दक्षिण में), सुवास्तु (स्वात), कुभा की सहायक नदी, हरियूपीया (किसी नदी का नाम अथवा किसी स्थान का नाम[3])।

ऋग्वेद में सप्तसिन्धु का उल्लेख कितनी ही बार आया है[4] जिस से साधारणतया सात नदियों का बोध होता है। सायण आदि ने उसे सात नदियों से सम्बन्धित किया है तथा वे नदियाँ इस प्रकार हैं—सिन्धु, वितस्ता, शुतुद्री, असिक्नी, परुष्णी, सरस्वती व कुभा (अथवा गंगा व यमुना)। मैक्समूलर के मतानुसार उन सात नदियों में पञ्जाब की पांच नदियाँ तथा सिन्धु व सरस्वती सम्मिलित की जानी चाहियें। लुडविग, लेसन, व्हिटने आदि सरस्वती के स्थान में कुभा का निर्देश करते हैं तथा ऑक्सस नदी को भी उस समुदाय में सम्मिलित करते हैं, क्योंकि उनका मन्तव्य है कि जब ऋग्वेद-

---

[1] वही १०।७५

[2] वही १०।७५।५

[3] कुछ इतिहासकार इसे हरप्पा से सम्बन्धित करते हैं।

[4] ऋग्वेद ८।२४।२७,२।१२।१२

कालीन आर्यों को कुभा, गोमती, क्रमु, सुवास्तु आदि का ज्ञान था, तो ऑक्सस नदी का भी ज्ञान रहना चाहिये। कुछ विद्वानों के मतानुसार 'सप्तसिन्धु' शब्द सात नदियों वाले प्रदेश के लिये भी उपयुक्त हुआ है जहां आर्य लोग बसे' थे। यह शब्द 'हफ्तहिन्दु' के रूप में अवेस्ता में भी उल्लिखित है।

ऋग्वेद में वनस्पति, कृषि की उपज, पशु आदि का भी उल्लेख आता है। सोम का उल्लेख बहुतायत से होता है, क्योंकि यज्ञकार्य में उसकी आवश्यकता पड़ती थी। वह पर्वतीय प्रदेश में उगता था तथा वहां से ऋषियों द्वारा लाया जाता था। यव का भी उल्लेख ऋग्वेद में कितने ही स्थानों पर आया है। चावल का कोई उल्लेख नहीं है। इससे इतिहासकार यह निष्कर्ष निकालते हैं कि आर्य लोग पूर्व तक नहीं पहुँचे थे, जहां कि चावल बहुतायत से होता है। ऋग्वेद में उल्लिखित वृक्षों में अश्वत्थ अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है, जिसके स्वादिष्ट व मीठे फल पिप्पल का भी उल्लेख आता है। अश्वत्थ की लकड़ी से सोमपात्र बनाये जाते थे, अतएव वह पेड़ पवित्र माना जाने लगा। न्यग्रोध वृक्ष का उल्लेख ऋग्वेद में नहीं आता। ऋग्वेद के ऋषियों को वन्य पशुओं में सिंह का ज्ञान भली-भांति था। सिंह को वनों से युक्त पर्वतों का विचरण करने वाला कहा गया है तथा उसके गर्जन का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। व्याघ्र का ऋग्वेद में कहीं भी उल्लेख नहीं है, क्योंकि वह बंगाल के घने जंगलों में पाया जाता है। इतिहासकारों के मतानुसार ऋग्वेद काल में आर्य लोग बङ्गाल तक नहीं पहुँचे थे। हाथी ऋग्वेद में दो स्थानों में उल्लिखित है तथा उसे 'मृग[illegible] गया [illegible] [illegible] उसे पकड़ कर पालतू बनाने के [illegible] किये [illegible] का उल्लेख कितनी ही बार किया [illegible] भी उल्लिखित हैं। भैंसे पालतू [illegible] आता है, बन्दर [illegible] लिया [illegible]

ऋग्वेद में प[illegible] का [illegible] कम [illegible]

[illegible]

अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान तो मवेशियों का है। इस युग में गायों का अत्यन्त ही महत्त्व था। यज्ञ की दक्षिणा देने में उनका उपयोग किया जाता था। वैदिक आर्यों के जीवन में उनका इतना अधिक महत्त्व था कि किसी भी बात को समझाने के लिये गाय की उपमा दी जाती थी। उन्हें सुरक्षित रखने के लिये बड़े-बड़े अहाते रहते थे क्योंकि उनके चुराये जाने का भय रहता था। पणियों द्वारा इन्द्र की गायें चुराये जाने का वर्णन आता है। बैलों का उपयोग खेत जोतने व गाड़ी खींचने के लिये किया जाता था।

ऋग्वेद कालीन युग में मवेशी के पश्चात् घोड़ों का महत्त्व अधिक था। आर्यों को कितने ही युद्ध करने पड़ते थे अतएव रथ खींचने में घोड़ों का महत्त्व स्पष्ट ही है। रथदौड़ में भी उसका खूब उपयोग होता था। तत्कालीन धार्मिक जीवन में अश्वमेध यज्ञ भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं था।

(ऋग्वेद में बहुत से पक्षियों का उल्लेख भी आता है जैसे हंस, चक्रवाक, क्रौञ्च, मयूर, शुक आदि। ये पक्षी प्राचीन काल से ही कला व साहित्य के लिये प्रेरणा-स्रोत रहे हैं तथा समाज के दैनिक जीवन में उनका भी स्थान रहता था।)

ऋग्वेद में बहुत-सी धातुओं का भी उल्लेख है जिनमें सुवर्ण अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह धातु कदाचित् पश्चिमोत्तर की नदियों में से प्राप्त की जाती थी। सिन्धु नदी को सुवर्णमयी कहा गया है। राजाओं के पास बहुतसा सोना रहता था। सुवर्ण के नाना प्रकार के आभूषणों का भी उपयोग होता था।

ऋग्वेद में अयस् का बहुत बार उल्लेख किया गया है। कुछ विद्वानों का मत है कि अयस् से लोहे का बोध नहीं होता था, उसे साधारण धातु के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता था अथवा काँसे के अर्थ में। ऋग्वेद में चांदी का कहीं उल्लेख नहीं है। चांदी व लोहा खदान में एक साथ रहते हैं, अतएव यह मन्तव्य उपस्थित किया जाता है, कि ऋग्वेदकालीन आर्यों को लोहे का ज्ञान नहीं था। ये दोनों धातुएँ पश्चिमोत्तर भारत में नहीं पाई जातीं।

ऋग्वेद में उल्लिखित भौगोलिक सामग्री नदी, पर्वत, जलवायु, पशु, पक्षी, उपज, खनिज पदार्थ आदि की सहायता से यह जानने का प्रयत्न किया जाता है कि तत्कालीन आर्य भारत के किस भाग में

कालीन आर्यों को कुभा, गोमती, क्रमु, सुवास्तु आदि का ज्ञान था, तो ऑक्सस नदी का भी ज्ञान रहना चाहिये। कुछ विद्वानों के मतानुसार 'सप्तसिन्धु' शब्द सात नदियों वाले प्रदेश के लिये भी उपयुक्त हुआ है जहां आर्य लोग बसे[1] थे। यह शब्द 'हफ्तहिन्दु' के रूप में अवेस्ता में भी उल्लिखित है।

ऋग्वेद में वनस्पति, कृषि की उपज, पशु आदि का भी उल्लेख आता है। सोम का उल्लेख बहुतायत से होता है, क्योंकि यज्ञकार्य में उसकी आवश्यकता पड़ती थी। वह पर्वतीय प्रदेश में उगता था तथा वहां से ऋषियों द्वारा लाया जाता था। यव का भी उल्लेख ऋग्वेद में कितने ही स्थानों पर आया है। चावल का कोई उल्लेख नहीं है। इससे इतिहासकार यह निष्कर्ष निकालते हैं कि आर्य लोग पूर्व तक नहीं पहुँचे थे, जहां कि चावल बहुतायत से होता है। ऋग्वेद में उल्लिखित वृक्षों में अश्वत्थ अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है, जिसके स्वादिष्ट व मीठे फल पिप्पल का भी उल्लेख आता है। अश्वत्थ की लकड़ी से सोमपात्र बनाये जाते थे, अतएव वह पेड़ पवित्र माना जाने लगा। न्यग्रोध वृक्ष का उल्लेख ऋग्वेद में नहीं आता। ऋग्वेद के ऋषियों को वन्य पशुओं में सिंह का ज्ञान भलीभांति था। सिंह को वनों से युक्त पर्वतों का विचरण करने वाला कहा गया है तथा उसके गर्जन का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। व्याघ्र का ऋग्वेद में कहीं भी उल्लेख नहीं है, क्योंकि वह बंगाल के घने जंगलों में पाया जाता है। इतिहासकारों के मतानुसार ऋग्वेद काल में आर्य लोग बङ्गाल तक नहीं पहुँचे थे। हाथी ऋग्वेद में दो स्थानों में उल्लिखित है तथा उसे 'मृगहस्तिन्' कहा गया है। इस युग में उसे पकड़ कर पालतू बनाने के प्रयत्न भी किये गये थे। भेड़िये का उल्लेख कितनी ही बार किया गया है। इसी प्रकार वराह व महिष भी उल्लिखित हैं। भैंसें पालतू भी बनाई जाती थीं। ऋक्ष का वर्णन एक स्थान पर आता है, बन्दर का उल्लेख भी एक स्थल पर आता है; उसे पालतू भी बना लिया गया था।

ऋग्वेद में पालतू जानवरों का उल्लेख कितनी ही बार आता है। इनमें भेड़, बकरी, गधा व कुत्ता कम महत्त्व के प्रतीत होते हैं। सबसे

---

[1] मेकडॉनेल—"हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर", पृ० १४१

अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान तो मवेशियों का है। इस युग में गायों का अत्यन्त ही महत्त्व था। यज्ञ की दक्षिणा देने में उनका उपयोग किया जाता था। वैदिक आर्यों के जीवन में उनका इतना अधिक महत्त्व था कि किसी भी बात को समझाने के लिये गाय की उपमा दी जाती थी। उन्हें सुरक्षित रखने के लिये बड़े-बड़े अहाते रहते थे क्योंकि उनके चुराये जाने का भय रहता था। पणियों द्वारा इन्द्र की गायें चुराये जाने का वर्णन आता है। बैलों का उपयोग खेत जोतने व गाड़ी खींचने के लिये किया जाता था।

ऋग्वेद कालीन युग में मवेशी के पश्चात् घोड़ों का महत्त्व अधिक था। आर्यों को कितने ही युद्ध करने पड़ते थे अतएव रथ खींचने में घोड़ों का महत्त्व स्पष्ट ही है। रथदौड़ में भी उसका खूब उपयोग होता था। तत्कालीन धार्मिक जीवन में अश्वमेध यज्ञ भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं था।

(ऋग्वेद में बहुत से पक्षियों का उल्लेख भी आता है जैसे हंस, चक्रवाक, क्रोञ्च, मयूर, शुक आदि। ये पक्षी प्राचीन काल से ही कला व साहित्य के लिये प्रेरणा-स्रोत रहे हे तथा समाज के दैनिक जीवन में उनका भी स्थान रहता था।)

ऋग्वेद में बहुत सी धातुओं का भी उल्लेख है जिनमे सुवर्ण अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह धातु कदाचित् पश्चिमोत्तर की नदियों में से प्राप्त की जाती थी। सिन्धु नदी को सुवर्णमयी कहा गया है। राजाओं के पास बहुतसा सोना रहता था। सुवर्ण के नाना प्रकार के आभूषणों का भी उपयोग होता था।

ऋग्वेद में अयस् का बहुत बार उल्लेख किया गया है। कुछ विद्वानों का मत है कि अयस् से लोहे का बोध नहीं होता था, उसे साधारण धातु के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता था अथवा कांसे के अर्थ में। ऋग्वेद में चांदी का कहीं उल्लेख नहीं है। चांदी व लोहा खदान में एक साथ रहते हैं, अतएव यह मन्तव्य उपस्थित किया जाता है, कि ऋग्वेदकालीन आर्यों को लोहे का ज्ञान नहीं था। ये दोनों धातुएँ पश्चिमोत्तर भारत में नहीं पाई जातीं।

ऋग्वेद में उल्लिखित भौगोलिक सामग्री नदी, पर्वत, जलवायु, पशु, पक्षी, उपज, खनिज पदार्थ आदि की सहायता से यह जानने का प्रयत्न किया जाता है कि तत्कालीन आर्य भारत के किस भाग में

बस गये थे। विद्वानों का मत है कि ऋग्वेद के मंत्रों के द्रष्टा ऋषि काबुल से यमुना तक के प्रदेश में बस गये थे। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि तत्कालीन आर्यों को अफगानिस्तान, पञ्जाब, काश्मीर, उत्तरप्रदेश (सरयू नदी तक), राजस्थान व सिन्ध के कुछ भूभाग का ज्ञान था। ऐसा माना जाता है कि आर्य लोग इन प्रदेशों में फैल गये थे। यह मन्तव्य भी उपस्थित किया जाता है कि वे बंगाल तक नहीं पहुँचे थे, इसीलिये ऋग्वेद में व्याघ्र का उल्लेख नहीं है। कुछ इतिहासकार यह मानते हैं कि ऋग्वेद में समुद्र का उल्लेख नहीं है इसलिये आर्य लोग समुद्र तक नहीं फैले थे। किन्तु मैक्समूलर, लेसन, जिम्मर प्रभृति विद्वान् इस मत का विरोध करते हैं। उनके मतानुसार भुज्यु नाविक के ध्वंस होने के उल्लेख आदि से सिद्ध होता है कि ऋग्वेदकालीन आर्यों को समुद्र का ज्ञान था। इस प्रकार विद्वानों ने ऋग्वेद में उल्लिखित भौगोलिक तथ्यों के सहारे तत्कालीन भारत का मानचित्र भी तैयार किया है जिसमें आधुनिक अफगानिस्तान, पञ्जाब, काश्मीर तथा राजस्थान व उत्तरप्रदेश का कुछ भाग सम्मिलित किया जाता है।

उपरोक्त विचारसरणी किस प्रकार भ्रमपूर्ण है इसका उल्लेख पहिले ही किया जा चुका है। यह मानना कि ऋग्वेद में जिन जिन बातों का उल्लेख है उनका ही ज्ञान आर्यों को था, अन्य का नहीं बिलकुल ही दोषपूर्ण है। मेकडॉनेल[1] ने भी इस भ्रमपूर्ण विचारसरणी का विरोध किया है, किन्तु आश्चर्य की बात है कि उनके ग्रंथ में भी उसी विचारसरणी को अपनाया गया है।

भौगोलिक प्रमाणों के आधार पर ऋग्वेद संहिता का निर्माण कहाँ हुआ, इसका भी निश्चय किया जाता है। मैक्समूलर, वेबर, म्यूर आदि मानते हैं कि उक्त संहिता का निर्माण पञ्जाब में हुआ। हॉपकिन्स, कीथ आदि का मत है कि सरस्वती नदी के आस-पास के भूभाग (आधुनिक अम्बाला के दक्षिण का प्रदेश) में यह कार्य सम्पादित हुआ। मुनहॉफर, हर्टेल, इसिंग आदि के मतानुसार ऋग्वेद

---

[1] 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर" पृ० १५० : "A good illustration of the dangers of the *argumentum ex silentio* is furnished by the fact that salt, the most necessary of minerals is never mentioned in the *Rigveda*."

अफगानिस्तान तथा ईरान में बना। इस प्रकार भौगोलिक सामग्री की सहायता से हमें कितनी ही महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं।

यजुर्वेदादि में प्रतिबिम्बित भौगोलिक परिस्थिति

यजुर्वेद में प्रतिबिम्बित भौगोलिक परिस्थिति ऋग्वेद की परिस्थिति से भिन्न है। वैदिक संस्कृति का केन्द्र यजुर्वेद में पूर्व की ओर बढ़ गया है। सिन्धु व उसकी सहायक नदियों का कोई उल्लेख यजुर्वेद में नहीं आता। उसमें उत्तर भारत के कुरुपाञ्चाल का अधिक उल्लेख आता है। कुरुक्षेत्र विशेष रूप से पवित्र माना गया है। यह प्रदेश सतलज व यमुना के मध्यवर्ती मैदान में स्थित था तथा दृषद्वती व सरस्वती नदियों के भूभाग से सटा हुआ था। इससे लगकर पूर्व की ओर पाञ्चाल देश स्थित था जो कि गंगा व यमुना के दोआब मे स्थित था। कुरुक्षेत्र ब्राह्मण धर्म व वर्णाश्रम व्यवस्था का केन्द्र था, जहां से उनका प्रचार भारत के अन्य भागों में हुआ। यहीं महाभारत का युद्ध हुआ था तथा इसी को मनुस्मृति में ब्रह्मावर्त[1] कहा गया है। यहीं यजुर्वेद की विभिन्न शाखाओं का विकास हुआ जिनके अनुयायी भारत के विभिन्न भागों में जाकर बस गये।

अथर्ववेद

अथर्ववेद से बहुत कम भौगोलिक सूचना प्राप्त होती है। अथर्व वेद में एक स्थान[2] पर गांधारि, मूजवत, महावृष, वाह्लीक, मगध व अङ्ग उल्लिखित हैं। किन्तु इन उल्लेखों से अथर्ववेद का निर्माण कहां हुआ, इस प्रश्न पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

यजुर्वेद, अथर्ववेद आदि के उल्लेखों से इतिहास के विद्वान् इस निष्कर्ष पर आते हैं कि इन वेदों के समय तक आर्य लोग उत्तर भारत व पूर्व भारत में फैल गये थे, तथा उन्होंने सांस्कृतिक विकास की पूर्णता को भी प्राप्त कर लिया था। किन्तु भौगोलिक उल्लेखों से निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

---

[1] मनुस्मृति २।१७–२२

[2] अथर्ववेद ५।२२

३

ऋग्वेदकालीन जातियां

ऋग्वेद के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज साधारणतया दो भागों में विभाजित था—(१) आर्य, (२) दस्यु। इन दोनों में विशेष अन्तर रङ्ग व सांस्कृतिक विकास का था। आर्य शुभ्रवर्ण के थे तथा सुसंस्कृत थे। उनका सामाजिक, आर्थिक आदि जीवन पर्याप्त रूप से विकसित हो चुका था। इसके विपरीत दस्यु काले रङ्ग के थे तथा उस समय सभ्यता व संस्कृति के मार्ग में अग्रसर नहीं हुए थे। ऋग्वेद[1] में उन्हें 'अनासाः' व 'मृध्रवाचः' कहा गया है। इस पर से कुछ विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दस्यु दक्षिण भारत के आदिम निवासी थे जो उस समय उत्तर भारत में भी फैले हुए थे, अतएव वे द्रविड़ जाति के थे। उन्हें दास[2], कृष्णवर्ण[3] आदि नामों से भी सम्बोधित किया गया है। ऋग्वेद में दस्यु को 'अकर्मन्',[4] 'अदेवयु',[5] 'अब्रह्मन्',[6] 'अयज्वन्',[7] 'अव्रत',[8] 'अन्यव्रत',[9] आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। ऋग्वेद[10] में एक स्थल पर कहा गया है कि "यज्ञ न करने वाले, किसी बात को न मानने वाले तथा अन्य व्रतों को धारण करने वाले दस्यु हमारे चहुँ ओर हैं। हे शत्रु का नाश करने वाले इन्द्र उन दासों के दम्भों का नाश कीजिये।" ये लोग घने जंगलों व पर्वतों की कंदराओं में रहते थे। उपरोक्त वर्णन से यह निष्कर्ष

---

[1] ५।९।१०

[2] ऋग्वेद ८।७०।११; ८।२२।८

[3] "कृष्ण वर्णमधर गुहाकः"—ऋग्वेद

[4] ऋग्वेद १०।२२।८

[5] वही ८।७०।११

[6] वही ४।१६।९

[7] वही ८।७०।११

[8] वही १।५१।८; १।१७५।३; ६।१४।३; ९।४१।२

[9] वही ८।७०।११

[10] १०।२२।८ : "अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः। त्वं तस्यामित्रहन्वधर्दासस्य दम्भय॥"

निकाला जा सकता है कि ऋग्वेद में उल्लिखित दस्यु या दास कदाचित् असभ्य प्रागैतिहासिक जाति के थे व उनका रंग काला था। आर्यों को उनसे लड़ना भी पड़ा था। पाश्चात्य विद्वान् उनको दक्षिण भारत के असभ्य व प्रागैतिहासिक द्रविड़ों से सम्बन्धित करते हैं। कुछ विद्वान्[1] यह कहते हैं कि दस्यु, दास आदि शब्द जिनका उल्लेख ऋग्वेद में आता है जातिसूचक नहीं हैं, धर्मसूचक हैं। इंद्र व अग्नि के उपासक आर्य कहलाते थे व उनके विरोधी दस्यु, दास आदि शब्दों से सम्बोधित किये जाते थे। किन्तु यदि निष्पक्ष भाव से विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि ऋग्वेद-काल में सुसंस्कृत व सभ्य आर्यों से भिन्न काले रङ्गवाला पूर्णतया असभ्य एक मानव समुदाय था, जिससे सभ्य आर्यों को संघर्ष करना पड़ता था। साधारणतया ऋग्वेदकालीन समाज इन्हीं दो मानव समुदाय के संघर्ष से एक नये सामाजिक जीवन में पदार्पण कर रहा था।

दस्यु व दास के अतिरिक्त और भी कुछ जातियों के नाम ऋग्वेद में उल्लिखित हैं, जिनको आदिम जातियों से सम्बन्धित किया जाता है जैसे पक्थ, भलानस, विषाणिन, अलीन व शिव जो कि पश्चिमोत्तर सीमा प्रदेश में रहते[2] थे तथा अज, शिग्रु व यक्षु जो पूर्वी प्रदेश में रहते[3] थे। इसी प्रकार कीकट,[4] पणि,[5] असुर[6] आदि अनार्यों से सम्बन्धित किये जाते हैं। कीकटों को जिम्मर ने अनार्य मानकर मगध से सम्बन्धित किया है। वेबर के मतानुसार ये विभिन्न मताव-लम्बी आर्य ही थे। पणियों को साधारणतया, दासों व दस्युओं के साथ आर्यों के शत्रु के रूप में उल्लिखित किया जाता था। यद्यपि ये धनाढ्य थे तथापि उन्होंने आर्य देवताओं की पूजा कभी न की और न आर्य ऋषियों को दक्षिणा ही दी। उन्हें स्वार्थी, यज्ञ न करने वाले, विपरीत भाषा बोलने वाले, लालची व दुष्ट के रूप में चित्रित किया

[1] श्रीनिवास आयगर—"लाइफ इन एन्शन्ट इन्डिया इन दि एज ऑफ मन्त्रज" पृ० ११–१२,

[2] "वैदिक एज" (भारतीय विद्या भवन) पृ० २४७, ऋग्वेद ७।१८।७

[3] "जर्नल ऑफ दि बिहार[1] एन्ड उरीसा रिसर्च सोसायटी" स० १२, पृ० १०४, ऋग्वेद ७।१८।१९

[4] ऋग्वेद ३।५३।१४;

[5] ऋग्वेद ७।६।३;

[6] 'वैदिक एज' (भारतीय विद्या भवन) पृ० २५०

गया[1] है। डॉ. अल्टेकर[2] के मतानुसार यह सम्भव है कि वैदिक साहित्य के पणि व हरप्पा-संस्कृति के संस्थापक एक ही थे, क्योंकि ऐतिहासिक खोज के परिणाम-स्वरूप दोनों में बहुत समानता दृष्टिगोचर होती है। वैदिक साहित्य में असुरों का उल्लेख साधारणतया आर्यों व उनके देवताओं के शत्रु के रूप में किया गया है, किन्तु कहीं-कहीं अच्छे अर्थ में भी असुर शब्द का प्रयोग किया गया है। भाण्डारकर, बैनरजी शास्त्री प्रभृति विद्वान् उन्हें एसिरियन लोगों से सम्बन्धित करते हैं।[3] कुछ विद्वान् उन्हें एसिरियन मानकर सिन्धु-संस्कृति से सम्बन्धित करते हैं।[4] इनके अतिरिक्त ऋग्वेद में 'शिश्न'[5], 'शिश्नदेवाः'[6] आदि शब्दों का उल्लेख है, जिनसे लिङ्ग व लिङ्ग की पूजा करने वाले अनार्यों का बोध होता है। कुछ विद्वान् उन्हें दक्षिण भारत के द्रविड़ों से सम्बन्धित करते हैं व उत्तर भारत में लिङ्ग-पूजा के प्रसार का श्रेय उन्हें देते हैं। किन्तु प्राचीन काल में लिङ्ग-पूजा केवल द्रविड़ों तक ही परिसीमित नहीं थी, किन्तु मिश्री, यूनानी, रोमनिवासी, यहूदी आदि को भी उसका ज्ञान था।[7]

वैदिक साहित्य के विद्वानों का यह भी मत है कि वैदिक युग में आर्य लोग भी विभिन्न जातियों में विभाजित थे, जो सप्तसिन्धु प्रदेश की नदियों के किनारे बसे हुये थे तथा परस्पर युद्धरत भी रहते थे। उनमें पाँच जातियाँ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, जिनको सामूहिक रूप से 'पञ्चजनाः'[8] 'पञ्चकृष्टयः'[9] 'पञ्चचर्षणयः'[10] 'पञ्चक्षितयः'[11] आदि शब्दों द्वारा सम्बोधित किया गया है। जिम्मर, मैकडॉनेल आदि पञ्चजन

[1] "वैदिक एज" (भारतीय विद्या भवन) पृ० २४८–२४९
[2] इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, २२वाँ अधिवेशन, "सभापति का भाषण" पृ० ७,८
[3] "वैदिक एज" (भारतीय विद्या भवन) पृ० २५०
[4] "वैदिक एज" (भारतीय विद्या भवन) पृ० २५०
[5] ऋग्वेद १०।२७।९
[6] ऋग्वेद ७।२१।५; १०।९९।३
[7] ए० सी० दास—"ऋग्वेदिक कल्चर" पृ० १६४–१६५
[8] ऋग्वेद ३।७।३९;
[9] ऋग्वेद २।२।१०; ३।५३।१६
[10] ऋग्वेद ५।८६।२; ७।१५।२
[11] ऋग्वेद १।७।९; ६।४६।७

में अनु, द्रुह्यु, यदु, तुर्वश व पूरु को सम्मिलित करते हैं।[1] किन्तु इस सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है।[2] अनु, द्रुह्यु, यदु, तुर्वश आदि कदाचित् सरस्वती के दक्षिणी कछार में तथा पूरु उत्तरी कछार में गान्धार की सीमा पर रहते थे। उनके अतिरिक्त भरत, तृत्सु, शिवि, चेदि, सृञ्जय आदि भी उल्लिखित हैं। भरत, सरस्वती, आप्या, दृषद्वती आदि नदियों के किनारे रहते थे व सरस्वती व दृषद्वती के मध्यवर्ती भूभाग पर उनका अधिकार था, जिसे बाद में ब्रह्मावर्त नाम से सम्बोधित किया जाने लगा। तृत्सु भी उनसे सम्बन्धित थे व उन्हीं के पड़ोस में रहते थे। शिवि सिन्धु व असिक्नी (चिनाब) के किनारे रहते थे। सृञ्जय तृत्सु से सम्बन्धित थे व उनके पड़ोस में रहते थे। चेदि का भी उल्लेख आता है[3], जिसमें चेदिराज कशु की दानस्तुति है।[4] चेदि सप्तसिन्धु के दक्षिण पूर्व के भूभाग में रहते थे। सृञ्जय तृत्सु से सम्बन्धित थे तथा उन्हीं के निकटस्थ भूभाग में रहते थे।

इस प्रकार ऋग्वेद के आलोचनात्मक अध्ययन से तत्कालीन विभिन्न जातियों के अस्तित्व का बोध होता है। साधारणतया उन जातियों को तीन विभागों में विभाजित किया जा सकता है-(१) जंगल व पर्वतों में रहने वाले असभ्य लोग जो विभिन्न जातियों में बटे हुये थे व जिनसे आर्यों को युद्ध करना पड़ा था। उन सबको प्रागैतिहासिक आदिम जातियों में सम्मिलित किया जा सकता है, (२) सुसभ्य व सुसंस्कृत आर्य लोग जो अपनी राजनैतिक सत्ता स्थापित कर संस्कृति व सभ्यता के केन्द्र स्थापित करते थे, (३) विदेशी जातियाँ, जिनमें पणि, असुर, 'शिश्नदेवा' आदि का समावेश होता है। ये जातियाँ सभ्य थीं तथा उनकी संस्कृति, धर्म आदि आर्यों की संस्कृति, धर्म आदि से भिन्न थे।

विद्वानों ने यदु, द्रुह्यु, भरत आदि को ऋग्वेदकालीन विभिन्न जातियों के नाम माने हैं। किन्तु ऋग्वेद के विभिन्न उल्लेखों के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि यथार्थ में वे नाम

---

[1] ए० सी० दास—"ऋग्वदिक कल्चर" पृ० १६०, मैक्डानिल—'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर" पृ० १५३—१५४

[2] 'वैदिक एज' (भारतीय विद्या भवन) पृ० २६२, टिप्पणी १५

[3] ऋग्वेद ८।५।३७—३९

[4] ऋग्वेद ८।५।३७—३९

जातिसूचक न होकर व्यक्तिसूचक हैं।[1] ऋग्वेदकालीन सामाजिक व राजनैतिक परिस्थितियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आर्य लोग अपने सामाजिक विकास की उस अवस्था से बहुत आगे बढ़ गये थे जब वे विभिन्न जातियों में विभाजित होंगे व उनमें समाज-भावना के स्थान में जाति-भावना प्रबल रही होगी। ऋग्वेद-काल में उनमें प्रबल सामाजिक व राष्ट्रीय चेतना जागृत हो चुकी थी। पौराणिक साहित्य[2] के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, अनु, पूरु, भरत आदि राजाओं के नाम हैं। उनमें से पाँच राजा ययाति के पाँच पुत्रों के नाम हैं, जो कि चन्द्र वंश का चौथा राजा था। ययाति के पिता नहुष, पितामह आयुस् व प्रपितामह पुरूरवस् आदि सब मन्त्रद्रष्टा थे व उनके नाम ऋग्वेद में उल्लिखित हैं।[3] इस प्रकार यह मन्तव्य कि आर्य अपने विकास की प्रारम्भिक अवस्था में थे तथा विभिन्न जातियों में विभाजित थे, भ्रमपूर्ण प्रमाणित हो जाता है।

सारांश में, यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद काल में सप्तसिन्धु आदि प्रदेश में विभिन्न मानव जातियाँ रहती थीं, जिनमें सुसंस्कृत आर्य, सभ्य पणि, असुर आदि व असभ्य द्रविड़ आदि आदिम जातियाँ सम्मिलित थीं। भारत में बसी हुई विभिन्न जातियों के ऐतिहासिक विवेचन की सहायता से ऋग्वेदकालीन जाति-समस्या को समझा जा सकता है।

५

ऐतिहासिक विवेचन

प्राचीन व प्रागैतिहासिक काल में भारत में बसी विभिन्न जातियों का विद्वानों द्वारा ऐतिहासिक विवेचन किया गया है, जिसका ज्ञान प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक विकास को समझाने के लिये आवश्यकीय है।

---

[1] "इन्डियन हिस्ट्री कांग्रेस-प्रोसिडिंग्ज" (१९५७)—पृ० ३६-४३

[2] "मत्स्य पुराण" अ० २४, "हरिवंश" अ० ३०; "वायुपुराण, अ० ९३, "विष्णुपुराण" ४।१०; "अग्निपुराण" अ० २७४

[3] ऋग्वेद १।३१।११; ९।१०१।७-९; १।१२२।८, १०-११; १०।९५; ९।१०१।४-६

यह आश्चर्य की बात है कि भारत के प्रागैतिहासिक व प्राचीन ऐतिहासिक युग के मानव अस्थि-पञ्जरों के बहुत कम अवशेष प्राप्त हुये हैं। अतएव भारत में बसी प्राचीन जातियों का सम्बद्ध इतिहास तैयार करना एक समस्या बन गया है। भारत के अंग्रेज शासकों ने इस सम्बन्ध में शासकीय स्तर पर कुछ सिद्धान्त स्थिर करवाये जिनका प्रतिपादन सर हर्बर्ट रिस्ले ने किया।[1] उनके मतानुसार भारत के मानव-समाज को सात मोटे विभागों में विभाजित किया जा सकता है जैसे मंगोलाइड, इन्डोआर्यन, ड्रेविडियन, मंगोलो-ड्रेविडियन, आर्यो-ड्रेविडियन, सिदो-ड्रेविडियन व टर्कोइरानियन। श्री रामप्रसाद चन्दा ने प्राचीन भारतीय साहित्य व मानवशास्त्र के आलोचनात्मक अध्ययन द्वारा भारतीय जन-समुदाय के जातिगत तत्त्वों को समझाने का प्रयत्न किया।[2] जे० एच० हटन[3] ने मानवशास्त्र व मानवजाति-शास्त्र की सहायता से एक नया मत प्रतिपादित किया कि भारत की भूमि में कोई भी मानवजाति उत्पन्न नहीं हुई। भारत में बसा हुआ जन-समुदाय बाहिर से आकर यहाँ बसा तथा अपनी कुछ विशेषताओं को विकसित कर दूसरे देशों में चला गया। वे लोग निम्नाङ्कित क्रम से भारत में आये थे—

१. नेग्रिटोज—ये अफ्रिका के छोटे सिर वाले हब्शी थे जो प्राचीन काल में भारत में आने वाली जातियों में सर्वप्रथम थे। आजकल ये अन्दमान व मलाया में पाये जाते हैं जहाँ उन्होंने अपनी भाषा अभी तक सुरक्षित रखी है। भारत में आसाम के नागाओं में तथा दक्षिण भारत की कुछ जातियों में उनके चिह्न पाये जाते हैं।

२. प्रोटो-आस्ट्रेलॉइड—ये लोग काले तथा लम्बे सिर वाले थे तथा भूमध्यसागरीय जाति की प्रारम्भिक शाखा के थे जो कि पूर्व भूमध्य-सागरीय भूभाग (पेलेस्टाइन) से भारत में आये थे।

३. प्राचीन मेडिटरेनियन्स—ये लोग लम्बे सिर वाले थे जो आस्ट्रिक भाषा के प्राचीन रूप अपने साथ लाये।

४. सभ्य मेडिटरेनियन्स—ये लोग छोटे लम्बे सिर वाले थे जो कि भारत में आकर ड्रेविडियन्स बन गये।

---

[1] "सेन्सस ऑफ इण्डिया" १९०१

[2] "इन्डो-आर्यन रेसेज" i राजशाही, १९१६

[3] "सेन्सस ऑफ इण्डिया" १९३१; जि० १; पृ० ४२४ और आगे

५. आर्मेनॉइड्स—ये लोग छोटे सिर वाले अल्पाइन लोगों की एक शाखा के थे जो सभ्य मेडिटरेनियन लोगों के साथ आये व उनकी भाषा बोलते थे।

६. अल्पाइन्स—ये लोग छोटे सिर वाले थे तथा गुजरात व बंगाल में पाये जाते हैं। ये कदाचित् आर्यों के पहिले भारत आये व आर्य भाषा बोलते थे।

७. वैदिक आर्यन्स या नॉर्डिक्स—ये लोग लम्बे सिर वाले थे। ये वैदिक आर्य भाषा (संस्कृत) को भारत में लाये।

८. मंगोलाइड—ये लोग छोटे सिर वाले थे व भारत की उत्तर तथा पूर्व की सीमा पर बसे थे।

डॉ. बी. एस. गुहा[1] विभिन्न मतों का विवेचन कर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि भारत जनसमुदाय छः मुख्य जातियों व नव उपजातियों में विभाजित किया जा सकता है यथा :—

(१) नेग्रिटो
(२) प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉइड
(३) मंगोलॉइड जिनमें निम्नांकित समाविष्ट होते हैं :—
  (क) पेलियो मंगोलॉइड
    (क) लम्बे सिर वाले
    (ख) चौड़े सिर वाले
  (ख) टिबेटो-मंगोलॉइड
(४) मेडिटरेनियन जिनमें निम्नाङ्कित समाविष्ट होते हैं यथा:—
  (क) पेलियो-मेडिटरेनियन
  (ख) मेडिटरेनियन
  (ग) ओरियन्टल टाइप
(५) पश्चिम के छोटे सिर वाले लोग, जिनमें निम्नाङ्कित समाविष्ट होते हैं यथा :—
  (क) अल्पिनॉइड
  (ख) डिनेरिक
  (ग) आर्मेनॉइड
(६) नॉर्डिक

[1] "ऑक्सफोर्ड पैम्पलेट्स ऑन इन्डियन अफेयर्स" सं० २२—"रेशियल एलिमेन्ट्स इन दी पॉपुलेशन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस बॉम्बे १९४४

इस प्रकार मानवशास्त्र की सहायता से विद्वानों ने भारत के मानव-समुदाय की विभिन्न जातियों के बारे में विचित्र मत स्थिर किये हैं। मानवशास्त्र के विद्वानों का यह मानना कि भारत में जितना जनसमुदाय है वह सब का सब प्रागैतिहासिक काल में बाहिर से आया है कहाँ तक युक्तिसंगत हो सकता है, यह कहना कठिन है, कम से कम ऐतिहासिक तथ्यों के तो विरुद्ध है। प्राचीन काल में एशिया से ही मानव जातियाँ यूरोप में जाकर बसी हैं। सभ्यता व संस्कृति का विकास पहिले एशिया में हुआ, तत्पश्चात् यूरोप में। जब भारत में संस्कृति का सूर्य चमक रहा था उस समय यूरोप में कदाचित् मानव संस्कृति का जन्म भी नहीं हुआ था। इतना सब रहते हुए भी केवल रंग, सिर की लम्बाई-चौड़ाई आदि के सहारे मानवशास्त्र के नाम पर राजनैतिक स्वार्थ के वशीभूत होकर कुछ सिद्धान्त स्थिर करना सर्वथा अनुचित है। इसमे भौगोलिक परिस्थितियाँ भी विचारणीय हैं। कालक्रम से भौगोलिक परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं तथा उसके अनुसार मानव के रूप, रंग, रहन-सहन आदि भी परिवर्तित होते रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में रंग, सिर की लम्बाई-चौड़ाई आदि के सहारे कुछ भी निश्चित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार मानव शास्त्र के नाम पर जो मत स्थिर किये जाते हैं वे कदाचित् भ्रामक भी सिद्ध हो सकते हैं।

यदि भारत में बसे मानव समुदाय की विभिन्न जातियों के बारे में निष्पक्ष वृत्ति से विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि रूप, रंग, शरीर की बनावट आदि के सहारे भारत का मानव समुदाय इस प्रकार विभाजित किया जा सकता है —

(१) उत्तर भारत का जनसमुदाय।
(२) दक्षिण भारत का जनसमुदाय।
(३) बंगाल, आसाम आदि का जनसमुदाय।
(४) असभ्य, वन्य व पर्वतीय जातियाँ।

इसी आधार पर प्राचीन भारत में जनसमुदाय की संस्थिति को समझा जा सकता है। ऋग्वेदकालीन मानव-समुदाय का मोटे तौर पर इस प्रकार विभाजन किया जा सकता है —

(१) सुसभ्य व सुसंस्कृत मानव समुदाय जिसे 'आर्य' नाम से सम्बोधित किया जाता था।

(२) वन तथा पर्वतों में रहनेवाला असभ्य मानव-समुदाय जिसे 'दस्यु', 'दास', 'कृष्णवर्ण' आदि नामों से सम्बोधित किया जाता था।

(३) कुछ विदेशी जातियाँ जैसे पणि, असुर, 'शिश्नदेवाः' आदि। किन्तु इनके बारे में विद्वानों में बहुत मतभेद है।

ऋग्वेदकालीन 'आर्य' भारत में कहीं बाहिर से आये अथवा नहीं, तथा उनका आदिम निवासस्थान कहाँ था, इस सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है, अतएव निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। किन्तु इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि ऋग्वेद में आर्यों के बाहिर से आने का कोई भी उल्लेख नहीं है। उसमें तो उन्हें कितने ही समय से भारत के निवासी ही प्रतिपादित किया गया है।

६

भौगोलिक परिस्थिति का सांस्कृतिक विकास पर प्रभाव

यदि भारत की भौगोलिक अवस्था पर सांस्कृतिक दृष्टि से विचार किया जाय तो कितनी ही महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होंगी। नदियों का पवित्र माना जाकर पूजा जाना स्पष्टतया बताता है कि सांस्कृतिक जीवन के विकास में नदियों का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतीय संस्कृति के बारे में तो यह बात बिलकुल ही ठीक सिद्ध होती है। ऋग्वेद में नदियों की स्तुति में कितने ही मन्त्र हैं। सरस्वती नदी को 'देवीतमे', 'नदीतमे' आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। ऋग्वेदकालीन ऋषियों ने विभिन्न नदियों के तट पर ही सांस्कृतिक केन्द्र बनाये थे तथा तत्कालीन राजनैतिक जीवन में भी नदियों का स्थान कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं था। आज भी भारत में नदियाँ देवियों के समान पवित्र मानी जाती व पूजी जाती हैं। उन सब में गंगा नदी तो साक्षात् माता ही समझी जाती है। इसी नदी के किनारे प्राचीन आर्यों ने अपनी संस्कृति को विकसित किया था। चीन, बेबिलोनिया, मिस्र आदि प्राचीन देशों की संस्कृतियाँ भी नदियों के किनारे ही विकसित हुई थीं।

निसर्ग ने भारत पर जितनी कृपा की है उतनी कदाचित् ही किसी देश पर की हो। अच्छे से अच्छा जलवायु, सुन्दर नदियाँ व झरने, मलयाचल की शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु आदि उसे प्राप्त है। अन्न, वस्त्र, फल, फूल आदि भारत में बहुत ही सरलता से प्राप्य हैं। प्रकृति देवी ने अपने सौन्दर्य को यहाँ के जंगलों, नदियों, पर्वतों आदि में बिखेर दिया है, जिससे कितने ही कवि हृदयों ने प्रेरणा प्राप्त की है। ऋग्वेद के आध्यात्मिक तथा काव्यमय वातावरण का रहस्य भारत की भौगोलिक परिस्थितियों में ही छिपा हुआ है। नासदीय सूक्त का आध्यात्मिक विवेचन व उषा-मन्त्रों का प्राकृतिक सौन्दर्ययुक्त काव्य केवल उसी समाज में सम्भव है, जहाँ जीवन-कलह ने विकराल रूप धारण नहीं किया है तथा जीवन की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति सरलता से होती है। इस बात को कौन अस्वीकार कर सकता है कि कालिदास, भास, अश्वघोष, बाण, भवभूति आदि कवियों ने प्रकृति देवी के ही सौन्दर्य को अपनी रचनाओं में भर दिया है? यदि भारत में घने जंगल, नदी, पर्वत आदि न होते तो कदाचित् यहाँ काव्य विकसित ही न हो पाता।

भौगोलिक परिस्थिति के कारण ही भारतभूमि सस्य-श्यामला रहती है। यहाँ रोटी का सवाल जटिल नहीं हो सकता। प्राचीन काल में यही हाल था। अन्न, वस्त्र आदि बहुत ही सरलता से प्राप्त होते थे, इसलिये यहाँ के निवासी जीवन के अन्य पहलुओं पर भी अच्छी तरह से विचार कर सके। पेट खाली रहने पर ईश-भजन भी नहीं सूझता। पेट भर खाने के पश्चात् यहाँ के निवासी जीवन की पहेलियों को सुलझाने लगे। जीवन, मरण, जीव, ब्रह्म, जगत् आदि सम्बन्धी प्रश्न उन्हें क्षुब्ध करने लगे। परिणामतः इस दिशा में अथक प्रयत्न किये गये, जिन्हें वेद, उपनिषद् आदि ग्रन्थों में देखा जा सकता है। इन्हीं प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप पुनर्जन्म, ब्रह्म, जीव, योग आदि पारलौकिक तत्त्वों व सिद्धान्तों को समझा गया। भारतीय संस्कृति में पारलौकिक जीवन को जो महत्त्व दिया गया है, उसका यही कारण है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति दार्शनिक भूमि पर स्थित है। यहाँ के निवासियों ने जीवन के हर एक अंग को विकसित किया। अन्न, वस्त्र आदि के सरलता से मिलने पर वे आलसी व निकम्मे नहीं बने किन्तु उन्होंने अपने आर्थिक, सामाजिक आदि जीवन को अधिक सुन्दर, व्यवस्थित व सुसंगठित

बनाया। इस प्रकार मानव-हित को सामने रख कर एक सुन्दर सर्वाङ्गीण संस्कृति का विकास हुआ, जिसका प्रचार विदेशों में भी किया गया।

(इस सर्वाङ्गीण संस्कृति के विकास का श्रीगणेश ऋग्वेद-काल से होता है। ऋग्वेद में सांस्कृतिक विकास के विभिन्न तत्त्व व मूलभूत सिद्धान्त वर्तमान हैं। प्राचीन भारतीय धर्म, दर्शन, समाज-शास्त्र, राजनीति, अर्थशास्त्र, साहित्य, कला, गणितादि विद्या आदि का श्रीगणेश ऋग्वेद से ही होता है। ऋग्वेद में जो आध्यात्मिक, बौद्धिक व आर्थिक विकास प्रतिबिम्बित हुआ है उसके मूल में भारत की भौगोलिक परिस्थिति ही है। यहाँ की सुन्दर जलवायु, उर्वरा भूमि, नियमित वर्षा, नदी, पर्वतों आदि ने ऋग्वेद-कालीन आश्चर्यजनक आर्थिक विकास में अपना हाथ बटाया था। यहाँ के आर्थिक विकास से ही प्रभावित होकर पाणि, असुर आदि विदेशी ऋग्वेद-काल में भारत में आकर बसे तथा इस प्रकार भारत का वैदेशिक व्यापार उन्नत अवस्था को प्राप्त हुआ।

इस प्रकार भारत की भौगोलिक परिस्थिति ने उसके सांस्कृतिक विकास में पूरी सहायता दी है। यदि हिमालय, गंगा, यमुना, समुद्र किनारा, पर्वत आदि भारत में न रहते तो कदाचित् भारत का वही हाल होता जो आज अधिकांश आफ्रिका का है तथा भारतीय संस्कृति 'हब्शी-संस्कृति' से कुछ बढ़ कर न रहती।)

७

उपसंहार

(सारांश में यह कहा जा सकता है कि भारत की भौगोलिक परिस्थिति के ही कारण अत्यन्त प्राचीन काल से यहाँ सांस्कृतिक विकास प्रारंभ हो चुका था, जिसके सर्वप्रथम दर्शन हमें ऋग्वेद में होते हैं। इस सांस्कृतिक विकास का सम्पूर्ण श्रेय आर्यों को है जिनका उल्लेख ऋग्वेद में यत्र-तत्र आता है। इस सुसंस्कृत व प्राचीन देश ने विदेशियों को भी आकर्षित किया व कितने ही विदेशी

यहाँ बस गये जिनका उल्लेख वैदिक साहित्य में आता है। पाश्चिमात्य देशों के प्राचीन सांस्कृतिक केन्द्रों में भारतीय आर्यों व उनकी संस्कृति की ख्याति पहिले से ही पहुँच गई थी। प्राचीन भारतीय संस्कृति का प्रभाव विश्व की विभिन्न प्राचीन संस्कृतियों पर स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। प्राचीन भारत के स्वास्थ्यप्रद व शक्तिवर्धक जलवायु आदि के द्वारा अपनी विभिन्न शक्तियों का सम्यक् विकास कर के प्राचीन भारतीयों ने ऋग्वेद काल से ही भारत के बाहिर अपनी संस्कृति की पताका फहराना प्रारंभ कर दिया था, जिसकी झाँकी हमें एशिया मायनर के ई० पू० १६०० या १४०० के अभिलेखों तथा पारसियों के धर्मग्रन्थ अवेस्ता में दिखाई देती है।

इस प्रकार भारत के क्षत्रियों तथा वैश्यों ने भी अपने २ कार्य-क्षेत्रों में उन्नति कर विदेशों में अपनी सत्ता तथा व्यापार केन्द्र स्थापित किये थे।

प्राचीन भारत के आर्यों ने भौगोलिक परिस्थिति का पूरा लाभ उठा कर मानव जीवन की बहुत सी पहेलियों के सफल हल ढूँढ निकाले। प्राचीन काल में विश्व के अन्य भागों के मानव समुदाय अधिकांश जीवन-कलह की गुत्थियों व मानव षड्रिपुओं के नग्न अट्टहास में ही अपना समय व्यतीत करते रहे। किन्तु भारत के आर्यों ने जीवन कलह व मानव षड्रिपुओं पर विजय प्राप्त करके सर्वाङ्गीण मानव संस्कृति को विकसित किया जिससे इस बीसवीं शताब्दि का मानव समुदाय भी जीवन के अनमोल पाठ पढ़ सकता है। प्राचीन भारत के सांस्कृतिक विकास ने सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य विभिन्नता में एकता के दर्शन कराने का किया। प्राचीन भारतीय संस्कृति ने विभिन्न जातिवाले, विभिन्न भाषाभाषी तथा विभिन्न रीतिरिवाजवाले मानव-समुदाय को सांस्कृतिक एकता के सूत्र में बाँध दिया। विश्व के इतिहास में इतना सफल सांस्कृतिक प्रयोग और कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता।)

इस प्रकार प्राचीन भारत के सांस्कृतिक विकास पर भौगोलिक परिस्थितियों का क्या प्रभाव पड़ा, यह स्पष्ट हो जाता है।

अध्याय—३

१

सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

संस्कृति

'संस्कृति' शब्द से मानव-समाज की उस स्थिति का बोध होता है, जिससे उसे 'सुधरा हुआ' 'ऊँचा' 'सभ्य' आदि विशेषणों से आभूषित किया जा सकता है। देश-देश के आचार-विचार भिन्न रहने से सुधार सबन्धी भावना भी भिन्न रहती है। किन्तु इस भिन्नता के अन्तर्गत एकता अवश्य है। इसलिये भिन्नता केवल बाह्य है, न कि आन्तरिक। संस्कृति के मूल तत्त्व तो सब देशों में एक से रहते हैं, देशकाल के अनुसार उसके बाह्य स्वरूप में अन्तर रहना स्वाभाविक है।[1]

निसर्ग ने मनुष्य में तीन प्रकार की शक्तियाँ भर दी हैं, जिनका सम्बन्ध शरीर, मन या बुद्धि व आत्मा से है। शारीरिक, मानसिक या बौद्धिक तथा आत्मिक शक्ति का विकास ही संस्कृति का मुख्य उद्देश है। जिस संस्कृति में इस विकास का जितना आधिक्य है, वह उतनी ही ऊँची मानी जायगी। इसे संस्कृति की कसौटी भी कहा जा सकता है।

वेदकालीन संस्कृति को उपरोक्त कसौटी पर कसें, तो वह बिलकुल ही ठीक उतरेगी, क्योंकि प्राचीन भारत मे शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक शक्ति के सामञ्जस्यपूर्ण विकास को मानव-जीवन का ध्येय माना गया था। मानव-जीवन को एक ऐसे ढाँचे में ढालने की व्यवस्था थी जिससे ईश्वरप्रदत्त शक्तियों का सानुपातिक विकास हो सके। तत्कालीन भारत में शारीरिक शक्ति के विकास के लिये ऐसे नियम व ऐसा जीवन-क्रम बनाया गया था, जिससे शारीरिक विकास, मानसिक व आत्मिक विकास के मार्ग

[1] कोल—"सोशियल थियरी" पृ० २०१–२०९

में रोड़ा न अटकाकर उनका सहायक ही बने। व्यायाम, यम, नियम, प्राणायाम, आसन, ब्रह्मचर्य आदि के द्वारा शरीर के विभिन्न अङ्गों को पुष्ट किया जाता था।[1] वेद में 'पश्येम शरदः जीवेम शरदः शतं'[2] आदि द्वारा कम से कम सौ वर्ष तक जीवित रहने का दृढ़ संकल्प दर्शाया है।

(प्राचीन भारत में व्यायाम के द्वारा शारीरिक शक्ति का विकास किया जाता था। यह विकास मानसिक शक्ति के विकास के लिये भूमिका भी तैयार करता था। यम, नियम द्वारा सफलतापूर्वक इन्द्रियों पर नियन्त्रण स्थापित किया जाता था[3] तथा प्राणयाम व आसन द्वारा चंचल चित्तवृत्ति का निरोध कर उसे एकाग्र बनाया जाता था। प्राणायाम फेफड़ों को अधिक शक्तिशाली बनाकर हृदय को शक्ति प्रदान करता है, जिससे मानसिक शक्ति के विकास में सहायता मिलती है। मस्तिष्क में शुद्ध रक्त अधिक मात्रा में पहुँचने से विचार-शक्ति विकसित होती है।[4] इस प्रकार प्राचीन भारत में शारीरिक शक्ति के विकास की एक ऐसी योजना बनाई गई थी, जिससे मानसिक व आत्मिक विकास को पूरी-पूरी सहायता मिले। यद्यपि इस योजना का विशद वर्णन योगसूत्र, मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में आता है किन्तु समाज ने उसे वैदिक युग से ही अपना लिया था, जैसा कि वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है। 'ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।' अथर्ववेद[5] के इन वचनों में उक्त योजना का रहस्य भरा है।

वेदकालीन भारत में मनुष्य के अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग को अच्छी तरह से समझा गया था। कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि, सूक्ष्म-शरीर, स्थूलशरीर आदि के ज्ञान द्वारा प्राचीन भारत में मानसिक विकास की एक सुन्दर योजना बनाई गई थी, जिसे वर्णाश्रम-व्यवस्था की सहायता से सफल बनाया जाता था। वेदकालीन

[1] "पातञ्जल योगसूत्र", साधनापाद, सू० २८

[2] यजुर्वेद ३६।२४

[3] "योगसूत्र", साधनापाद, सू० ३०, ३२, मनुस्मृति ४।२०४

[4] "योगसूत्र, साधनापाद, सू० २४,, मनुस्मृति ६।७१; नारायणस्वामी—"कर्तव्य दर्पण", पृ० १०४–११३

[5] ११।५।१९

ऋषियों ने विश्व की पहेलियों को समझना ही मानसिक विकास का उद्देश माना था।[1] उन्होंने जीव व ब्रह्म की गुत्थियों को सुलझाकर उनमें भी एकत्व के दर्शना का प्रयत्न किया जैसा कि वेद,[2] उपनिषद्,[3] आदि में उल्लिखित है। उन्होंने परमात्मा को उसकी कृति से समझने का प्रयत्न किया, मानव-सेवा को ही परमात्मा की सेवा समझा। परमात्मा की महिमा को उसकी कृति से समझने के भाव से प्रेरित होकर ही वैदिक ऋषियों ने जंगल में वसना उचित समझा[4] क्योंकि वहीं तो परमात्मा के रहस्यों को समझाने वाली प्रकृति देवी के साक्षात्कार हो सकते हैं; वहीं पुरुष व प्रकृति का अट्टहास देख व समझ सकते हैं। यही कारण है कि आश्रम व्यवस्था की प्रथा के अनुसार ब्रह्मचारियों व वानप्रस्थियों को अपना जीवन जंगल में ही व्यतीत करना पड़ता था।[5] वहाँ के शुद्ध वातावरण में गुरुकुल रहते थे, जहाँ ब्रह्मचारी ब्रह्मप्राप्ति में प्रयत्नशील होते थे। वे केवल विद्या में ही रत न रहते थे। उपनिषदों के अनुसार केवल विद्या में रत रहनेवाले महान् अन्धकार में रहते हैं।[6] जो आजन्म ब्रह्मचारी रहते थे, वे समय की गति व इतिहास के पृष्ठों को भी उलट देते थे। इस प्रकार गुरुकुल के ब्रह्मचारी परमात्मा की कृति का अध्ययन कर उसकी लिखी हुई पुस्तक को अच्छी तरह पढ़ मानसिक विकास में अग्रसर होते थे जिससे आत्मिक विकास में पूरी पूरी सहायता मिले[7]।

आत्म-दर्शन ही वेदकालीन संस्कृति का निचोड़ है। उसके अनुसार आत्मा को समझ उसे जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त करना ही मानवजीवन का एकमात्र ध्येय है। तत्कालीन ऋषियों ने भी कहा है कि 'आत्मानं विजानीहि' (अपनी आत्मा को पहिचानो)। उन्होंने आत्मविकास के लिये जो साधन बनाये थे, उनमें अष्टाङ्गयोग[8]

[1] "ऋग्वेद" ७।८९; १०।१२१

[2] यजुर्वेद ४०।७

[3] छान्दोग्योपनिषद् ६।८।७

[4] मत्स्यपुराण ११४; वायुपुराण १।१५

[5] मुण्डकोपनिषद् २।११; मनुस्मृति ३।१; ६।१–५

[6] ईशोपनिषद् मं० ९

[7] अथर्ववेद ११।५।१९

[8] योगसूत्र, २।२९

का स्थान बहुत ऊँचा है, पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी आत्मिक विकास में सहायता प्रदान करता है।

इस प्रकार वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि वैदिककालीन समाज में शारीरिक, मानसिक व आत्मिक शक्तियों के आनुपातिक विकास द्वारा सान्स्कृतिक मार्ग में अग्रसर होने की व्यवस्था वर्तमान थी। इसलिये तत्कालीन समाज मानव जीवन के विभिन्न अङ्गों के विकास के लिये प्रयत्नशील रहता था।

२

सांस्कृतिक महत्त्व

उपरोक्त दृष्टिकोण के आधार पर यदि वैदिक साहित्य पर विचार किया जाय तो उसका सांस्कृतिक महत्त्व स्पष्ट होगा। विश्व के साहित्य म उसका अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस साहित्य का सम्बन्ध एक ऐसी जाति से रहा है जिसने प्राचीन काल में विश्व के विभिन्न भागों को अपने सांस्कृतिक विकास से प्रभावित किया था व जिसका विस्तार शताब्दियों तक होता रहा।

प्राचीन विश्व के इतिहास में आर्य जाति, आर्य संस्कृति व आर्य भाषा समस्या बन गये हैं। यह निर्विवाद है कि एशिया व यूरोप में संस्कृति के सूर्योदय का श्रेय इसी जाति को है। इस आर्य जाति की आत्मा वैदिक साहित्य म ओत प्रोत है। अतएव उक्त साहित्य का सांस्कृतिक महत्त्व स्पष्ट है। प्राचीन भारतीय संस्कृति के लिये तो वैदिक साहित्य प्रेरणा-स्रोत रहा है। वैदिक साहित्य भारतीयों के प्राचीनकालीन पूर्वजों द्वारा सांस्कृतिक विकास की दिशा में किये गये विभिन्न प्रयत्नों का दिग्दर्शन कराता है। उसमें एक सर्वाङ्गीण संस्कृति के मूलभूत सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वय है।

वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से हमें स्पष्टतया ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतीयों ने मानव जीवन की समस्याओं को सुलझाने के क्या प्रयत्न किये तथा उनमें उन्हें कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई। इस सम्बन्ध में प्राचीन भारतीयों ने जीवन के सामाजिक,

धार्मिक, राजनैतिक आदि विभिन्न क्षेत्रों में जो प्रगति की उसका दिग्दर्शन वैदिक साहित्य में सम्यक् रूप से होता है। (मैथ्यू आर्नोल्ड की साहित्य की परिभाषा के अनुसार वैदिक साहित्य यथार्थ में जीवन की समालोचना है। उसमें एक सुसंस्कृत व सभ्य जाति के जीवन के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित अनुभव अङ्कित हैं जिनका मानव-इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

सभ्य जीवन का आदि स्रोत

वैदिक साहित्य को सभ्य व सुसंस्कृत जीवन का आदि स्रोत भी मान सकते हैं। विद्वानों ने ऋग्वेद को मानव-ग्रन्थालय का प्राचीनतम ग्रन्थ माना है। मानव जाति के इतिहास में वैदिक साहित्य के समान प्राचीन व सर्वाङ्गीण साहित्य अप्राप्य ही है। इस साहित्य में सांस्कृतिक जीवन के मौलिक तत्त्वों का समावेश है। इसमें कितने ही प्रयोगों द्वारा अनेकत्व में एकत्व के दर्शन करने के प्रयत्न किये गये हैं जिसका मूलमंत्र 'कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्' है।[1] वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से एक समन्वयात्मक संस्कृति के विकास के दर्शन होते हैं।) ऋग्वेद में आर्य व दस्युओं के संघर्ष, दस्युओं का पराजित होना तथा अन्त में आर्यों द्वारा आत्मसात् किये जाने का स्पष्ट वर्णन है। आर्यों ने पराजित दस्युओं को धीरे २ अपने समाज में स्थान दिया और वे समाज के अङ्ग बन गये। आर्य व दस्यु में वर्ण (रंग) आदि का भेद था, अतएव इस भेदभाव को भुलाने की दृष्टि से समाज को व्यवस्थित बनाने के लिये वर्णव्यवस्था का सूत्रपात किया गया। इस वर्णव्यवस्था में दस्युओं को भी स्थान दिया गया व उन्हें शूद्र वर्ण में रखा गया। ऋग्वेद[2] में वर्णव्यवस्था के उल्लेख के अवसर पर चारों वर्णों का नामनिर्देश है। समाज को पुरुष का रूपक दिया गया है तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र को क्रमशः उस समाजरूपी पुरुष के मुख, भुजा, जंघा व पैरों से सम्बन्धित किया गया है। इस प्रकार सुसभ्य व संस्कृत आर्यों ने असभ्य आदिम निवासियों को जीतने के पश्चात् अपने समाज में स्थान दिया तथा धीरे धीरे उन्हें आर्यत्व के रंग में रंग दिया।

---

[1] ऋग्वेद १०।६५।११

[2] १०।९०

अथर्ववेद तथा गृह्यसूत्रों में होते हैं। प्राचीन भारतीय संस्कृति के विकास की तुलना किसी महान् नदी से की जा सकती है, जो अपने गन्तव्य स्थान तक पहुँचने के पहिले कितनी ही छोटी नदियों, नाले आदि को आत्मसात् करती हुई बहती है। इसके अतिरिक्त वेदकालीन संस्कृति ने विभिन्न भाषा-भाषी, विभिन्न रहन-सहन, रीति-रिवाज वाले मानव-समुदायों को एकता के सूत्र में बाँधना प्रारंभ किया व इस प्रकार विभिन्नता में एकता को जन्म दिया। भारत की यह सांस्कृतिक विशेषता आज तक भी वर्तमान है।

ऐहिकता व पारलौकिकता

ऐहिकता व पारलौकिकता का सुन्दर समन्वय भी वेदकालीन समाज की विशेषता थी। वैदिक साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में न तो केवल भौतिकवाद को ही अधिक महत्त्व दिया जाता था और न केवल आध्यात्मिकवाद को ही। वैदिक साहित्य में स्थान-स्थान पर भौतिक समृद्धि की आकांक्षा दर्शाई गई है।[1] पुत्र-पौत्र प्राप्ति, द्रव्य-प्राप्ति आदि वेदकालीन आर्यों की महत्त्वाकांक्षा के प्रेरणास्रोत थे[2]। उन्होंने भौतिक उन्नति में सफ-प्राप्त करने के लिये कोई बात उठा न रखी थी। एक उदीयमान राष्ट्र की भौतिक विकास व समृद्धि के प्रति जो आकांक्षा या महत्त्वाकांक्षा रहती है ठीक वही आकांक्षा या महत्त्वाकांक्षा वेदकालीन समाज में भी वर्तमान थी। किन्तु समाज में निरे भौतिकवाद को ही स्थान नहीं था, सामाजिक-जीवन की समस्त भूमिका आध्यात्मिक धरातल पर आश्रित थी। वेदकालीन आर्यों ने बहुत पहिले से आत्मा को पहिचानना सीख लिया था तथा इस बात का भी अनुभव किया था कि इस विश्व में भौतिकता के परे भी बहुत कुछ है और वही यथार्थ में ज्ञेय व प्राप्तव्य है। ऋग्वेद में सृष्टि की उत्पत्ति आदि का वर्णन करते हुए समझाया गया है कि 'सहस्रशीर्ष, सहस्राक्ष व सहस्रपात पुरुष इस भूमि को चारों ओर से ढककर उसके ऊपर दस अङ्गुल स्थित है। ''वह पुरुष उसकी जितनी महिमा है, उससे भी बड़ी

[1] ऋग्वेद १०।१२१।१० : वय स्याम पतयोरयीणाम्"

[2] ऋग्वेद १०।८५।४१, ४२ : "रयिं च पुत्राश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम् ॥ इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् । क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥"

है। ये सब प्राणी उसका एक चतुर्थांश मात्र है, उस का तीन चतुर्थांश (३ भाग) जो अमृत्व से पूर्ण है स्वर्ग में स्थित हैं[1]। इन वचनों में परमात्मा का अस्तित्व व विश्व की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि स्पष्टतया समझाई गई है। वैदिक साहित्य में कितने ही स्थलों पर ब्रह्म व जीव के निरूपण द्वारा मानव जीवन के विकास में आध्यात्मिकता का महत्त्व समझाया गया है। यजुर्वेद में आध्यात्मिकतापूर्ण जीवन-क्रम को सुन्दर शब्दों में समझाया गया है—'इस भू मण्डल पर जो कुछ है वह सब ईश्वर से व्याप्त है। अतएव त्यागवृत्ति से सब वस्तुओं का उपभोग करना चाहिये। किसी के धन को ग्रहण करने की इच्छा नहीं रखना चाहिये।'[2] यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में, जिसे ईशोपनिषद् भी कहते हैं, अध्यात्मवाद का निरूपण बहुत ही प्रभावशाली ढङ्ग से किया गया है। उसमें कहा गया है कि आत्मा का हनन करने वाला व्यक्ति गूढ अन्धकारयुक्त असुर्य लोक में प्रवेश करता है[3]। 'जो सब भूतों को आत्मा के समान समझ एकत्व का अनुभव करता है उसे कोई मोह-शोक आदि पराभूत नहीं करता'।[4] इस प्रकार वैदिक साहित्य में अध्यात्मवाद का सुन्दर निरूपण किया गया है। जैसा कि पहिले स्पष्ट कर दिया गया है, वैदिक साहित्य में अध्यात्मवाद तथा भौतिकवाद के मध्य सामञ्जस्य स्थापित किया गया है तथा आत्मा के अस्तित्व के द्वारा इहलोक परलोक में भी सामञ्जस्य स्थापित किया गया है। पुनर्जन्म के सिद्धान्त की स्थापना के द्वारा वर्तमान जीवन को अनन्त जीवनों की एक कड़ी मात्र माना गया तथा 'भाग्य' 'पूर्व सञ्चित' आदि की कल्पना द्वारा मानव के गुण दोषों का विवेचन किया गया। वेदकालीन समाज में आत्मा

---

[1] ऋग्वेद १०।९०।१, ३ : 'सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्ष महस्रपात्। स भूमि विश्वतो वृत्वात्यतिष्टद्दशाङ्गुलम्॥ एतावानस्य महिमातो ज्यायाश्च, पूरुष। पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृत दिवि॥'

[2] यजुर्वेद ४०।१ "ईशावास्यमिदं सर्व यत्किञ्च जगत्या जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध कस्य स्विद्धनम्॥'

[3] असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृता। ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति य के चात्महनो जना॥—यजुर्वेद ४०।३

[4] यजुर्वेद—४०।७ "यस्मिन्सर्वाणिभूतान्यात्मैवाभूद्विजानत। तत्र को मोह क शोक एकत्वमनुपश्यत॥

की अमरता तथा पुनर्जन्म का सिद्धान्त सर्वमान्य था। उसी सिद्धान्त के आधार पर नैतिकतापूर्ण आध्यात्मिक जीवन को विकसित किया गया था। प्राचीन ऋषियों ने भी धर्म की व्याख्या इसी सिद्धान्त के आधार पर की है[1]। उन सिद्धान्तों को धर्म कहा गया जिनसे अभ्युदय अर्थात् इस लोक से सम्बन्धित या भौतिक उन्नति तथा निःश्रेयस् अर्थात् पारलौकिक या आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त होती है। इस प्रकार वेदकालीन जीवन में भौतिकता तथा आध्यात्मिकता को समुचित स्थान दिया गया था व दोनों के मध्य सुन्दर सामञ्जस्य उपस्थित किया गया था।

वर्गचतुष्टय

ऐहिकता व पारलौकिकता अथवा भौतिकता व आध्यात्मिकता के सामञ्जस्य का व्यावहारिक रूप हमें वर्गचतुष्टय के सिद्धान्त के रूप में प्राप्त होता है। वर्गचतुष्टय के सिद्धान्त के अनुसार मानव जीवन का ध्येय वर्गचतुष्टय अर्थात् धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष की प्राप्ति होना चाहिये। यदि इन चारों का आलोचनात्मक अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट होगा कि किस प्रकार उन्हें भौतिकता व आध्यात्मिकता से सम्बन्धित किया जा सकता है। उनमें धर्म व मोक्ष को आध्यात्मिक उन्नति से सम्बन्धित है, अर्थ व काम को भौतिक उन्नति से सम्बन्धित किया जा सकता है। अर्थ से भौतिक सम्पत्ति आदि अर्जन कर सांसारिक वैभव, ऐश्वर्य आदि के उपभोग का बोध होता है। काम से उच्च कोटि की इच्छाएँ, आकाक्षाएं तथा महत्त्वाकांक्षाओं का बोध हो सकता है। धर्म से ज्ञानोपार्जन द्वारा आध्यात्मिक उन्नति के साधन प्राप्ति को सम्बन्धित किया जा सकता है तथा मोक्ष के अन्तर्गत उन साधनों द्वारा आध्यात्मिकता को मूर्त स्वरूप दिया जाता है। इस प्रकार भौतिकता व आध्यात्मिकता के मध्य सुन्दर सामञ्जस्य की स्थापना के लिये वर्गचतुष्टय अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि के सिद्धान्त की परम आवश्यकता है। आश्रम-व्यवस्था का विकास भी इसी वर्गचतुष्टय की दृष्टि से किया गया था। ब्रह्मचर्य्यादि चार आश्रम साधारणतया धर्म आदि वर्गचतुष्टय से सम्बन्धित किये जा सकते हैं। यद्यपि ऋग्वेद आदि में वर्गचतुष्टय का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं आता, फिर भी विभिन्न आश्रमों, भौतिकता,

[1] वैशेषिकसूत्र (कणादकृत) १।१।२ "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धि स धर्मः।"

आध्यात्मिकता आदि का यत्र तत्र उल्लेख व निर्देश आता है, जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि वर्गचतुष्टय की भावना समाज में वर्तमान थी। उपनिषदों के साहित्य में तो यह भावना पूर्णतया ओत प्रोत है।

वर्गचतुष्टय की भावना में मानव के समग्र जीवन के सानुपातिक विकास का भाव भी निहित है। आश्रम व्यवस्था व वर्गचतुष्टय की सहायता से मानव को अपनी विभिन्न नैसर्गिक शक्तियों के विकास के लिये प्रेरणा प्राप्त होती है। वेदकालीन समाज में जीवनक्रम जिन सिद्धान्तों पर विकसित किया गया था उनकी सहायता से शारीरिक, मानसिक, आत्मिक आदि शक्तियों के सम्यक् विकास के लिये अच्छा अवसर प्राप्त होता था, व सांस्कृतिक जीवनके विभिन्न पहलुओं को विकसित किया जाता था। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि से सम्बन्धित ज्ञानोपार्जन की व्यवस्था भी तत्कालीन समाज में की गई थी। वैदिक साहित्य से ही धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र तथा मोक्षशास्त्र अथवा वेदान्तादि दर्शन से सम्बन्धित पारलौकिक ज्ञान का श्रीगणेश होता है। प्राचीन भारत में उन शास्त्रों का कितना आश्चर्यजनक विकास हुआ था यह बात इतिहास-सिद्ध है। यह भी मन्तव्य सर्वमान्य है कि विभिन्न शास्त्रों के मौलिक तत्त्व वेदादि साहित्य में वर्तमान है, जिनसे उन शास्त्रों के विकास के लिये प्रेरणा प्राप्त हुई।

8

सामाजिक जीवन—विशेषताएँ

उपरोक्त सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की दृष्टि से यदि वेदकालीन सामाजिक जीवन पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो कुछ विशेषताएँ दृष्टिगोचर होंगी, जैसे संश्लेषणात्मक विकास, व्यष्टि व समष्टि का सामञ्जस्य, आत्मविकासोन्मुखी भौतिक व आर्थिक समृद्धि, पुनर्जन्म का सिद्धान्त, योग की प्रक्रियाएँ, दार्शनिक पृष्ठभूमि आदि। वैदिक साहित्य में जो समाज प्रतिबिम्बित है उसके आलोचनात्मक अध्ययन से उपरिनिर्दिष्ट विशेषताएँ स्पष्टतया समझ में आ जायँगी।

संश्लेपणात्मक विकास

संश्लेपणात्मक विकास वेदकालीन सामाजिक जीवन की महत्वपूर्ण विशेषता है। सामाजिक विकास की संश्लेपणात्मक प्रणालिका के कारण ही आर्य व दस्यु, जिन्होंने संघर्षात्मक जीवन प्रारंभ किया था, मैत्रीभाव से समाज के अङ्ग बनकर रहने लगे व सांस्कृतिक विकास मे हाथ बँटाने लगे। संघर्षात्मक जीवन के युग में आर्य अपने देवताओं से प्रार्थना किया करते थे कि काले रंगवाले दस्युओं को पर्वतों की गुफाओं में भगा[1] दो, व जिनकी प्रार्थना के परिणामस्वरूप इन्द्र 'दस्यु-हन्ता' कहलाया। ये ही आर्य संश्लेपणात्मक प्रणालिका से प्रभावित होकर दस्युओं या शूद्रों से मैत्रीभाव रखने की आकांक्षा धारण करने लगे।[2] धीरे २ दस्युओं या शूद्रों को समाज का अविकल अङ्ग बना लिया गया। समाज में शूद्रों की उपयोगिता सिद्ध करने के लिये यह कहा गया कि शूद्र समाजरूपी पुरुष के पैरों से उत्पन्न हुए हैं।[3] इसका तात्पर्य्य यह है कि जब दस्यु आर्यों द्वारा पराजित हुए, तब उन्हें धीरे २ समाज मे स्थान दिया जाने लगा तथा उन्हें आर्यों के उच्चवर्गों की सेवा आदि का कार्य्य व निम्न वर्ग के काम-धन्धे करने पड़े। किन्तु सामाजिक जीवन ज्यों २ प्रगतिशील होता गया, त्यों २ शूद्रों की स्थिति में सुधार होने लगा। साधारणतया शूद्रों को अन्य वर्णों की सेवा आदि का ही कार्य करना पड़ता था। वैदिक युगके पश्चात् भी असभ्य व वैदेशिक तत्त्वों को समाज में उपयुक्त स्थान प्रदान करने की प्रणालिका गतिशील रही। इस प्रकार प्राचीन भारतीय समाज व संस्कृति के विकास में विभिन्न जातियों ने विभिन्न ऐतिहासिक युगों में अपना हाथ बटाया। इस प्रकार विभिन्न भाषा-भाषी, विभिन्न रीति-रिवाजवाले तथा विभिन्न भौगोलिक परिस्थिति में रहनेवाले भारतीय सांस्कृतिक सूत्र में बंध गये व इस देश ने अनुपम सांस्कृतिक एकता का अनुभव किया। समय के प्रवाह से व धीरे २ समाज में अहंमन्यता आदि कुत्सित व कुण्ठित भावों के प्रवेश से अस्पृश्यता का

---

[1] ऋग्वेद २।१२।४ : "यो दास वर्णमधर गुहाक", ऋ० २।१२।१० : "दस्योर्हन्ता स जनास इन्द्र ।"

[2] अथर्ववेद १९।६२।१ : "प्रिय सर्वस्य पश्यत उत शूद्रे उत आर्ये ।।"

[3] ऋग्वेद १०।९०।१२ : "पद्भ्या शूद्रोऽजायत ।।"

लाञ्छन भी इस महान् संस्कृति को लग गया किन्तु यह सब वेदकाल के पश्चात् हुआ।

संश्लेषणात्मक विकास के परिणाम स्वरूप समाज में विभिन्न तत्त्वों का समावेश होने लगा। सामाजिक दुर्व्यवस्था को रोकने के लिये वेदकालीन आर्यों ने एक सुन्दर सामाजिक व्यवस्था का विकास किया, जिसे वर्ण व्यवस्था का नाम दिया गया। दस्युओं के समाज मे सम्मिलित किये जाने पर वर्ण (रंग) की समस्या कदाचित् उत्पन्न हुई होगी। उस समस्या को सुलझाने के लिये कृष्णवर्ण वाले दस्युओं को समाज में समुचित स्थान दिया गया व सामाजिक एकता की भावना दृढ की गई। समाज की कल्पना एक पुरुष के रूप में कर शूद्रों को उसके पैरों से सम्बन्धित किया गया। इस प्रकार शूद्रों की सामाजिक उपयोगिता प्रतिपादित की गई। धीरे धीरे वर्ण व्यवस्था कर्म मूला बन गई, उसका जन्म से कोई सम्बन्ध न रहा। ज्यों २ वैदेशिक या अन्य तत्त्व समाज में प्रविष्ट होने लगे त्यों त्यों उन्हें उनकी उपयोगिता व उनके कर्मों के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र आदि वर्णों में स्थान दिया जाने लगा। इस वर्ण व्यवस्था के कारण समाज एक संगठित शक्ति के रूप में जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति करने लगा। यह व्यवस्था इतनी मजबूत सिद्ध हुई कि आज भी हिन्दू समाज पर उसका प्रभाव है। काल गति से उसमें बहुत से दोष आ गये हैं जिनका परिमार्जन आवश्यकीय है।

व्यक्ति व समष्टि

व्यक्ति व समष्टि का सामाञ्जस्य वेदकालीन समाज की दूसरी विशेषता है। मानव समाज के इतिहास में प्राचीनकाल से तो आज तक साधारणतया यह देखा जाता है कि समाज पर या तो व्यक्ति का प्रभुत्व रहा है या समष्टि का। बड़े बड़े शक्तिशाली राज्य व साम्राज्य व्यक्ति के प्रभुत्व के उदाहरण हैं, आजकल की प्रजातन्त्रात्मकशासन प्रणालियाँ समष्टि के प्रभुत्व के उदाहरण हैं। प्राचीन राज्यों व साम्राज्यों में राजा या सम्राट् की इच्छा के सामने समाजका कोई अस्तित्व नहीं था। उसी प्रकार आधुनिक प्रजातन्त्रात्मक शासन प्रणालियों में व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं है, यद्यपि उसके विकास के लिये भी प्रयत्न किये जाते हैं। मानव जीवन के ये दो पहलू वैयक्तिक व सामाजिक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण हैं। समाज में तब तक शान्ति

व सन्तोष का वातावरण उत्पन्न नहीं हो सकता जब तक उन दोनों पहलुओं में सामञ्जस्य स्थापित न हो। वैदिक साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में मानव जीवन के दोनों पहलुओं में सामञ्जस्य स्थापित किया गया था। व्यष्टि व समष्टि के पारस्परिक सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण होकर एक दूसरे के पूरक रहने चाहिये, यह तथ्य अच्छी तरह से समझ लिया गया था। यजुर्वेद[1] में इसी तथ्य को समझाते हुए कहा गया है कि 'सब जीवधारी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें। मैं सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूं, हम सब भी उन्हें मित्र की दृष्टि से देखें।' यहाँ "मैं" से व्यक्ति का बोध होता है और "हम" से समष्टि का। इसका तात्पर्य्य यह है कि समाज में व्यक्तिगत रूप से व समष्टिगत रूप से मैत्रीभाव स्थापित किया जाय। यह मैत्रीभाव केवल मानव समुदाय तक ही परिसीमित नहीं रहना चाहिये, उसका विस्तार प्राणीमात्र में होना चाहिये। इसी मैत्रीपूर्ण वातावरण में समाज जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति कर सकता है व अपने उद्दिष्ट तक पहुँच सकता है। व्यक्ति व समष्टि के मध्य सामञ्जस्य स्थापित होने पर ही विशुद्ध मैत्रीभाव स्थापित हो सकता है और यही मैत्रीभाव विश्वशान्ति में परिवर्तित हो जाता है। यजुर्वेद[2] में विश्वशान्ति का बहुत ही सुन्दर चित्रण किया गया है।

(वेदकालीन समाज में व्यक्ति व समष्टि के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने के लिये वर्णाश्रम व्यवस्था के रूप में एक सुन्दर जीवन-क्रम तैयार किया गया था।) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र वर्णों में समाज को व्यवस्थित कर प्रत्येक वर्ण के कर्तव्य कर्म निर्धारित किये गये थे। इस निर्धारण में अर्थशास्त्र के 'श्रम विभाजन' के सिद्धान्त को भी प्रयुक्त किया गया था। ऋग्वेद[3] में आलङ्कारिक भाषा

---

[1] ३६।१८ 'दृते दृ॑ह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥'

[2] ३६।१७ द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष॰ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्ति-रोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्व॰ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि॥"

[3] १०।९०।१२ ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥"

में चारों वर्णों को समाजरूपी पुरुष के विभिन्न अङ्गों से सम्बन्धित किया गया है। 'ब्राह्मण उस समाजरूपी पुरुष के मुख थे, उसकी भुजाएँ क्षत्रिय बनीं, उसकी जो जङ्घाएँ थीं, वे वैश्य बनीं तथा पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए।' इस प्रकार ब्राह्मण को समाज के मुख अथवा मस्तिष्क का काम करना पड़ता था, क्षत्रिय को उसका रक्षण, वैश्य को उसका भरण-पोषण करना पड़ता था, तथा शूद्रों को समाज में सेवा आदि कार्य करना पड़ता था। चारों वर्णों के सदस्य अपने-अपने कर्तव्यों का पालन कर सामाजिक विकास में अग्रसर होते थे। इस प्रकार समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अपने सामाजिक कर्तव्यों को पूरा करना पड़ता था।

आश्रम व्यवस्था का सम्बन्ध मनुष्य के वैयक्तिक जीवन से था। इस व्यवस्था के द्वारा मनुष्य को अपने व्यक्तित्व के सम्पूर्ण विकास का अवसर प्राप्त होता था। वैदिक साहित्य[1] में मनुष्य की आयु साधारणतया सौ वर्ष की मानी गयी है। इस प्रकार सौ वर्ष के जीवन को पच्चीस वर्ष के चार विभागों में विभाजित किया गया है तथा प्रत्येक विभाग को एक-एक आश्रम से सम्बन्धित किया गया है। जीवन के प्रथम पच्चीस वर्षों को ब्रह्मचर्य्य आश्रम से, द्वितीय पच्चीस वर्षों को गृहस्थाश्रम से, तृतीय पच्चीस वर्षों को वानप्रस्थाश्रम से व चतुर्थ पच्चीस वर्षों को सन्यासाश्रम से सम्बन्धित किया गया था। प्रत्येक व्यक्ति को ब्रह्मचर्य्याश्रम में वेदादि विभिन्न विद्याओं का अध्ययन कर यम, नियम आदि द्वारा अपनी विभिन्न शक्तियों का विकास कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना पड़ता था। पच्चीस वर्ष तक उसे गृहस्थाश्रम के कर्तव्यों का पालन करना पड़ता था। ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण व देव-ऋण को चुकाना अन्य तीन आश्रमों का भरण-पोषण करना, वेदादि का स्वाध्याय करना, अपने सामाजिक उत्तरदायित्व की पूर्ति करना आदि गृहस्थ के मुख्य कर्तव्य थे। इसके पश्चात् वानप्रस्थाश्रम में वन में जाकर दारेषणा, वित्तैषणा व लोकैषणा के परित्याग द्वारा भौतिक बन्धनों को तोड़ आत्मनिग्रह द्वारा आध्यात्मिकता के मार्ग में अग्रसर होना पड़ता था। इसके पश्चात् सन्या-

[1] यजुर्वेद ३६।२६ : "पश्येम शरदः शत जीवेम शरदः शत ५ शृणुयाम शरदः शत प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शत भूयश्च शरदः शतात् ॥"

साश्रम में प्रवेश होता था जब कि व्यक्ति को संसार से सब सम्बन्ध तोड़ अपना शेष जीवन लोक-सेवा में अर्पण करना पड़ता था। ये निस्वार्थी, निर्लेप व निरीह सन्यासी समाज के हितचिन्तक मार्ग-दर्शक व सन्मार्गप्रेरक रहते थे। संसार की कोई भी शक्ति उन्हें सन्मार्ग से उन्मुख नहीं कर सकती थी। इस प्रकार अन्तिम आश्रम में व्यक्ति व समष्टि का तादात्म्य स्थापित हो जाता है। वर्णाश्रम व्यवस्था के द्वारा व्यक्ति व समष्टि का तादात्म्य स्थापित कर वेद-कालीन समाज वर्गचतुष्टय की प्राप्ति द्वारा अपने उद्दिष्ट तक पहुँचता था।

आत्म-विकास

(आत्म-विकास वेदकालीन सामाजिक जीवन का मूल मन्त्र था।) यद्यपि समाज जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रगतिशील रहता था व ऐहिक समृद्धि एवं ऐश्वर्य की प्राप्ति में कोई कसर नहीं रखता था, फिर भी समाज की सम्पूर्ण प्रगति आत्म विकासोन्मुख रहती थी। आत्म-साक्षात्कार मानव के समस्त प्रयत्नों का केन्द्रीय स्थान था। (आत्म-साक्षात्कार या मोक्ष का स्थान मानव-जीवन के महान् उद्देश्य वर्गचतुष्टय में महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन भारत के काव्य, कला, नाटक, धर्म, दर्शन आदि का अन्त आत्म-साक्षात्कार में ही होता है।) इसी आत्म-साक्षात्कार के महत्त्व को यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय में समझाया गया है। उसमे कहा गया है कि 'आत्मा का हनन करने वाले व्यक्ति मृत्यु के पश्चात् गाढ अन्धकारयुक्त असुर्य लोक में प्रवेश करते हैं।'[1] आश्रम व्यवस्था में प्रथम आश्रम को ब्रह्मचर्याश्रम कहा गया है तथा विद्यार्थी को 'ब्रह्मचारी' कहा गया है। इस आश्रम में विद्यार्थी द्वारा ब्रह्म-प्राप्ति या आत्म-साक्षात्कार के साधन जुटाये जाते थे, जिनका उपयोग वह अपने भावी जीवन मे करता था। उपनिषदों का पूरा साहित्य आत्म-साक्षात्कार या ब्रह्मप्राप्ति के विवेचन से ओत-प्रोत है। उपनिषदों में बाह्य जगत् से मन को हटा-कर अन्तर्जगत् पर लगाया जाने लगा। 'ब्रह्मणः कोशोऽसि' आदि शब्दों द्वारा आत्मा व ब्रह्म का निकटतम सम्बन्ध स्थापित किया

---

[1] यजुर्वेद ४०।३ : "असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृता। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जना॥"

जाने लगा।[1] बृहदारण्यक उपनिषद्[2] में आता है कि यही आत्मा सब भूतों का अधिपति है, सब भूतों का राजा है। सब जीव, लोक, देव, प्राण आदि का समावेश उसी में हो जाता है। यही आनन्दमय ब्रह्म है व प्रत्येक जीवात्मा उसी में लीन होना चाहता है। उपनिषदों में आत्मा व ब्रह्म की एकता भी अच्छी तरह से समझाई गई है।[3] छान्दोग्योपनिषद्[1] के 'तत्त्वमसि' वाक्य द्वारा इस मन्तव्य को प्रतिपादित किया गया है। इसी वाक्य के भिन्न-भिन्न अर्थों पर वेदान्त के विभिन्न वाद निहित हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदकालीन समाज में ऐहिक, भौतिक आदि जीवन आत्मविकासोन्मुख था।

पुनर्जन्म

(पुनर्जन्म के सिद्धान्त का भी वेदकालीन समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान था।) वेदकालीन भारत में मनुष्य केवल हाड़-मांस का पञ्जर व आर्थिक आवश्यकताओं का समुदाय ही नहीं माना जाता था। उसका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अंश आत्मा था जिसको समझना मानव-जीवन का एक ध्येय माना गया था। आत्मा अपने कर्मों व संस्कारों के कारण इस भौतिक शरीर में प्रविष्ट होता है। इस प्रकार अपने कर्मों के अनुसार वह कितने ही शरीर धारण करता है व भिन्न २ योनियों में भटकता फिरता है। यही पुनर्जन्म या कर्मबन्धन है। आत्मा का परम ध्येय जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त होना व अपने को पहिचानना है। पुनर्जन्म के सिद्धान्त के अनुसार वर्तमान जन्म आत्मा के अनन्त जन्मों की शृङ्खला में एक कड़ी मात्र है। अथर्ववेद[1] में इस सिद्धान्त का उल्लेख आता है। ऋग्वेद में जो दार्शनिक पृष्ठभूमि है उससे स्पष्टतया ज्ञात होता है कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त समाज में सर्वमान्य था तथा उसी के अनुसार जीवन का सञ्चालन होता था। वैदिक आर्य इसी सिद्धान्त के द्वारा मृत्यु के

---

[1] बृहदारण्यक उप० १।४।१०; छान्दोग्योपनि० १।१,१०; १।१२

[2] २।५।१५

[3] बृहदारण्यक उप० ४।३।६; ४।३।२३; ८।१।१;

[4] १९।६७।६–८ : भवेम शरदः शतम्। भूयेम शरद. शतम्। भूयसीः शरदः शतात्।"

रहस्य को समझने का प्रयत्न करते थे। अथर्ववेद[1] म कहा गया है कि 'ब्रह्मचर्य्य व तप के द्वारा देवता मृत्यु का हनन करते थे'। इन शब्दों मे पुनर्जन्म या कर्म सिद्धान्त की सहायता से मृत्यु के रहस्य को समझने का प्रयत किया गया। मृत्यु को मारने की कल्पना केवल उस समाज मे की जा सकती है जिसमें कर्म सिद्धान्त पर आश्रित पुनर्जन्म के मन्तव्य को भली भाँति समझ लिया गया है। जो समाज पुनर्जन्म का सिद्धान्त नहीं मानता उसके लिये मृत्यु विभीपिका या गहन अन्धकूप का रूप धारण कर लेती है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त मानने वालों के लिये मृत्यु नवजीवन में पदार्पण करना है, वे मृत्यु का मित्र के समान स्वागत करते हैं। प्राचीन भारत का अध्यात्मवाद पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर ही विकसित हुआ है। वेद-कालीन समाज म जीवन के विभिन्न क्षेत्र इसी सिद्धान्त के द्वारा संचालित होते थे। इसी सिद्धात की सहायता से प्राचीन भारत ने अध्यात्म के क्षेत्र मे आश्चर्यजनक प्रगति की थी।

योग

(आत्मिक विकास के लिये प्राचीन भारत में जो साधन निर्मित किये गये थे उनमें योग का स्थान बहुत ऊँचा है। पातञ्जल योग सूत्र[2] के अनुसार योग के आठ अङ्ग हैं, यथा—यम, नियम, आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि।) यदि इन आठों अङ्गों पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि शरीर व मन पर अनुशासन प्राप्त कर शारीरिक व मानसिक विकास द्वारा आत्म-साक्षात्कार के मार्ग में अग्रसर होने के लिये उनका कितना उपयोग है। यम, नियम आदि नैतिक सिद्धान्तों के द्वारा शरीर व मन को पुष्ट बनाया जाता था, तथा आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि द्वारा श्वासोच्छवास की क्रिया को व्यवस्थित कर तथा मन को निग्रहित कर धारणा, ध्यान व समाधि द्वारा आत्मतत्त्व का साक्षात्कार किया जाता था। इस प्रकार योग द्वारा शरीर मन व आत्मा को अनुशासन में रखा जाता था तथा विभिन्न शक्तियों का

---

[1] ११।५।१९ ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।

[2] २।२९ यमनियमाऽऽसनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।

विकास किया जाता था। (वेदकालीन समाज में योग के आठ अङ्गों का सम्यक ज्ञान प्रचलित था जिसके द्वारा आश्चर्यजनक शक्तियाँ प्राप्त की जाती थीं। वैदिक साहित्य में अप्रत्यक्ष रूप से योग के विभिन्न अङ्गों का उल्लेख आता है।) ऋग्वेद[१] में यति, यातुविद्या आदि का उल्लेख कदाचित् योगी, योगविद्या आदि का द्योतक है। इस प्रकार वेदकालीन समाज योगविद्या की सहायता से अपने उद्दिष्ट तक पहुँचता था।

दार्शनिक पृष्ठभूमि

वैदिक साहित्य में तत्कालीन समाज के बारे में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूप से जो कुछ लिखा है उससे स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज दार्शनिक पृष्ठभूमि पर स्थित था। यद्यपि वैदिक युग में भौतिकता व आध्यात्मिकता में सामञ्जस्य स्थापित किया गया था एवं दोनों क्षेत्रों में पर्य्याप्त विकास किया गया था, फिर भी अज्ञात को समझने के प्रयत्न करना तथा प्रकृति, जीव, ब्रह्म, आत्मा, जगत आदि की गुत्थियों को सुलझाना मानव जीवन का महान् उद्देश माना गया था। जीवन मरण की गुत्थियों को सुलझाना ही महान् कर्तव्य समझा गया था। यही कारण है कि वेदकालीन समाज में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को दार्शनिकता का पुट दिया था। आश्रमव्यवस्था मे प्रथम आश्रम को 'ब्रह्मचर्य्याश्रम' कहा गया, जिसमें 'ब्रह्मचारी' 'ब्रह्म' अथवा 'सत्य' की खोज के समस्त साधन जुटा कर जीवन की पहेलियों को सुलझाने का मार्ग ढूँढा करता था। समाज के प्रत्येक सदस्य के लिये यह आवश्यकीय था कि वह अपने प्रथम चतुर्थांश भाग में विद्योपार्जन द्वारा सत्य की खोज के साधन प्राप्त करे, केवल भौतिक चकाचौंधी में ही न फँस जाय। इसी प्रकार वानप्रस्थ व सन्यासाश्रम भी आध्यात्मिक मनोवृत्ति को ही प्रोत्साहित करते हैं, अतएव दार्शनिकता का पुट जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता था। यही कारण है कि (वेदकालीन समाज दार्शनिक पृष्ठभूमि पर स्थित था।)

---

[१] ऋग्वेद ७।१०४।२५; ७।१०४।२३, ८।६०।२०

९

जीवन का विकास

वेदकालीन समाज में जिन आदर्शों को सामने रख कर सांस्कृतिक विकास प्रारम्भ किया गया था उसमें जीवन की सर्वतोमुखी उन्नति के लिये पर्य्याप्त अवसर व अवकाश था। इसीलिये तत्कालीन समाज ने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में आश्चर्यजनक उन्नति की थी, उन क्षेत्रों से सम्बन्धित विभिन्न शास्त्रों व विद्याओं का विकास था। वैदिक युग में सामाजिक जीवन, राजनैतिक जीवन, आर्थिक जीवन आदि का शास्त्रीय ढङ्ग पर विकास किया गया था तथा तत्सम्बन्धी शास्त्रों के सिद्धान्त भी विकसित किये गये थे। समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि के कितने ही महत्त्व पूर्ण सिद्धान्त विकसित किये गये थे। इसके अतिरिक्त धर्म, दर्शन, कला, साहित्य, विज्ञान आदि का ज्ञान भी पर्य्याप्त रूप से विकसित किया गया था। वेदकालीन समाज एक सुसंस्कृत समाज था जो सांस्कृतिक विकास के मार्ग में बहुत आगे बढ चुका था। उस समय जीवन के जिन विभिन्न अङ्गों का विकास किया गया था, उन पर कुछ विस्तारपूर्वक विचार करना चाहिये।

पारिवारिक जीवन

वेदकालीन भारत के पारिवारिक जीवन पर आलोचनात्मक दृष्टि डालने से मालूम होता है कि तत्कालीन भारतीयों ने पारिवारिक व सामाजिक विकास के अन्तर्भूत नैसर्गिक तत्वों को भली भाँति समझ कर पारिवारिक जीवन को विकसित किया था। यही कारण है कि वे जीवन के प्रत्येक पहलू का विकास कर सके। व्यष्टि व समष्टि का सम्बन्ध नैसर्गिक व वैज्ञानिक आधार पर निहित था।[१] व्यक्ति को समाज का आवश्यकीय अङ्ग समझा जाता था। प्रत्येक परिवार समाज का घटक माना जाता था। परिवार के महत्त्व को समाज व उसके सञ्चालक अच्छी तरह जानते थे। इसीलिये समाज में गृहपति का स्थान ऊँचा था। वेदकालीन पारिवारिक जीवन संयुक्त परिवार प्रथा के सिद्धान्त पर आधारित था। परिवार में माता पिता

[१] ऋग्वेद १०।१९१।१-४ यजुर्वेद ३६।१८

का स्थान बहुत ऊंचा था। उनके संरक्षण में परिवार के समस्त सदस्यों को रहना पड़ता था। परिवार के समस्त धार्मिक कृत्य गृहपति द्वारा संचालित गार्हपत्याग्नि में किये जाते थे। पिता या 'गृहपति' के संरक्षण में ही परिवार के सर्व कार्य्य सम्पादित किये जाते थे। पारिवारिक जीवन में पिता की केवल जिम्मेवारियाँ ही नहीं थी किन्तु उसके अधिकार भी थे।[1] वह परिवार का मुखिया माना जाता था। गृहपति की हैसियत से वह परिवार में सर्वेसर्वा था। उसके इस महत्त्वपूर्ण स्थान को राजा भी मानता था। इसी प्रकार माता का स्थान भी परिवार में बहुत ऊँचा था। प्राचीन काल में ब्रह्मचारियों को उपदेश दिया जाता था कि माता, पिता व आचार्य को देवतुल्य समझो[2]। पारिवारिक जीवन के विकास में पञ्च-महायज्ञ, विभिन्न संस्कार, यम नियम आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान था। वेदों के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि पञ्चमहायज्ञ, संस्कार आदि प्राचीन काल के जीवन को सञ्चालित करनेवाले तत्त्व जिनका व्यवस्थित वर्णन बाद के ग्रन्थों में किया गया है, वैदिक काल में भी ज्ञात थे। पितृ-ऋण का सिद्धान्त भी पारिवारिक जीवन के सौख्य में वृद्धि करता है। तैत्तिरीय संहिता[3] में लिखा है कि ब्राह्मण उत्पन्न होते ही तीन ऋणों से ऋणवान् होता है, ऋषिऋण, देवऋण व पितृ ऋण। ब्रह्मचर्य, यज्ञ व प्रजा द्वारा क्रमशः ये तीनों ऋण चुकाये जा सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति पर माता पिता का बड़ा भारी ऋण रहता है, जो कि सन्तानोत्पत्ति द्वारा चुकाया जा सकता है। वेदकालीन समाज में सन्तानोत्पत्ति कर सन्तान को सुशिक्षित, सुयोग्य नागरिक बनाना यह प्रत्येक का पुनीत कर्तव्य समझा जाता था।

सामाजिक जीवन

ऋग्वेद के आलोचनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि तत्कालीन समाज संस्कृति व सभ्यता के मार्ग पर आरूढ़ हो चुका था।

[1] ऋग्वेद ३।३०।१-४, कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, जि० १, पृ० ८९-९०

[2] तैत्तिरीय उप० ७।११।२ "मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव।

[3] ६।३।१०।५ "जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवा जायते ब्रह्मचर्य्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्य । प्रजयापितृभ्य एष वा अनृणा य पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासी ॥", मनुस्मृति ४।२५७, ६।३५-३६

समाज में एकता का भाव जागृत हो चुका था। इसी भाव के कारण ऋग्वेद में मानव जाति को दो विभागों में विभाजित किया गया था, आर्य व अनार्य, जिनमें दस्यु, दास, शूद्र आदि का समावेश होता था[1]। ऋग्वेद में समाज को एक जीवित पुरुष के रूप में वर्णित कर उसके अङ्ग प्रत्यङ्ग का वर्णन किया गया है[2]। इस प्रकार भारत के सामाजिक विकास का इतिहास ऋग्वेद काल से ही प्रारम्भ होता है। वैदिक युग में यह विकास अपनी किशोर अवस्था में नहीं था, बल्कि बहुत आगे बढ़ चुका था, क्योंकि इस युग में आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, दार्शनिक आदि क्षेत्रों में भी यह उन्नति हो चुकी थी। इन क्षेत्रों में उन्नति प्राप्त करने के लिये सामाजिक विकास की प्रौढ़ता अत्यन्त ही आवश्यकीय है।

वेदकालीन सामाजिक जीवन के पांच आधार स्तम्भ थे यथा-पारिवारिक जीवन, तीन ऋण, वर्ण-व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था तथा वर्गचतुष्टय। इनमें से पारिवारिक जीवन के महत्त्व पर पहिले ही विचार हो चुका है तथा यह भी स्पष्ट किया गया है कि पारिवारिक जीवन सामाजिक जीवन की आधारशिला है।

तीन ऋण

वैदिक साहित्य[3] में पितृऋण, ऋषिऋण, देवऋण आदि का उल्लेख है। पितृऋण का विशेष सम्बन्ध पारिवारिक जीवन से है फिर भी यह स्पष्ट है कि समाज की उन्नति व विकास के लिये पितृऋण आवश्यकीय है। पितृऋण के सिद्धान्त के कारण समाज का वातावरण पवित्र रहता था। प्रत्येक व्यक्ति अपने उत्तरदायित्व को समझता था। ऋषिऋण स्वाध्याय व ब्रह्मचर्य्य द्वारा चुकाया जाता था। गुरुकुलों में ऋषि ब्रह्मचारियों को अपने आजीवन योग व तप का फल विद्या के रूप में देते थे। प्राचीन काल में विद्यार्थी, जो केवल विद्यार्थी ही नहीं, बल्कि ब्रह्मचारी भी था, गुरु के कुल का सदस्य बन जाता था। यह गुरु, जो कि किसी गूढ़ तत्त्व के दर्शन के कारण ऋषि[4] कहलाता था तथा जो वयोवृद्ध व ज्ञानवृद्ध रहता

[1] ऋग्वेद २।१२।४, १०।९०।१२ यजुर्वेद २९।२, अथववेद १९।६२।१

[2] ऋग्वद १०।९०

[3] तैत्तिरीय सहिता ६।३।१०।५

[4] यास्क—निरुक्त, "ऋषयो मन्त्रद्रष्टार"

था, ब्रह्मचारी को अपने पुत्र से भी अधिक समझता था। वह उसे समाज व राष्ट्र की सम्पत्ति समझता था। अध्यापन-कार्य को वह राष्ट्र-निर्माण का कार्य समझता था। इन भावों से प्रेरित होकर प्राचीन गुरुकुल के ऋषि अपने शिष्यों को सच्चे ब्रह्मचारी बनाकर ज्ञानामृत का पान कराता था। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति गुरु का अत्यन्त ऋणी बन जाता था। उसे अपने जीवन में विद्या के विकास में सहायक बनकर ऋषिऋण चुकाना पड़ता था। यह ऋण स्वाध्यायादि द्वारा चुकाया जाता था। वेदाध्ययन व ज्ञानोपार्जन के काम में लोगों के लीन रहने से समाज में ज्ञानकी ज्योति हमेशा जगमगाती रहती थी।

सामाजिक विकास में देवऋण भी महत्त्वपूर्ण है। स्मृतिकारों के अनुसार यज्ञादि के द्वारा इस ऋण को चुकाया जा सकता है[1]। वेदों में परमात्मा की विभिन्न शक्तियों को 'देव' नाम से सम्बोधित किया गया है[2] क्योंकि उनका देदीप्यमान प्रकाश चहुँ ओर दिखाई देता है। 'देव' शब्द से आत्मिक प्रकाश का भी बोध हो सकता है। अतएव 'देव' शब्द से उन आत्मसंस्कारी महापुरुषों का भी तात्पर्य लिया जा सकता है, जो समाज के कल्याण के लिये ही जीवित रहते हैं और जो अपने सेवा-कार्यों से समाज को अपना ऋणि बना देते हैं। समाज का भी कर्तव्य है कि उनके आदर्शों व उपदेशों पर चल कर उनके ऋण से उन्मुक्त होवे।

वर्ण-व्यवस्था

प्राचीन काल से ही भारत के आर्य्यों ने समाज को चार भागों में विभाजित किया था। यह विभाजन साधारणतया अर्थशास्त्र के 'श्रम-विभाजन' के सिद्धान्त पर अवलम्बित था। ऋग्वेद[3] में समाज को पुरुष का रूपक दिया गया है व उसके भिन्न भिन्न अङ्गों का वर्णन किया गया है। जिस प्रकार आधुनिक समाजशास्त्र के ज्ञाता मानव-

---

[1] मनुस्मृति ६।३६

[2] ऋग्वेद ४।२२।३, अथर्ववेद ३।१५।५, तैत्तिरीय संहिता ३।५।४।१, पाणिनि—अष्टाध्यायी ३।३।१२०, मनु १२।११७, गीता ११।११

[3] १०।९०।१२: "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत् ॥"

समाज को एक जीवित शरीर मानते हैं[1] उसी प्रकार ऋग्वेद में भी जीवित पुरुष माना गया है। सङ्गठन व जागृति के भाव को व्यञ्जित करने के लिये ही ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में समाज को पुरुष कहा गया है। उस समाजरुपी पुरुष के चार अङ्ग बताये गये हैं, जैसे मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जङ्घाओं से वैश्य, व 'शूद्रों से पैरों का बोध' होता है। ब्राह्मणों के कर्तव्य इस प्रकार थे—वेद पढ़ना पढ़ाना, यज्ञ करना कराना, यमनियमादि की साधना द्वारा आत्म विकास के मार्ग में अग्रसर होना, मानव-रिपुओं का दमन कर समाज के सामने अच्छे आदर्श उपस्थित करना। साधारणतया ब्राह्मणों का समय वेदाभ्यास, तपश्चर्या, योगसाधन आदि में ही जाता था। प्रजारक्षण, दान करना, यज्ञ करना, अध्ययन, शौर्यादि धारण करना विषयासक्त न होना, युद्ध से न भागना आदि क्षत्रिय के कर्तव्य थे। वेदकालीन सामाजिक जीवन में वैश्यों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। समाज के भरण, पोषण, आर्थिक विकास आदि का सब उत्तरदायित्व उन्हीं पर था। साधारणतया वैश्यों के कर्तव्य इस प्रकार हैं—कृषि, पशुपालन, वाणिज्य, दान देना, यज्ञ करना, वेदादि का अध्ययन करना आदि। समाज की सेवा का सम्पूर्ण भार शूद्रों पर रहता था।

प्राचीन भारत ने इस वर्णव्यवस्था के महत्त्व को अच्छी तरह समझा था। राजा को इस व्यवस्था की देखभाल करनी पड़ती थी। वह सब वर्णों को अपने अपने कर्तव्यकर्मों में प्रेरित करता था। वैदिक काल से महाभारत काल तक समाज ने इस व्यवस्था को अच्छी तरह से अपनाया था।

आश्रम-व्यवस्था

आश्रम-व्यवस्था भी वेदकालीन समाज का मुख्य आधार-स्तम्भ था। वेदों में मनुष्य की आयु मानी गयी थी[2]। उसके चार विभाग किये गये थे, जिन्हें चार आश्रमों में बाँट दिया गया था, जैसे ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व सन्यास। समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन के प्रथम पच्चीस वर्ष ब्रह्मचर्य्याश्रम में बिताने पड़ते थे, जहाँ उसे वेदाभ्यास करना पड़ता था। ब्रह्मचारी अपनी विभिन्न शक्तियों का सम्यक् विकास करता था। उसे अपना जीवन अत्यन्त

[1] कोल—सोशियल थियरी पृ० २०८-२०९

[2] यजुर्वेद ३६।२४

ही सरल बनाना पड़ता था तथा विचार बहुत ही उदात्त रखने पड़ते थे। अग्निचर्य्या उसका महत्त्वपूर्ण कर्तव्य था। उसे यज्ञ की अग्नि के लिये सायं प्रात: समिधाहरण करना पड़ता था। उसे भैक्ष्यचर्य्या के लिये भी जाना पड़ता था। शतपथ ब्राह्मण में भिक्षाचरण को अनिवार्य्य बताया गया है[1]।

विद्या-समाप्ति पर ब्रह्मचारी स्नातक बनकर विवाह करता था। गृहस्थियों को सच्चे नागरिक बनना पड़ता था। पूर्व आश्रम में तीन ऋणों को चुकाने की जो तैयारियाँ की गई थीं उन सबको कार्य्य रूप में लाने का अवसर इसी आश्रम मे रहता था। इन गृहस्थियों को अपना जीवन इस प्रकार बनाना पड़ता था, जिससे कि वे मानव-जीवन के उदात्त ध्येय तक पहुँच सकें। पितृऋण से मुक्त होने के लिये उत्तम सन्तान पैदा करनी पड़ती थी। वेदाध्ययन द्वारा आत्मविकास के अग्रसर होकर अन्य दो ऋणों को चुकाने की व्यवस्था उन्हें करनी पड़ती थी। साथ ही उन्हें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि वर्गचतुष्टय की सिद्धि में लगना पड़ता था। आत्मसंयम व यज्ञादिद्वारा धार्मिक जीवन व्यतीत कर गृहस्थ को ग्राम, नगर, देश आदि के शासनकार्य में भी पूर्णतया भाग लेना पड़ता था।

गृहस्थाश्रम पूरा करने के पश्चात् प्रत्येक व्यक्ति को वानप्रस्थाश्रम मे प्रवेश करना पड़ता था। जीवन के तृतीय अंश में इस आश्रम में प्रवेश किया जाता था। इसमें प्रत्येक को तप आदि की साधना द्वारा संयम प्राप्त करना पड़ता था। ये वानप्रस्थी आत्मविकास के मार्ग में प्रवृत्त हो देश व समाज के हित को ध्यान में रख कर अपने परिपक्व अनुभव व ज्ञान के सहारे जीवन-मरण की गुत्थियाँ सुलझाने में मग्न हो जाते थे। उनके इन प्रयत्नों के दर्शन हमें उपनिषदों के रूप में होते हैं।

सन्यासाश्रम

सम्यक् आत्मिक विकास करने के पश्चात जीवन के चतुर्थ भाग में सन्यासाश्रम मे प्रवेश किया जाता था। इस आश्रम में सब सांसारिक बन्धनों को तोड़ कर फेंक देना पड़ता था। सब बन्धनों से मुक्त होकर व आत्मिक बल से सुसज्जित बनकर ये सन्यासी देश भर मे

[1] शतपथ ब्राह्मण ११।३।३।५, ७

घूम-घूम कर सत्य सिद्धान्तों का प्रचार करते थे तथा समाज की त्रुटियों को दूर कर उसे सन्मार्ग पर प्रेरित करते थे। समाज-सेवा ही इनका सर्वस्व था।

यदि वर्णाश्रमव्यवस्था पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि वह उदार सिद्धान्तों पर अवलम्बित थी, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को आत्मविकास का पूरा पूरा अवसर मिलता था। मनुष्य के मन, बुद्धि, आत्मा आदि का सम्यक् अध्ययन कर उसके परम हित को ध्यान में रख कर समाजशास्त्र के सहारे इस व्यवस्था को विकसित किया गया था। इसके कारण समाज में किसी प्रकार की विषमता फैलने नहीं पाती थी।

वर्गचतुष्टय

वैदकालीन भारत में समाज ने अपने जीवन का उद्देश भी निर्धारित कर लिया था। इस सामाजिक व्यवस्था के अन्दर रहने वाला प्रत्येक व्यक्ति भली भाँति जानता था कि उसे अपने जीवन में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि की प्राप्ति करना है। यही पुरुषार्थ समझा जाता था। इसी पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये चार आश्रम बने थे। इस वर्गचतुष्टय मे प्रवृत्ति व निवृत्ति दोनों का समावेश हो जाता था। इन चारों में अन्तिम मोक्ष था। प्रत्येक को सांसारिक वैभव, ऐश्वर्य आदि के अतिरिक्त जीवन मरण के बन्धन से जीवात्मा को मुक्त करने का प्रयत्न करना पड़ता था। इसी को मोक्ष कहते थे। इस लोक में रहते हुए भी परलोक का चित्र उसकी आँखों के सामने रहता था। इसीलिये सांसारिक प्रलोभन उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते थे। वैदकालीन भारत की सामाजिक व्यवस्था बहुत उदार थी। आज के समान कुण्ठित मनोवृत्ति ने समाज में प्रवेश नहीं किया था। इस उदारवृत्ति का पता विवाह, नियोग आदि सामाजिक प्रथाओं के आलोचनात्मक अध्ययन से चलता है। प्राचीन काल में खान-पान आदि पर किसी प्रकार का भी प्रतिबन्ध नहीं था। चारों वर्ण बराबर एक दूसरे के हाथ का भोजन कर सकते थे।

राजनैतिक जीवन

वैदकालीन भारत के सांस्कृतिक विकास में राजनीति का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। ऋग्वेदादि के आलोचनात्मक अध्ययन से

तत्कालीन राजनैतिक विकासका पता लगता है। वेदों म राजा, सभा, समिति[3], राजदूत[4], राजा का चुनाव, राजाओं का पदच्युत किया जाना व पुन सिंहासनारूढ किया[5] जाना आदि के उल्लेख से तत्कालीन राजनैतिक जागृति का स्पष्ट दिग्दर्शन होता है। हमें स्पष्ट पता लगता है कि राजा पर प्रजा का पर्याप्त नियन्त्रण रहता था। जनता में पूरी राजनैतिक जागृति थी। वेदों में वर्णित सभा व समिति राजा का चुनाव करती थी। इस प्रकार वैदिक काल में पर्याप्त राजनैतिक विकास हुआ था।

वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक युग में विभिन्न शासनविधान प्रचलित थे जिनमें राजतन्त्र व प्रजातन्त्र भी सम्मिलित थे। ऐतरेय ब्राह्मण[7] में आठ प्रकार के शासन विधानों का उल्लेख है, तथा वे भारत के किन भागों में वर्तमान थे उसका भी वर्णन आता है। वे शासन विधान इस प्रकार थे—(१) साम्राज्य (पूर्व), (२) भौज्य (दक्षिण) (३) स्वाराज्य (पश्चिम), (४) वैराज्य (उत्तर में उत्तर कुरू व उत्तर मद्र), (५) राज्य (कुरु, पाञ्चाल), (६) पारमेष्ठ्य (७) माहाराज्य, (८) आधिपत्य (कुरू पाञ्चाल से उत्तर की ओर)। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक काल में राजनैतिक विकास पर्याप्त मात्रा में हुआ था।

आर्थिक विकास

वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन आर्थिक जीवन उत्तम प्रकार से व्यवस्थित व सञ्चालित किया गया था। उपभोग, उत्पादन, वितरण, आदान प्रदान आदि के बहुत से साधन वर्तमान थे। श्रम विभाजन के सिद्धान्त के आधार

ऋग्वेद १०।१७८, अथर्ववेद ६।८७ ८८

[2] ऋग्वेद १०।९१।१०, अथर्ववेद ७।१२ यजुर्वेद १६।२४ २८

[3] अथर्ववेद ६।८८।३ ५।१९।१५

[4] अथर्ववेद ३।५।६ ७

[5] अथर्ववेद ३।४।२

[6] अथर्ववेद ४।८।४ ३।३।५, ३।४।६

[7] ८।१३ १४

पर समाज के चार विभाग किये गये थे, जिसका स्पष्ट विवेचन ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में किया गया है। प्राचीन भारत में यह भलीभाँति समझ लिया गया था कि संसार की अनेकों सम्पत्तियों की निधि पृथ्वी है। इसीलिये उसका नाम 'वसुधा' या 'वसुन्धरा' रखा गया। यही कारण है कि ऋग्वेद[1] में कितने ही मन्त्र पृथ्वी की स्तुति में लिखे गये हैं। ऋग्वेद में कितने ही स्थलों पर खेत जोतने, हल चलाने व फसलों से हरे भरे खेतों का उल्लेख है वर्षा से सम्बन्धित देवता इन्द्र की स्तुति कितने ही मन्त्रों में की गई है[2]। पृथ्वी को 'गो' नाम से सम्बन्धित कर पूजनीय माना गया था[3]। ऋग्वेद में इन्द्र-वृत्र के युद्ध के वर्णन में समझाया गया है कि कृषि-प्रधान भारत में वृष्टि की कितनी आवश्यकता होती थी तथा अनावृष्टि से कितनी हानि होती थी[4]।

वैदिक काल में कृषि के अतिरिक्त गो-पालन का भी विकास किया गया था। वैदिक ऋषियों ने गाय को "अघ्न्या हि गौः" कह कर पूजनीय माना है। वैदिक काल में गाय बैल आदि के बाँधने के लिये अहाते की व्यवस्था रहती थी, जिसे 'व्रज' कहते थे[5]। ऋग्वेद में वृत्र के द्वारा इन्द्र की गायों के चुराये जाने का उल्लेख है जिससे पता चलता है कि गाय एक प्रकार की दौलत ही समझी जाती थी। ऋग्वेद से पता चलता है कि गायों के अतिरिक्त भेड़, बकरी आदि भी पाली जाती थीं[6]। ऋग्वेद में मेष व मेषी का उल्लेख कितने ही स्थलों पर आया है। 'उर्णवती' शब्द से ज्ञात होता है कि भेड़ों से ऊन निकालने का व्यवसाय भी उस समय ज्ञात था। अज (बकरा) व अजा (बकरी) का उल्लेख कितनी ही बार आया है।

कृषि व गोपालन के अतिरिक्त एक और साम्पत्तिक विकास का साधन था जिसे वाणिज्य कहा गया है। वेदों मे वैश्य वर्ण को वाणिज्य से सम्बन्धित किया गया है। ऋग्वेद से विकसित नागरिक

---

[1] ५।२२।१०, ५।४२।१३, ५।५८।७, ७।४०।४, ८।१८।६, १०।४।३

[2] ऋग्वेद १।३२, २।१२, ७।८३

[3] ऋग्वेद ५।५९।३, यजुर्वेद ३।६

[4] मैकडॉनेल—हीम्स फ्राम दी ऋग्वेद पृ० ४३-४७

[5] ऋग्वेद १।१६४।२७, ४०, ४।६।६, ५।६३।८

[6] ऋग्वेद ५।६।७

जीवन के अस्तित्व का पता चलता है। ऋग्वेद में कितने ही स्थलों पर सुवर्ण का उल्लेख आता है व धनपति बनने की इच्छा दर्शाई गई है, जिससे वाणिज्य के विकास का पता लगता है[1]। वेदों में सामुद्रिक व्यापार का भी उल्लेख है क्योंकि समुद्र में चलने वाली नावों का वर्णन आता है[1]। ऋग्वेद[2] में पणियों का भी उल्लेख है। उनके बारे में कहा गया है कि वे बड़े धनलालुप कंजूस थे, स्वार्थ तो उनका परम धर्म था। ऋग्वेद में अश्विनीकुमारों से प्रार्थना की गई है कि पणियों के हृदयों के टुकड़े-टुकड़े कर दो[3]। कुछ ऐतिहासिकों का मत है कि इन पणियों का सम्बन्ध एशिया के पश्चिमी तटवर्ती प्राचीन देश फिनिशिया के निवासी फिनिशियन्स लोगों से है[4]। फिनिशियन्स प्राचीन काल के व्यापारी थे, जिनके व्यापार का केन्द्र भूमध्यसागर व उसके तटवर्ती देश थे।

प्राचीन भारत के आर्थिक विकास में उद्योगधन्धों दस्तकारी आदि का भी विशेष हाथ था। ऋग्वेद में कितने ही स्थानों पर सूत कातने व कपड़ा बुनने का उल्लेख है[5]। रथ बनाने के लिये विभिन्न धातुओं को गलाने, गहने बनाने, हथियार बनाने, घर बनाने, नाव, जहाज आदि बनाने व अन्य कितने ही उद्योगधन्धों का अप्रत्यक्ष उल्लेख ऋग्वेद में आता है। यजुर्वेद[6] में विभिन्न उद्योगधन्धों को करनेवालों के नाम दिये गये हैं, यथा रथकार, तक्षा, कौलाल, कर्मार, मणिकार, इषुकार, धनुष्कार, रज्जुसर्ज, मृगयु, हस्तिप, अश्वप, गोपा, सुराकार, हिरण्यकार, वणिज, ग्वालिन आदि। यह भी सम्भव है कि ये सब उद्योगधन्धे सङ्गठित रूप से सञ्चालित किये जाते होंगे।

धर्म व दर्शन

प्राचीन भारत बहुत से धार्मिक व दार्शनिक सिद्धान्तों का जननी रहा है। एकेश्वरवाद, मायावाद या अद्वैतवाद, द्वैतवाद आदि धार्मिक

[1] ऋग्वेद १।५६।२ १।४८।३ १।२५।७ १।११६।३ २।४८।३ ७।८८।३ ४

[2] ऋग्वेद १।११६।३

[3] ऋग्वेद ६।५३।७-८

[4] क० मा० मुन्शी-गुजरदेश जि० १ पृ० ५० ६१ ८७

[5] वसु-इन्डो-आयन पॉलिटी पृ० ११७

[6] ३०।६-७ ११ १७ २०

व दार्शनिक तत्वों को विकसित कर उन्हें जीवन से सम्बन्धित करने का सफल प्रयत्न प्राचीन भारत ने किया था। भारत के धार्मिक व दार्शनिक जीवन का विकास वेद व उपनिषदों से होता है। वैदिक काल में धार्मिक विकास पर्याप्त रूप में हुआ था, वैदिक काल का धार्मिक जीवन उदात्त नैतिकता के सिद्धान्तों पर अवलम्बित था जैसा कि वरुण सूक्तों को पढ़ने से मालूम होता है। वरुण के 'ऋत' अर्थात् नैतिक जीवनक्रम को अपनाने का उल्लेख कितने ही स्थलों पर है[1]। यज्ञ भी वैदिक काल के धार्मिक जीवन का मुख्य अङ्ग था। यज्ञ व अग्नि का निकटतम सम्बन्ध है। इसलिये ऋग्वेद में कितने ही मन्त्रों द्वारा अग्नि की स्तुति की गई है। मानव-जीवन के विकास में अग्नि का कितना महत्त्व है, इसे कौन नहीं जानता। इस प्रकार अग्नि के महत्त्व को ध्यान में रख कर ही यज्ञ को धर्म का अङ्ग माना गया था।

भारतीय दर्शनशास्त्र वैदिक काल से ही विकसित हुआ है। भारत की भौगोलिक परिस्थिति ने जीवन-कलह को बिलकुल ही सरल बना दिया था। इसलिये जीवन की पहेलियों पर विचार किया जाने लगा। जीव, ब्रह्म, संसार, जीवनमरण आदि की पहेलियों को सुलझाने में तत्कालीन आर्यों ने अपने सब प्रयत्न लगा दिये। ऋग्वेदादि में हमें इस मानसिक वृत्ति के दर्शन होते हैं, जिसका विस्तृत विकास उपनिषदों में किया गया है। वैदिक आर्यों ने प्राकृतिक जगत् का सम्यक् अध्ययन करके इस बात का अनुभव कर लिया था कि इस जगत् का कर्ता अवश्य कोई है जिसने मनुष्यों में भी जीवन-शक्ति भर दी है। उस परमशक्ति की स्तुति में कितने ही मन्त्र वेदों में मिलते हैं। उनसे तत्कालीन आध्यात्मिक विकास का पता चलता है। जीव व ब्रह्म की एकता का भी निरूपण वैदिक साहित्य में किया गया है[2]।

सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी हमें ऊँचे से ऊँचे सिद्धान्त वेदों में मिलते हैं। इस सृष्टि के प्रवाह को अनादि व अनन्त मानकर उसकी उत्पत्ति परमात्मा ने किस प्रकार की इसे समझने का प्रयत्न किया गया है। वरुण, इन्द्र, अग्नि, विश्वकर्मा आदि सृष्टि को उत्पन्न

---

[1] ऋग्वेद १।२३।५, १।२५।१-२

[2] यजुर्वेद ४०।७, छान्दोग्योपनिषद् ६।८।७

करनेवाले माने गये हैं। हिरण्यगर्भ-सूक्त[1] में बताया गया है कि हिरण्यगर्भ सबके पहिले ही से था। वही एकमात्र संसार का स्वामी है। वही आकाश, पृथ्वी आदि का निर्माता है। नासदीय सूक्त[2] में दार्शनिक ढङ्ग पर सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। उसमे कहा गया है कि सृष्ट्युत्पत्ति के पूर्व न सत् था, न असत्। सब अन्धकारमय था। तप द्वारा सत् व असत् का द्वयीभाव हुआ व तत्पश्चात् अन्य संसृष्टि हुई। पुरुष सूक्त[3] मे आलङ्कारिक भाषा की सहायता से सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। उसमे वर्णन आता है कि परमात्मा रूपी पुरुष के शरीर से यह संसार बना है। संसारोत्पत्ति के कार्य का एक महान् यज्ञ माना गया है, जिसमें पुरुष को 'मेध्य' कहा गया है।

इन सिद्धान्तों के अतिरिक्त कर्म के सिद्धान्त को भी वैदिक आर्यों ने अच्छी तरह से समझा था। इसी कर्म सिद्धान्त के द्वारा मृत्यु के रहस्य को भी समझने का प्रयत्न किया गया था। पुनर्जन्म के सिद्धान्त का उल्लेख अथर्ववेद के कितने ही मन्त्रों में है[4]। स्वर्ग व नरक के भाव भी वैदिक कालीन समाज में वर्तमान थे। मृत्यु के पश्चात् यम के राज्य मे जीवात्मा आनन्द का अनुभव करता है[5]। ऋग्वेद[6] में स्वर्ग लोक का वर्णन आता है, जहाँ बहुतसे सींगवाली गायें रहती है, व जहाँ 'मध्व उत्स' (शहद का भण्डार) है।

कला

(भारत की विभिन्न कलाओं का इतिहास भी वैदिक काल से ही प्रारम्भ होता है। वास्तुनिर्माण कला का विकास वैदिक काल मे प्रारम्भ हो गया था। ऋग्वेद में कितने ही स्थलों पर 'पुर[7]' 'व्रज[8]'

---

[1] ऋग्वेद १०।१२१

[2] ऋग्वेद १०।१२९

[3] ऋग्वेद १०।९०

[4] अथर्व० १९।६७।६८

[5] ऋग्वेद ६।६।१०, ९।४२।२, १०।८८।५

[6] ऋग्वेद १।१ ४।५६

[7] ऋग्वेद १।१०३।३, २।२०।८ ३।१२।६, ४।३२।१०

[8] ऋग्वेद ५।६।७,

आदि का उल्लेख आता है। ऋग्वेद के वास्तोष्पति-मन्त्रों में गृह-देवताओं की स्तुति की गई है। ऋग्वेद में कितने ही स्थलों पर गृह[1], सद्म[2], प्रसद्म[3], दीर्घ प्रसद्म[4] आदि का उल्लेख आता है, जिससे स्पष्ट है कि वैदिक काल मे छोटे से छोटे व बड़े से बड़े घर बनाये जाते थे। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वास्तुनिर्माण कला का ज्ञान वैदिक काल में अवश्य वर्तमान था। शिल्पकारी की कला के बारे में वैदिक युग का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता, किन्तु यजुर्वेद[5] में मणिकार, सुवर्णकार आदि का जो उल्लेख आता है, उसके सहारे यह कहा जा सकता है कि कदाचित् इस कला का ज्ञान उस समय रहा हो, क्योंकि गहने पहिनने की भावना में ही कला की भावना भरी हुई है। सङ्गीत-कला की प्राचीनता पर ऋग्वेद अच्छा प्रकाश डालता है। इतने प्राचीन काल में भी सङ्गीत-विद्या के भिन्न भिन्न अङ्गों का सम्यक् विकास किया गया था। ऋग्वेद में तीन प्रकार के वाद्यों का उल्लेख है, जैसे दुन्दुभि, वाण (बांसुरी) व वीणा[6]। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में कहा गया है परमात्मा-रूपी पुरुष से साम-गीत भी उत्पन्न हुए हैं[7]। साम-गीत ऋग्वेद-काल में पूर्णतया ज्ञात थे व ऋषियों द्वारा स्थान स्थान पर गाये जाते थे। यजुर्वेद[8] में वीणा, बांसुरी, शङ्ख आदि बजाने वालों का स्पष्ट उल्लेख है। भारतीय अनुश्रुति के अनुसार गान्धर्व-कला का प्रारम्भ सामवेद से होता है। इस वेद का उपवेद गान्धर्ववेद है जो आज अप्राप्य है। नृत्य-कला का विकास भी वैदिक काल से प्रारम्भ हो गया था। ऋग्वेद[9] में नृत्यकला में प्रवीण स्त्रियों का उल्लेख है जो अपनी विशेष पोशाक में सजधज कर

---

[1] ऋग्वेद ६।३।८, ८।२२।३, १।६१।९

[2] ऋग्वेद ७।१८।२२,

[3] ऋग्वेद ७।८।२२,

[4] ऋग्वेद ८।१०।१

[5] ३०।६-७, ११, १७, २०

[6] मैकडानेल-सस्कृत लिटरैचर पृ० १६९

[7] ऋग्वेद १०।९०।९

[8] ३०।१९, २०

[9] १।९२।४, ६।२९।३

नृत्य करती[1] थीं। पुरुष-वर्ग सुवर्णादि के आभूषणों से सुसज्जित होकर युद्ध सम्बन्धी नृत्य का प्रदर्शन करता था[2]। यजुर्वेद[3] में "वंशनर्तिन्" का उल्लेख आता है, जो बांस पर नाचा करता था। इस प्रकार वैदिक काल में नृत्य कला को मनोरञ्जन का साधन मान उसका विकास किया गया था।)

गणित विज्ञान आदि

प्राचीन भारत में वैदिक काल से ही गणित विज्ञान आदि विभिन्न शास्त्रों का विकास प्रारम्भ हो गया था। अङ्कगणित, बीजगणित, रेखागणित, ज्योतिष, भौतिकविज्ञान, रसायनशास्त्र, शरीरविज्ञान, वनस्पतिशास्त्र, प्राणीशास्त्र, आयुर्वेद आदि पर अच्छी तरह से विचार कर उन्हें मानव-जीवन से सम्बन्धित किया गया था। इन शास्त्रों के मूल तत्त्वों का ज्ञान वैदिक काल में वर्तमान था तथा उसी समय से उनका विकास प्रारम्भ हो गया था[4]। अङ्कगणित का प्रारम्भ वैदिक काल से होता है। उस समय छोटी से छोटी व बड़ी से बड़ी संख्या गिनने की विधि ज्ञात थी[5]। बड़ी से बड़ी संख्याओं के ज्ञान से स्पष्ट होता है कि गणित विद्या-सम्बन्धी तत्त्वों का सम्यक् विकास प्रारम्भ हो चुका था। शतपथ ब्राह्मण के अग्निचयन-प्रकरण में ऋग्वेद के सब अक्षरों की संख्या दी गई है तथा अन्य स्थलों पर अङ्कगणना का उल्लेख है[6]। रेखागणित का प्रारम्भ भी वैदिक काल से ही होता है। उसके विकास सम्बन्ध यज्ञों से है[7]। वैदिक काल में यज्ञों का कितना प्रावल्य था, यह तो स्पष्ट ही है। भिन्न भिन्न यज्ञों के लिये भिन्न भिन्न आकार की वेदियों की आवश्यकता होती थी। यज्ञवेदी को बनाने के लिये जो ईंटें बनाई जाती थीं, वे भी किसी निश्चित आकार की रहती थीं। इस प्रकार वैदिक काल में यज्ञों से रेखा-गणित का प्रारम्भ हुआ।

---

[1] ऋग्वेद १।९२।४, ६।२९।३

[2] दी कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया, जि० ३, पृ० ५८६

[3] ३०।२१

[4] सि० द० ज्ञानी-वेदों का महत्त्व, पृ० १-७५

[5] छान्दोग्योपनिषद् ७।१।१-४, यजुर्वेद १७।२

[6] शतपथ ब्राह्मण—३।३।१।१३, १०।२।१।११, १३।४।१।६

[7] मेकडॉनेल—संस्कृत लिटरैचर, पृ० ४२४-४२५

ज्योतिष

ज्योतिष शास्त्र का गणित से बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। इसका अध्ययन भी यज्ञ की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये प्रारम्भ किया गया था। अतएव इसका प्रारम्भ भी वैदिक काल से होता है। विभिन्न यज्ञों के लिये भिन्न-भिन्न नक्षत्रों का समय उपयुक्त समझा जाता था। धीरे-धीरे बहुत समय तक चालू रहने वाले यज्ञ किये जाने लगे। इसलिये ग्रह, नक्षत्र आदि के ज्ञान का विकास प्रारम्भ हो गया। वैदिक आर्यों को चन्द्र, गुरु, मङ्गल, शनि आदि का ज्ञान था[1]। वैदिक काल में ज्योतिष का महत्त्व इतना बढ़ गया था कि उसका समावेश वेदाङ्गों में किया जाने लगा।

विज्ञान

भारत में वैदिक काल से ही विज्ञान के विभिन्न अङ्गों का प्रारम्भ हो गया था। भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र, वनस्पति शास्त्र, प्राणी शास्त्र, भूगर्भ विद्या, धातुविद्या आदि के मौलिक सिद्धान्तों का उल्लेख वेदों में मिलता है[2]। प्रकाश के सात रङ्गों को भारतीयों ने वैदिक काल से ही समझ लिया था, क्योंकि ऋग्वेद[3] में सूर्य को 'सप्त-रश्मि' (सात प्रकार की किरणों वाला) कहा गया है। वैदिक काल में आयुर्वेद का विकास प्रारम्भ हो गया था, जिससे रसायन शास्त्र के अस्तित्व का भी पता लगता है। यजुर्वेद[4] में मणिकार, सुवर्णकार आदि के उल्लेख से तत्कालीन धातुज्ञान का पता लगता है। वनस्पति शास्त्र का प्रारम्भ भी वैदिक काल से ही होता है। वैदिक काल से ही सब जीवधारियों को दो विभागों में बाँटा गया था—स्थावर व जङ्गम। वेदों[5] में उन्हें क्रमशः 'तस्थुष' व 'जगत्' शब्दों से सम्बोधित किया गया है। वनस्पतियों में जीव है व उन्हें भी जागृति, निद्रा, सुख, दुःख आदि का अनुभव होता है इस सिद्धान्त का स्पष्ट उल्लेख वैदिक

---

[1] दी कल्चरल हेरिटेज ऑफ इन्डिया, जि० ३, पृ० ३४१-३४९

[2] ऋग्वेद १।५१।८, यजुर्वेद ७।४७, अथर्ववेद, २।३१-३३, शि० द० ज्ञानी—वेदों का महत्त्व पृ० १२-२०

[3] १।५१।८, १।१०५।९,

[4] ३०।६-७, ११, १७, २०

[5] यजुर्वेद, ७।४२

साहित्य में आता है[1]। ऋग्वेद व अथर्ववेद में आयुर्वेद से सम्बन्धित बहुत सी बातों का उल्लेख है। ऋग्वेद में अश्विनीकुमारों से टूटे पैर को जोड़ देने की प्रार्थना की गई है तथा शरीर के भग्न अङ्गों को कृत्रिम साधनों से ठीक करने का उल्लेख है[2]। अथर्ववेद मे भिन्न-भिन्न रोगों का उल्लेख है तथा उनके उत्पादक कीटाणुओं का भी वर्णन है[3]। शारीरिक विकास के ज्ञान का प्रारम्भ भी वैदिक काल से ही होता है। वेदों में सौ वर्ष तक जीवित रहने की आकांक्षा प्रदर्शित की गई है और वह भी सब इन्द्रियों के सशक्त रहते हुए[4]। आत्मसंयम, इन्द्रियनिग्रह, प्राणायाम, व्यायाम, यज्ञद्वारा वायुशुद्धि, शुद्ध अन्न व जल, योगासन आदि द्वारा वैदिक युग में शारीरिक विकास किया जाता था। ये शारीरिक विकास के मूल तत्त्व थे। इससे स्पष्ट है कि वैदिक युग में स्वास्थ्य-विज्ञान का भी विकास किया गया था।

साहित्यिक-विकास

प्राचीन भारत के साहित्यिक विकास का प्रारम्भ भी वैदिक काल से ही होता है। शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्दशास्त्र आदि का प्रारम्भ भी वैदिक काल से ही होता है। वैदिक साहित्य के अध्ययन से हमें तत्कालीन गद्यपद्यात्मक काव्य के विकास का पता चलता है। ऋग्वेद में उषा सम्बन्धी मन्त्र उत्कृष्ट काव्य के सुन्दर नमूने हैं। उनमें प्रभावशाली ढङ्ग से उपमा, रूपक आदि अलङ्कारों का प्रयोग किया गया है। प्राचीन गद्य का इतिहास यजुर्वेद के गद्यांशों से प्रारम्भ होता है[5]। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसके विकास का स्पष्ट पता लगता है। सब ब्राह्मण-ग्रन्थ गद्य में ही लिखे गये हैं यद्यपि उनमे कुछ पद्यांश भी है। भारतीय जनश्रुति के अनुसार नाटक का प्रारम्भ वेदों से ही होता है[6]। (नाटक के विकास के लिये आवश्यकीय

[1] ऋग्वेद १।३२।५, अथर्ववेद १०।७।३८, यजुर्वेद २२।२८, तैत्तिरीय संहिता ७।३।१९।१, बृहदारण्यकोपनिषद् ४।६।१

[2] ऋग्वेद ८।७१।२. ५

[3] अथर्ववेद २।३१-३३,

[4] ऋग्वेद ७।६६।१६, १।८९।९८ यजुर्वेद ३१।२४

[5] मैकडानेल—संस्कृत लिटरेचर पृ० १७७

[6] भारतीय नाट्यशास्त्र १।२, कीथ—संस्कृत ड्रामा, पृ० ३१-३६

सामग्री ऋग्वेद में वर्तमान है। पुरूरवस्[1]-उर्वशी, यम यमी[2], विश्वामित्र[3]-नदी आदि से सम्बन्धित संवाद मन्त्र' यज्ञों के नाटकीय स्वरूप आदि से नाटक का विकास प्रारम्भ हुआ होगा।

६

उपसंहार

सारांश में यह कहा जा सकता है कि वेदकालीन समाज सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर स्थित था, जिसमें सांस्कृतिक जीवन के मौलिक तत्त्वों का विकास किया गया था। तत्कालीन सांस्कृतिक जीवन उच्च आदर्शों व सिद्धान्तों के द्वारा विकसित किया गया था तथा उसने मानव जीवन के विभिन्न अङ्गों को स्पर्श किया था। वैदिक युग में सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक आदि जीवन पर्याप्त रूप में विकसित हुआ था, तथा विभिन्न विद्याओं तथा शास्त्रों का विकास भी प्रारम्भ हो गया था।

वेदकालीन समाज ने उदात्त सिद्धान्तों पर स्थित देशकाल से अबाधित संस्कृति को विकसित कर जीवन के मूल्यों को स्थिर किया था। धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष को पुरुषार्थ मान उनकी प्राप्ति ही मानव-जीवन का ध्येय बन गई थी। अनेकत्व में एकत्व के दर्शन ऐहिकता व पारलौकिकता का सुन्दर समन्वय, समग्र जीवन का सानुपातिक विकास, संश्लेषणात्मक प्रणालिका द्वारा आर्य व अनार्य का एकीकरण, व्यष्टि व समष्टि का सुन्दर सामञ्जस्य, अध्यात्मोन्मुखी जीवन-दृष्टि आदि वेदकालीन सांस्कृतिक विकास की विशेषताएँ हैं। इस प्रकार वैदिक साहित्य एक ऐसे समाज का चित्र उपस्थित करता है जिसमें जीवन के विभिन्न पहलुओं को सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर विकसित किया गया था।

---

[1] ऋग्वेद १०।९५,

[2] ऋग्वेद १०।१०,

[3] [illegible] ३।३३

अध्याय—४

१

सामाजिक जीवन

निसर्गसिद्ध संस्कार

मानव-जीवन के आलोचनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि मनुष्य में ईश्वर प्रदत्त या निसर्गसिद्ध कुछ संस्कार रहते हैं, जिनके द्वारा उसके जीवन का विकास प्रारम्भ होता है। ये ही संस्कार समस्त सामाजिक विकास की जड़ में हैं। आत्म-रक्षा, एकत्रित हो समुदाय बनाकर रहना, युग्मभावना, यौन संस्कार, मनोविकारादि से सम्बन्धित संस्कार आदि नैसर्गिक तत्त्व मानव जीवन के इतिहास में विशेष स्थान रखते हैं। यदि वेदकालीन सामाजिक जीवन का विश्लेषण किया जाय तो स्पष्ट होगा कि उसके अन्तर्गत उपरोक्त संस्कारों की क्रियाएँ व प्रक्रियाएँ वर्तमान हैं। वेदकालीन समाज ने उन्हीं संस्कारों को अपने सांस्कृतिक विकास के आधार-स्तम्भ बनाया था। वेदकालीन समाज पर यदि आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि तत्कालीन सामाजिक जीवन में आर्य अनार्य, व्यष्टि-समष्टि तथा ऐहिकता-पारलौकिकता के मध्य सुन्दर समन्वय स्थापित किया गया था।

इतिहास के विद्वानों का साधारणतया यह मन्तव्य है कि वेदकालीन समाज आर्यों की विभिन्न जातियों का बना हुआ था जो परस्पर लड़ा करती थीं। इस समाज में धीरे धीरे अनार्य, दस्यु, दास, शूद्र आदि भी सम्मिलित किये गये थे जिसके परिणाम-स्वरूप आर्य व अनार्य के मध्य सामञ्जस्य स्थापित होने लगा। इसी सामञ्जस्य ने वर्णव्यवस्था को जन्म दिया। इस युग के समाज ने मनुष्य के आन्तरिक व बाह्य दोनों जगतों का सुन्दर विश्लेषणात्मक अध्ययन किया था। उसके मन, बुद्धि, आत्मा आदि को समझ उसके व्यक्तित्व का अध्ययन किया गया था। इसी व्यक्तित्व के विकास के लिये

आश्रम-व्यवस्था का विकास हुआ था। आश्रम व वर्णव्यवस्था द्वारा व्यक्ति तथा समष्टि का सुन्दर समन्वय स्थापित होता है। इसके अतिरिक्त वेदकालीन समाज में जीवन का विकास आध्यात्मिकता से प्रभावित था। जीवन का उद्देश न तो विशुद्ध भौतिकता से परिपूर्ण था और न विशुद्ध आध्यात्मिकता से ही। तत्कालीन समाज ने भौतिकता व आध्यात्मिकता के मध्य या ऐहिकता व पारलौकिकता के मध्य सुन्दर सामञ्जस्य स्थापित किया था। वेदकालीन आर्य जहाँ धन, धान्य, पुत्रपौत्रादि से परिपूर्ण जीवन का आनन्द उठाना चाहते थे, वहाँ 'भूरि शृङ्ग' गायों तथा 'मध्व उत्स' वाले विष्णुलोक में भी पहुँचना चाहते थे, साथ ही 'हिरण्यगर्भ' 'पुरुष' 'सत्' 'असत्' 'तमस्' आदि के गूढ़ रहस्यों का विवेचन कर आध्यात्मिकता के वातावरण का भी निर्माण करते थे। इस प्रकार वेदकालीन समाज ने सर्वतोमुखी प्रगति प्रारम्भ कर दी थी तथा धर्म अर्थ काम मोक्ष आदि की प्राप्ति जीवन का ध्येय बनाया था।

वेदकालीन सामाजिक व्यवस्था पर यदि आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि उसके पांच आधार-स्तम्भ थे यथा पारिवारिक जीवन, तीन ऋण, वर्णव्यवस्था, आश्रम व्यवस्था तथा वर्ग चतुष्टय। समाज का समग्र जीवन इन्हीं आधार-स्तम्भों पर आश्रित था, जिनसे उसे कितनी ही शताब्दियों तक जीवनशक्ति प्राप्त होती रही। विश्व के अन्य किसी मानव-समाज ने इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था का विकास नहीं किया था।

२

पारिवारिक जीवन

वेदकालीन समाज पितृपक्ष-प्रधान परिवार-प्रथा के सिद्धान्त पर आश्रित था, जिसके कारण परिवार में पिता का स्थान सर्वोच्च था व परिवार के अन्य सदस्यों को उस के आश्रय में रहना पड़ता था, व उसकी आज्ञा शिरोधार्य करनी पड़ती थी। माता-पिता का अपनी सन् [illegible] अधिकार [illegible] जै [illegible]

से बाँधे जाने के उल्लेख से सिद्ध होता है[1]। पिता परिवार में दृढ़ अनुशासन रखता था व अपराधियों को दण्डित भी करता था जिस प्रकार ऋज्राश्व को उसके पिता ने अन्धा बना दिया था[2]। इसी प्रकार ऋग्वेद में एक जुआरी का उल्लेख आता है, जिसके माता-पिता व भाई उससे अपना सम्बन्ध विच्छेद करते हैं व कर्जदार को उसे बाँधकर ले जाने के लिये कहते हैं[3]। इन उदाहरणों से सिद्ध होता है कि पुत्रों पर पिता द्वारा नियन्त्रण रखा जाता था तथा पिता का उन पर पूरा अधिकार भी रहता था।

पारिवारिक जीवन में माता का स्थान भी बहुत महत्त्वपूर्ण माना गया था। ऋग्वेद[4] में "जायेदस्तं" ('जाया ही घर है') शब्दों द्वारा पत्नी के गृहिणी पद का सुन्दर विवेचन किया गया है। परिवार के आन्तरिक जीवन में माता का स्थान सर्वोच्च था। घर की व्यवस्था, बच्चों का लालन पालन आदि माता की ही जिम्मेवारियाँ थीं। घर के धार्मिक जीवन में भी उसे अपना हाथ बटाना पड़ता था। गृहपति अपनी पत्नी के साथ गार्हपत्याग्नि में सब धार्मिक कृत्यों को सम्पादित करता था। गार्हस्थ्य-जीवन के प्रत्येक कार्य में पति पत्नी का साहचर्य रहता था जिसके कारण वैदिक आर्यों का गार्हस्थ्य-जीवन बड़ा सुखी रहता था, जैसा कि इन्द्र के सम्बन्ध में कहा गया है[5]—'हे इन्द्र तुमने सोम पी लिया है अब अपने घर जाओ जहाँ तुम्हारी कल्याणकारी पत्नी है व जो आनन्दपूर्ण है।' इन शब्दों में गार्हस्थ्य सौख्य का सुन्दर दिग्दर्शन कराया गया है। पत्नी न केवल पति की प्रियतमा ही थी, किन्तु उसकी आज्ञाकारिणी व सर्वदा उसकी आव-

---

[1] ऋग्वेद १।२४।१२-१५, ऋ० ५।२।७ "शुनश्चिच्छेप निदित सहस्राद्यूपाद-मुञ्चो अशमिष्ट हि ष ।" ऐतरेय ब्राह्मण (७।१२-१८) में शुन शेप की कथा वर्णित है जिसमे बताया गया है कि आजीगर्त्ति मुनि ने अपने पुत्र शुन शेप को रोहित के हाथ बेच दिया था।

[2] ऋग्वेद १।११६।१६ "ऋज्राश्व त पितान्ध चकार ।"

[3] ऋग्वेद १०।३४।४ पिता माता भ्रातर एननाहुर्न जानीमो नयता बद्धमेतम् ।

[4] ३।५३।४

[5] ऋग्वेद ३।५३।६ "अपा' सोममस्तमिद्र प्रयाहि कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते ।"

श्यकताओं की पूर्ति में संलग्न रहती थी[1]। वह अपने को सुन्दर वेष-भूषा से सुसज्जित करती थी[2], तथा सर्वदा स्मितमुखी रहती थी[3]। पत्नी का हार्दिक सौन्दर्य माता के रूप में अधिक निखर आता था व घर को स्वर्गस्थली बना देता था। उसे अपने बच्चों के प्रति अगाध प्रेम रहता था[4]। वह उनका पालन पोषण करके उन्हें उछेरती थी। खेलते हुए विकासशील बालक घर के विशेष आकर्षण थे[5]। ऋग्वेद में कितने ही स्थलों पर वात्सल्य रस से परिपूर्ण पारिवारिक जीवन की सुन्दर झांकियाँ अङ्कित हैं। छोटा बालक अपने पिता के वस्त्रों के छोर को पकड़ता है जिससे पिता का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हो तथा उत्सुकतापूर्ण व प्रेमपूर्ण शब्दों में अपनी मांग उपस्थित करता है[6]। क्रीड़ाङ्गण में खेलते हुए बालक अपने क्रीड़ा-कौशल में इतने व्यस्त हैं कि वे भूख को भी भूल जाते हैं, जब उनकी माता उन्हें भोजन के लिये ले जाना चाहती है तब वे उसे अपने छोटे हाथों से मार कर अलग करते हैं[7]। कभी-कभी माता के स्तनों से दुग्धधारा बह निकलती है क्योंकि बालक उसके पास नहीं है; किन्तु ज्यों ही बालक उसके पास लाया जाता है त्यों ही वह प्रसन्नतापूर्वक बैठ जाती है व प्रेम भरे शब्दों से बालक को पुचकारती हुई दूध पिलाती है[8]। अपनी गोद में बच्चों को लेकर बैठी हुई माता का चित्रण बहुत ही सुन्दर ढङ्ग से किया गया है[9]।

---

[1] ऋग्वेद १।१२२।२

[2] ऋग्वेद ४।३।२ : "जायेव पत्य उशती सुवासाः।"

[3] ऋ० ४।५८।९ : "अभि प्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निम्।"

[4] ऋग्वेद ७।८१।४

[5] ऋग्वेद ७।५६।१६ : "ते हर्म्येष्ठाः शिशवो न शुभ्रा वत्सासो न प्रक्रीडिनः पयोधाः॥"

[6] ऋग्वेद ३।५३।२ : "पितुर्न पुत्र सिचमारभेत इन्द्र स्वादिष्ठया गिरा शचीवः॥"

[7] ऋ० १०।९४।१४ : "सुते अध्वरे अधि वाचमक्रता क्रीळयो न मातरं तुदन्तः। विपु मुञ्चा सुषुवुषो मनीषा विवर्तन्तामद्रयश्चायमानाः॥"

[8] ए० सी० दास—ऋग्वेदिक कल्चर पृ० २३८;

[9] ऋ० ७।४३।३ : "आ पुत्रासो न मातरं विभृत्राः सानौ देवासो बर्हिषः सदन्तु।"

ऋग्वेद में पत्नी को गृहिणी के रूप में भी अङ्कित किया गया है। वह प्रातः उष:काल में उठती थी व सबको निद्रा से जागृत करती थी[१]। प्रातःकालीन कृत्यों से निवृत्त होकर वह स्नान करती थी तथा गार्हपत्याग्नि में अपने पति के साथ आहुतियां देती थी। इसी प्रकार माध्यंदिन व सायं आहुतियां दोनों मिल कर प्रदान करते थे[२]। पवित्र गार्हपत्याग्नि को प्रज्वलित रखना गृहिणी का परम पुनीत कर्तव्य था। गायों के दुहे जाने पर बर्तनों में दूध आता था, जिसे वह गरम करती, मक्खन आदि बनाती और फिर भोजन बनाने में लग जाती थी। भोजन के पश्चात् अपना तथा अपने बच्चों का श्रृङ्गार करती थी[३]। फिर वह सायंकाल का भोजन बनाती व बच्चों को जल्दी से सुला देती थी। वह घरेलू नौकरों के साथ अच्छा व्यवहार करती थी[४]। वह घर के गाय व अन्य पशुओं की देखभाल रखती थी[५]। कभी-कभी अन्य स्त्रियों के साथ बाहिर घूमने जाती थी व निकटस्थ पर्वतों पर फूल तोड़ती थी[६]। सास, ससुर, ननद, देवर आदि सम्बन्धियों के प्रति उसका व्यवहार बहुत ही अच्छा रहता था[७]।

पुत्रप्राप्ति वेदकालीन गार्हस्थ्य जीवन का मूलमंत्र मानी जाती थी। जिस घर में बच्चों की किलकिलाहट, हास्य आदि का शब्द न सुनाई दे वह रहने योग्य नहीं माना जाता था। पुत्रप्राप्ति के लिये देवताओं से प्रार्थना की जाती थी[८]। पुत्र की इच्छा न केवल वंश के सातत्य के लिये किन्तु मृत पितरों की अपने वंशजों द्वारा आत्म-तृप्ति के लिये भी की जाती थी[९]। औरस पुत्र की अनुपस्थिति में

---

[१] ऋ० १।१२४।४

[२] ऋग्वेद १।१७३।२, ७।२८, [illegible]।४३।१५, ८।७।२९, ८।१३।१३

[३] ऋग्वेद १।१२३।११, १।१२४।७, ४।३।२, ४।५८।९, १०।११०।५; ए० सी० दास ऋग्वेदिक कल्चर पृ० २३९

[४] ऋ० १०।८५।४३

[५] ऋ० १०।८५।४४

[६] ऋ० १।५६।७

[७] ऋ० १०।८५।४६

[८] ऋ० ७।१।११, १२, १९, २४, ए० सी० दास—ऋग्वेदिक कल्चर, पृ० २४०, ऋ० ५।२५।५

[९] ऋग्वेद १।१०५।३

पुत्र गोद भी लिये जाते थे। पुत्रों को विद्याभ्यास के लिये गुरुकुल में भिजवाया जाता था। इस प्रकार पिता के नेतृत्व में पुत्र का विकास होता था व उसे हर प्रकार से योग्य बनाया जाता था।

संयुक्तपरिवार-प्रथा वेदकालीन पारिवारिक जीवन की विशेषता थी। पिता के नेतृत्व में परिवार के सब सदस्य एकत्रित रहते थे। सब पुत्र बड़े होने पर भी एकत्रित ही रहते थे। ऋग्वेद[1] में वर्णन है कि नवविवाहिता वधू जब अपने ससुराल में प्रथम बार जाती है तब उसे कहा जाता है कि 'यही अब तुम्हारा घर है, पुत्र-पौत्रों के साथ आनन्द करते हुए यहीं अपना समस्त जीवन व्यतीत करो। वीर पुत्रों की जननी बनो तथा अपने ससुर, सास, ननद, देवर आदि के प्रति सम्राज्ञी बन कर रहो।' ऋग्वेद के इन शब्दों में स्पष्टतया बताया गया है कि सास, ससुर, ननद, देवरवाले संयुक्त परिवार में नवविवाहिता वधू का, जिसने अपने माता-पिता के घर को सदैव के लिये छोड़ दिया है, कितना भावपूर्ण व उदात्त स्वागत होता था! उसे अपने नये घर की 'सम्राज्ञी' का पद दिया जाता था, जिससे उसे अपने माता-पिता के घर की याद न सतावे। ऋग्वेद में जहां कहीं पारिवारिक जीवन का उल्लेख है उससे संयुक्तपरिवार-प्रथा का ही बोध होता है।

गार्हपत्याग्नि

गार्हपत्याग्नि पारिवारिक जीवन का केन्द्रबिन्दु थी। इसे गार्हपत्याग्नि इसलिये कहा जाता था कि इसका संरक्षण घर के मुखिया गृहपति द्वारा किया जाता था। परिवार के सुख दुःख की साक्षी यही अग्नि रहती थी। पारिवारिक जीवन के सातत्य का एक महान् प्रतीक उस अग्नि में प्रतिबिम्बित होता था, जिसमें परिवार का धार्मिक जीवन केन्द्रित रहता था। प्राचीन पारिवारिक जीवन पूर्णतया धार्मिक रहता था। प्रतिदिवस परिवार में पञ्चमहायज्ञादि धार्मिक कृत्य तथा अन्य नैमित्तिक कर्म किये जाते थे, जिनका सम्पादन उसी अग्नि में किया जाता था। अग्निपरिचर्या गृहपति व गृहिणी का पुनीत कर्तव्य समझा जाता था। इसी अग्नि के सामने उपनयन,

---

[1] ऋग्वेद १०।८५।४२, ४६ : "सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव। ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधिदेवृषु ॥".

विवाह आदि संस्कार सम्पादित किये जाते थे, जिनका वेदकालीन पारिवारिक जीवन में बड़ा महत्त्व था। इस प्रकार पारिवारिक जीवन में गार्हपत्याग्नि अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण थी।

कर्तव्य-पञ्चमहायज्ञ

वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से हमें तत्कालीन पारिवारिक जीवन के कर्तव्यों के बारे में भी बहुत कुछ ज्ञात होता है। यद्यपि उन कर्तव्यों का व्यवस्थित रूप गृह्यादि सूत्रों तथा मन्वादि स्मृतियों से प्राप्त होता है किन्तु वैदिक काल में भी उनका अस्तित्व था व उन्हें महत्त्वपूर्ण माना जाता था इस सम्बन्ध में शंका के लिये कोई स्थान नहीं रहता। उन दैनिक कर्तव्यों में पञ्चमहायज्ञ का स्थान महत्त्वपूर्ण था। प्रत्येक गृहस्थी को ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ व नृयज्ञ (अतिथि यज्ञ) करने पड़ते थे। ब्रह्मयज्ञ से वेदाध्ययन का तात्पर्य था। ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् भी गृहस्थाश्रम में वेदों का स्वाध्याय तो नियमित रूप से करना ही पड़ता था। पितृयज्ञ में तर्पण आदि द्वारा मृत पितरों को तृप्त किया जाता था। देवयज्ञ में सायं-प्रातः अग्निहोत्र द्वारा विभिन्न देवताओं को आहुतियाँ प्रदान की जाती थीं। भूतयज्ञ में पाकशाला की अग्नि में भोजन का कुछ अंश डाला जाता था तथा कुत्ते, पतित, पापी, वायस, कृमि आदि के लिये भी भोजन का कुछ अंश भूमि पर रख दिया जाता था। नृयज्ञ या अतिथियज्ञ में भोजन आदि द्वारा किसी अभ्यागत का आदर-सत्कार किया जाता था।

इन पाँचों यज्ञों पर यदि आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि प्राचीन भारतीय पारिवारिक जीवन में विभिन्न तत्त्वों का सामञ्जस्य उपस्थित किया गया था। वेदाध्ययन द्वारा बुद्धि तथा आत्मा का विकास, पितृयज्ञ द्वारा मृत पितरों की स्मृति का नवीनीकरण, देवयज्ञ द्वारा धार्मिक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन, भूतयज्ञ द्वारा जीवमात्र के प्रति दया का भाव तथा अतिथियज्ञ के द्वारा नागरिकता के भाव की परिपुष्टि आदि के द्वारा प्रत्येक परिवार अपने जीवन के विभिन्न अङ्गों को परिपुष्ट करके विकसित करता था।

संस्कार

वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि वेदकालीन समाज में यज्ञ व अग्नि दोनों अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण थे।

पारिवारिक जीवन में भी इन दोनों का महत्त्व था। यही कारण है कि पारिवारिक जीवन के शुभ अशुभ अवसर के समय अग्नि आवश्यकीय समझी जाती थी व उसमें कुछ धार्मिक विधियां सम्पादित की जाती थीं, जिन्हें संस्कार कहा जाता था। परिवार की अनेक प्रवृत्तियां संस्कारों द्वारा संचालित की जाती थीं। बालक के जन्म लेते ही उसका जीवन एक धार्मिक ढांचे में ढाला जाता था। ज्यों-ज्यों उसकी विभिन्न शक्तियोंका विकास होता था त्यों-त्यों उस विकास की विभिन्न अवस्थाओं में भिन्न भिन्न संस्कारों के द्वारा उसके जीवन को परिष्कृत किया जाता था। विद्योपार्जन के लिये ब्रह्मचर्य्याश्रम में प्रवेश के अवसर पर एक महत्त्वपूर्ण संस्कार किया जाता था, जिसे उपनयन संस्कार कहते थे। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते समय विवाह संस्कार किया जाता था, जब नवविवाहित वर-वधू को जीवन के कर्तव्यों व उत्तरदायित्व से परिचित कराया जाता था, तथा पति-पत्नी धर्म, अर्थ, काम आदि की प्राप्ति के लिये मृत्युपर्यन्त एक धार्मिक बन्धन में बँध जाते थे। इसी प्रकार वानप्रस्थ व संन्यास आश्रम में प्रवेश करते समय भी महत्त्वपूर्ण संस्कार सम्पादित किये जाते थे। अन्त में देहावसान होने पर अन्त्येष्टि संस्कार के अवसर पर सुगन्धित द्रव्यों के साथ यह भौतिक शरीर अग्नि को समर्पित किया जाता था। इस प्रकार वेदकालीन समाज में विभिन्न संस्कारों द्वारा मानव-जीवन को परिमार्जित व परिष्कृत किया जाता था।

यम-नियम

मानव जीवन को नियन्त्रित करने के लिये प्राचीन भारत में नैतिकतापूर्ण नियमों का विकास किया गया था तथा उन्हें दैवी स्वरूप भी प्रदान किया गया था। ऋग्वेद में वरुण के ऋत[1] का स्थान स्थान पर उल्लेख आता है जिसका पालन प्रत्येक मनुष्य के लिये आवश्यकीय था। वरुण के व्रतों का भी यत्र-तत्र उल्लेख है। वरुण सम्बन्धी मन्त्र पूर्णतया नैतिकतापूर्ण हैं।[2] यों तो जहाँ कहीं भी देवताओं की स्तुति या प्रार्थना की गई है, वातावरण नैतिकतापूर्ण ही है। इसी वातावरण में यम नियम के सिद्धान्त का विकास

[1] ऋग्वेद ७।५६।१२

[2]

हुआ। यद्यपि इस सिद्धान्त का प्रत्यक्ष उल्लेख सूत्र स्मृत्यादि में प्राप्त होता है तथापि उसके मूल सिद्धान्तों का अस्तित्व वैदिक काल से ही था। प्रत्येक को ब्रह्मचर्य्य दया, क्षमा, ध्यान, सत्य, नम्रता, अहिंसा, अस्तेय, माधुर्य्य व इन्द्रिय-मन आदि दस यमों का तथा स्नान, मौन, उपवास, यज्ञ, स्वाध्याय, इन्द्रियनिग्रह, गुरुसेवा, शौच, अप्रमाद, अक्रोध आदि दस नियमों का सेवन करना पड़ता था। इनमें यम का पालन अनिवार्य्य था, किन्तु नियमों का पालन परिस्थितियों पर आश्रित रहता था। ये यम नियम मानव-जीवन को नियन्त्रित करने में समर्थ होते थे, जिससे कि वह उन्मार्ग में प्रवृत्त नहीं होता था।

उपरोक्त वर्णन से सिद्ध होता है कि वेदकालीन पारिवारिक जीवन नैतिकतापूर्ण धार्मिकता के सिद्धान्त पर आश्रित था। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धर्म का प्रभाव स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता था। यज्ञसम्बन्धी कर्मकाण्ड, विविध संस्कार आदि का तत्कालीन पारिवारिक जीवन में विशेष स्थान था।

भोजन

वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से वेदकालीन भोजनादि की व्यवस्था का भी स्पष्ट ज्ञान होता है। वेदकाल में कृषि का प्राधान्य था, जिसका उल्लेख वेदों में स्थान-स्थान पर आता है। वैदिक युग में विभिन्न धान्यों की खेती की जाती थी व उनका उपयोग भोजन के लिये किया जाता था। जौ, चावल, गेहूँ, मूग, उड़द आदि धान्य फल, घी, दूध, दही आदि भोजन की मुख्य सामग्री थीं। दूध, सोम आदि उस समय के मुख्य पान थे। वैदिक साहित्य के आधुनिक विद्वानों[1] के अनुसार ऋग्वेदकालीन आर्यों को केवल यव का ही ज्ञान था क्योंकि ऋग्वेद में यव का उल्लेख कितनी ही बार आया है, गेहूँ इत्यादि का नहीं, अन्य धान्यों का उल्लेख बाद के वेदों में आता है। किन्तु यह विचारसरणी पूर्णतया भ्रमपूर्ण है। यदि ऋग्वेद में किसी वस्तु का उल्लेख नहीं है तो इस पर से यह निष्कर्ष निकालना कि उस समय के लोगों

---

[1] ए० सी० दास—ऋग्वदिक कल्चर पृ० २००, ह्वी० एम० अप्टे—वदिक एज (भारतीय विद्या भवन) पृ० ३९३

[2] ऋग्वेद १।२३।१५ १।१३५।८, २।५।६ २।१४।११ ५।८३।३

को उस वस्तु का ज्ञान ही नहीं था, पूर्णतया असंगत है। इसके अतिरिक्त यजुर्वेद[1] के जिस मंत्र में यव, व्रीहि, माष, तिल, मुद्ग, गोधूम, मसूर आदि का उल्लेख है, उस मंत्र का द्रष्टा शुनःशेप है। शुनःशेप आजीगर्ति ऋग्वेद के भी कितने ही मन्त्रों का द्रष्टा है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद काल में भी गोधूम (गेहूं), मुद्ग (मुंग), माष (उड़द), मसूर आदि धान्य की खेती होती थी। दुःख का विषय है कि मैक्समूलर प्रभृति विद्वानों द्वारा स्थापित भ्रमपूर्ण वैदिक तिथि-क्रम को वैदिक साहित्य के विद्वान् छोड़ने को तैयार नहीं हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद-कालीन आर्य जौ (यव), गेहूं (गोधूम), चांवल (धान्य, व्रीहि), मुंग (मुद्ग), उड़द (माष), मसूर आदि का उपयोग भोजन के लिये करते थे। धान्य शब्द का भी उल्लेख ऋग्वेद[2] में कितनी ही बार आया है। इसी प्रकार धानाः शब्द भी उल्लिखित है[3] जिसका अर्थ होता है जौ की लाई। किन्तु धान या धान्य का अर्थ अनाज भी होता था।

करम्भ एक प्रकार का भोज्य पदार्थ था जो कि सिके हुए जौ के आटे को दही या घी में मिलाकर बनाया जाता था। यह भोजन पूषा देवता को बहुत प्रिय था।[4] अपूप एक प्रकार की रोटी रहती थी जो जौ या चांवल के आटे के साथ घी मिलाकर बनाई जाती थी।[5] ओदन[6] (पकाया हुआ चांवल) का भी उल्लेख ऋग्वेद में आता है। इसी प्रकार दूध में पकाये हुए चांवल का भी उल्लेख आता है।[7] पक्ति[8] भी एक प्रकार की रोटी होती थी। इन्द्रादि

---

[1] १८।१२ : "व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।"

[2] ५।५३।१३, ६।१३।४, १०।९४।१३

[3] ऋग्वेद १।१६।२, ३।५३।३, ३।५२।५, ६।२९।४

[4] ऋग्वेद १।१८७।१६, ३।५२।७, ६।५६।१, ६।५७।२, ८।१०२।२

[5] ऋग्वेद ३।५२।७, १०।४५।९ : "अपूपं देव घृतवन्तमग्ने ।"

[6] ऋ० ८।६९।१४ : "ओदनं पच्यमानं परो गिरा ॥"

[7] ऋ० ८।७७।१० : "क्षीरपाकमोदनं··· ।"

[8] ऋ० ४।२४।५, ४।२५।६-७, ६।२९।४

देवताओं के लिये इस रोटी के पकाये जाने का उल्लेख ऋग्वेद में आता है। पुरोडाश[1] चावल के आटे की रोटी रहती थी जिसका उपयोग यज्ञ के कर्मकाण्ड में आहुति आदि के लिये किया जाता था। जो का सत्त[2] (सक्तु) भी वेदकालीन आर्यो को बहुत प्रिय था।

दूध व उसके बने विभिन्न पदार्थ भी भोजन के काम में लाये जाते थे। वैदिक काल में प्रत्येक परिवार के पास बहुत सी गायें रहती थीं। तत्कालीन ऋषियों की यह इच्छा रहा करती थी कि दान में उन्हें गायें प्राप्त हों। इस पर से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वेदकालीन आर्यो को गाय का दूध बहुत प्रिय था। ऋग्वेद[3] में गाय के दूध को 'पयस्' कहा गया है। मठे व दही को दधि[4] कहा जाता था, जिसे सोम के साथ मिलाया जाता था। दही को मथ कर मक्खन निकाला जाता था[5] व मक्खन को गरम करके घी बनाया जाता था। घृत का उल्लेख ऋग्वेद[6] में कितने ही स्थलों पर आता है। घी का उपयोग अग्नि में आहुतियाँ देने के लिये भी होता था। इस प्रकार वेदकालीन आर्यों के भोजन में घी, दूध, दही, मक्खन आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान था।

मांसाहार

कुछ विद्वानों[7] का मत है कि वैदिक आर्य मांसाहारी थे व यज्ञ में गाय, बैल, साड, भैंसा, बकरा आदि की बलि देते थे। इस सम्बन्ध में ऋग्वेद[8] से कुछ प्रमाण भी दिये जाते है। गाय को तो ऋग्वेद में स्पष्ट शब्दों में 'अघ्न्या'[9] कहा गया है, जिससे स्पष्ट होता

---

[1] ऋग्वेद ४।२४।५, ३।५२।२ 'पुरोडाश पचतय जुपस्वेन्द्रा गुरस्व च।''
३।५२।६ 'पुरोडशमाहुत।

[2] ऋग्वेद १०।७१।२

[3] १।१६४।२८ ७।१४।१०, ४।३।९ ५।८४।२ १०।३०।१३

[4] ऋ० ८।७।९ ९।८७।१

[5] ऋ० १।२८।४

[6] ऋ० १।१३४।६ २।१०।४ ४।१०।६, ४।५८।५ ७,९

[7] ए० सी० दास—ऋग्वेदिक कल्चर पृ० २०३ २०४

[8] ८।४३।११, ६।३९।१, १०।२७।८, १०।८६।१३ १४, १०।८९।१४

[9] ऋग्वेद १।१६४।२७ ४०, ४।१।६, ५।८३।८, ८।६९।२१ १०।८७।१६,
यास्क—निरुक्त ११।४३ अघ्न्या अहन्तव्या भवति अघघ्नी इति वा।''

है कि गोहत्या यज्ञादि के लिये नहीं होती थी। इसके अतिरिक्त सांड, भैंसा आदि की बलि के बारे में जो मन्त्र उल्लिखित किये गये हैं, उनके अर्थ के सम्बन्ध में मतभेद है। ऋग्वेद में स्थान-स्थान पर जहाँ कहीं यज्ञ का प्रकरण है, पुरोडाश, क्षीरपाक, ओदन, अपूप आदि भोज्य पदार्थों के बनाये जाने का उल्लेख है, किन्तु मांसादि के पकाये जाने का उल्लेख कहीं नहीं आता। इस सम्बन्ध में केवल अप्रत्यक्ष उल्लेख हैं जिनके अर्थ के बारे में ही पर्याप्त मत-भेद है। आर्य लोग वैदिक युग में मांसाहारी नहीं थे, केवल शाकाहारी थे, इसका सबसे बड़ा प्रमाण ऋग्वेद,[१] के उस पितु-सूक्त से प्राप्त होता है, जिसमें पितु (भोजन) की प्रशंसा की गई है। इस सूक्त का देवता 'ओषधयः' है, व उसमें केवल शाकाहार का ही उल्लेख है, मांसाहार की ओर यत्किञ्चित् भी निर्देश नहीं है। उसमें शरीर को सम्बोधित करके कहा गया है "हे शरीर, हम वनस्पतियों (शाकाहार) व जल का जो कुछ भाग भोजन के रूप में ग्रहण करते हैं, उससे तुम हृष्ट-पुष्ट बनो[२]।" उसी सूक्त में आगे कहा गया है कि "हम दूध व यव का जो कुछ भी भोजन ग्रहण करते हैं, उससे हमारा शरीर पुष्ट बने"[३] तथा अन्त में कहा गया है[४]—"हे करम्भ (एक प्रकार का भोज्य पदार्थ) तथा ओषधि (शाकाहार), तुम स्वास्थ्यवर्धक, शक्तिवर्धक व पुष्टिवर्धक बनो जिससे हमारा शरीर पुष्ट होवे।"

सोम व सुरा

सोम व सुरा वैदिक आर्य्यों के मुख्य पेय थे। सोम का पौधा पर्वतों पर उगता था, मुजवन्त पर्वत उसके लिये विशेष रूप से विख्यात था।[५] सोम के पौधे को दो पत्थरों के बीच में दबाया

[१] १।१८७

[२] ऋ० १।१८७।८ "यदपामोषधीना परिशमारिशामहे। वातापे पीव इद्भव।"

[३] ऋग्वेद १।१८७।९. "यत्ते सोम गवाशिरो यवाशिरो भजामहे। वातापे पीव इद्भव॥"

[४] ऋग्वेद १।१८७।१० : "करम्भ ओषधे भव पीवो वृक्क उदारथि.। वातापे पिव इद्भव।"

[५] ऋग्वेद १।९३।६, ३।४८।२, ५।३६।२, ५।४३।४, ५।८५।२, ९।१।१८

जाता था[1] व कभी-कभी ऊखल में मूसल से कूटा जाता था।[2] पश्चात् उसमें से स्त्रियां अपनी उँगलियों से रस निकालती थीं,[3] इसके पश्चात् सोमरस में पानी मिलाते तथा उसे एक कलश में छान लेते थे।[4] इस प्रकार छने हुए रस को दूध, दही या शहद के साथ मिलाते थे।[5] यही रस देवताओं को दिया जाता था तथा लोग स्वतः भी पीते थे। ऋग्वेद का सम्पूर्ण नवाँ मण्डल और अन्य मण्डलों के छ सूक्त सोमरस की स्तुति में हैं। इससे स्पष्ट होता है कि वेदकालीन आर्य सोमरस को बहुत पसन्द करते थे।

सुरा एक प्रकार की नशीली शराब थी जिसका ऋग्वेद में तिरस्कार किया गया है, क्योंकि उसके नशे में पाप व अपराध किये जाते थे।[6] उसे जुएँ के समकक्ष रखा गया है[7] व दुर्गुणपूर्ण माना गया है। 'पान्त' भी ऋग्वेद[8] के अनुसार एक प्रकार का पेय या शराब थी। यह देवताओं को दिया जाता था, इसलिये वेदों के भाष्यकार इसको सोम से सम्बन्धित करते हैं। किन्तु यह किसी अन्य प्रकार का पेय प्रतीत होता है।

वेष भूषा

वेदकालीन वेष भूषा के अनुसार दो प्रकार के कपड़े पहिने जाते थे, जिन्हें 'वासस' (अधर वस्त्र) व 'अधिवासस' (उत्तरीय वस्त्र) कहते थे। वेश भूषा के लिये 'वसन' या 'वस्त्र' शब्द प्रयुक्त किया गया है। बाद की संहिताओं में 'नीवि' (चड्डी या जांघियां के समान कोई वस्त्र) का उल्लेख भी आता है[9]। कपड़े साधारणतया चमड़े,

---

[1] ऋ० १।८३।६, १।१३५।७

[2] कीथ व मैकडानिल—वैदिक इन्डेक्स २।४७६

[3] ऋ० ९।६७।८

[4] ऋ० ९।६७।९-१२

[5] ऋ० ९।१०३।३

[6] ऋग्वेद ७।८६।६, ८।२।१२

[7] ऋ० ७।८६।६

[8] १।१२२।१, १।१५५।१, १०।८८।१

[9] वैदिक एज (भारतीय विद्या भवन), पृ० ३९३

ऊन, कपास आदि के बनाये जाते थे। आर्यों की प्रारंभिक अवस्था में कदाचित् चमड़े का अधिक उपयोग होता होगा। किन्तु वेदकालीन समाज बहुत विकसित था अतएव कपास व ऊन के कपड़ों का उपयोग किया जाने लगा था। फिर भी तपस्वी व जंगल के निवासी मृगचर्म, व्याघ्रचर्म आदि का उपयोग करते थे।

ऋग्वेद के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि उसमें वस्त्रों के लिये 'वासस्' शब्द साधारणतया प्रयुक्त किया गया है[1]। पूषा को "वासोवाय" कहा गया है[2]। ऋग्वेद[3] में 'ऊर्णा' (ऊन) भी कितनी ही बार उल्लिखित है। वस्त्रों को जरी आदि के काम से सजाया भी जाता था। मरुतों के बारे में कहा गया है कि वे सुवर्ण से सज्जित वस्त्र धारण करते थे[4]। वरुण के बारे में भी कहा गया है कि वह 'हिरण्यय द्रापि' धारण करता है[5]। प्रत्यत्क द्रापि आदि विभिन्न प्रकार के वस्त्र रहते थे जिन्हें कदाचित् सुवर्ण आदि के तारों से सजाया जाता था। ऋग्वेद[6] में सुवर्ण से सुसज्जित वस्त्र के लिये 'पेशस्' शब्द प्रयुक्त किया गया है। पेशस् वस्त्र को बुनने का काम स्त्रियाँ करती थीं, जिन्हें यजुर्वेद[7] में 'पेशस्कारी' कहा गया है। स्त्रियाँ सुन्दर व आकर्षक वस्त्र पहिनना पसन्द करती थीं जिससे वे अपने पति के लिये आकर्षण पैदा कर सकें[8]।

आभूषण

वैदिक युग में स्त्री व पुरुष दोनों आभूषणों को पसन्द करते थे। ऋग्वेद[9] में निष्क का उल्लेख आता है, जो कि गले में पहिनने का एक

---

[1] ऋग्वेद १।३४।१, १।११५।४, १।१६२।१६, ८।३।२४, १०।२६।६
[2] ऋग्वेद १०।२६।६
[3] ४।२२।२, ५।५२।९
[4] ऋग्वेद ५।५५।६ : "हिरण्ययान्प्रत्यत्का अमुग्ध्वम् ।"
[5] ऋग्वेद १।२५।१३ : "बिभ्रद्द्रापिं हिरण्ययं ।"
[6] १।९२।४, ५, २।३।६, ४।३६।७
[7] ३०।९
[8] ऋग्वेद ४।३।२, १०।७१।४, १०।१०७।९
[9] २।३३।१०, ८।४७।१५, ५।१९।३

सुवर्ण का आभूषण था। इसका सिक्के के रूप में भी उपयोग होता था। इस पर से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि निष्क गोल या चौकोन होगा जिन्हें धागे में पिरो कर माला के रूप में गले में पहिना जाता होगा। रुक्म एक अन्य सुवर्ण का आभूषण था जिसका आकार चपटा था व जिसे वक्षस्थल पर धारण किया जाता था[1]। "रुक्मवक्षस्" शब्द ऋग्वेद[2] में कितनी ही बार उल्लिखित है। मोतियों का भी उल्लेख ऋग्वेद[3] में आता है जिससे स्पष्ट होता है कि मोतियों की माला पहनी जाती थी। स्रज (माला) का भी आभूषण के रूप में उल्लेख है[4]। खादि एक सुवर्ण का आभूषण था जिसे या तो पैर में पहिना जाता था[5], या भुजदंड पर अथवा कलाई में चूड़ियों के समान पहिना जाता था[6]। कान के लिये जो सुवर्ण आभूषण थे, उन्हें 'कर्णशोभन' कहते थे[7]। इन आभूषणों के अतिरिक्त मोती, मणि आदि का भी उल्लेख ऋग्वेद में आता है, जो कि उस युग में बहुतायत से पाये जाते होंगे। सविता के रथ का मोतियों द्वारा सजाये जाने का उल्लेख ऋग्वेद[8] में है। इसी प्रकार घोड़े को भी मोतियों से सजाया जाता था[9]। मणि का उल्लेख भी ऋग्वेद[10] में आता है, जिसका आभूषण के रूप में उपयोग किया जाता था। यजुर्वेद में मणिकार[11] तथा हिरण्यकार[12] का उल्लेख आता है, जिनका काम नाना प्रकार के आभूषण बनाने का था।

---

[1] ११६६११०, ४।१०।५

[2] ८।२०।११

[3] ऋ० १।३५।४, १०।६८।१

[4] ऋग्वेद ४।३८।६, ५।५३।४, ८।४७।१५

[5] ऋ० ५।५३।४, ५।५४।११

[6] ऋ० १।१६६।९, ७।५६।१३

[7] ऋग्वेद ८।७८।३

[8] १।३५।४

[9] ऋग्वेद १।१२६।४

[10] १।३३।८, १।१२२।१४

[11] ३०।७

[12] ३०।१७

३

तीन ऋण

वैदिक युग में समाज के प्रत्येक नागरिक के मन पर पहिले ही से ये भाव अङ्कित कर दिये जाते थे कि पैदा होते ही उस पर कितना ही उत्तरदायित्व आ जाता है; वह स्वतंत्र व निःश्रृङ्खल नहीं है। उसे अपने जीवन में तीन ऋण चुकाने पड़ते थे, पितृऋण, ऋषिऋण व देवऋण। पितृऋण पारिवारिक जीवन से सम्बन्धित था तथा ऋषि-ऋण व देवऋण का सम्बन्ध सामाजिक एवं धार्मिक जीवन से था। ये दोनों पारिवारिक जीवन व सामाजिक जीवन को जोड़नेवाले पुल के समान थे। यद्यपि इन तीनों ऋणों का प्रत्यक्ष उल्लेख ऋग्वेद में नहीं है, तथापि यदि तत्कालीन पारिवारिक जीवन, शैक्षणिक व्यवस्था, धार्मिक जीवन आदि का आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि ऋणत्रय के अन्तर्निहित भाव तत्कालीन समाज में वर्तमान थे। इस पर से यह कहा जा सकता है कि यद्यपि ऋणत्रय का स्पष्ट उल्लेख ऋग्वेद में नहीं है तथापि उसकी भावना व उसका सिद्धान्त तत्कालीन समाज में वर्तमान थे। ऋणत्रय का स्पष्ट उल्लेख तैत्तिरीय संहिता[1] में आता है, जहां कहा गया है कि "ब्राह्मण उत्पन्न होते ही तीन प्रकार के ऋणों से ऋणवान् होता है, ब्रह्मचर्य्य से ऋषियों के प्रति, यज्ञ से देवताओं के प्रति व प्रजा से पितरों के प्रति। जो पुत्रवान् व यज्ञ करनेवाला होता है तथा ब्रह्मचर्य्याश्रम में प्रवेश करता है वह ऋणमुक्त हो जाता है।" तैत्तिरीय संहिता के इन शब्दों में ऋषि-ऋण, देवऋण तथा पितृऋण का महत्त्व एवं उनसे उन्मुक्त होने की विधि स्पष्टतया समझाई गई है। ब्रह्मचर्य्याश्रम में वेदाध्ययन विद्यादि प्राप्ति द्वारा ऋषिऋण, यज्ञों द्वारा देवऋण तथा सन्तानोत्पत्ति द्वारा पितृऋण चुकाया जा सकता है। मन्वादि[2] स्मृतियों में भी इस सिद्धान्त का सुन्दर विवेचन किया गया है। प्राचीन भारत के

---

[1] ६।३।१०।५ : "जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवा जायते ब्रह्मचर्य्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्य । प्रजया पितृभ्य. एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासी ॥"

[2] मनुस्मृति, ४।२५७, ६।३५–३६

सामाजिक जीवन के विकास में तीनों ऋणों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।

पितृऋण

पितृऋण का अर्थ होता है पुत्र के ऊपर पिता का ऋण। माता-पिता अपने पुत्र के लिये कितना ही कष्ट उठाते तथा त्याग करते हैं। उत्तम शिक्षा देकर उसे विद्वान व सुयोग्य नागरिक बनाते हैं। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति पर माता-पिता का बड़ा भारी ऋण रहता है, जिसको चुकाना उसका परम कर्तव्य हो जाता है। इसी भावना के आधार पर पितृऋण का सिद्धान्त वेदकालीन समाज में वर्तमान था। वैदिक साहित्य में कहा गया है कि सन्तानोत्पत्ति द्वारा इस ऋण को चुकाया जा सकता है। समाज के भविष्य से सन्तानोत्पत्ति का कितना घनिष्ट सम्बन्ध है, यह तो स्पष्ट ही है। प्राचीन काल में अच्छी सन्तान उत्पन्न करना पवित्र कर्तव्य समझा जाता था। वैदिक ऋषि देवताओं से प्रार्थना किया करते थे कि उन्हें अच्छी सन्तान प्राप्त होवे व वह चिरजीवी तथा समृद्धिशाली बने[1]। आदर्श पुत्र वह समझा जाता था जो देवताओं का भक्त रहता था तथा प्रार्थना द्वारा उनको प्रसन्न कर सकता था, तथा जो बुद्धिशाली, शत्रुहन्ता तथा विद्वान् रहता था[2]। अत्रिपुत्र द्युम्न ने एक ऐसे पुत्र की प्राप्ति के लिये प्रार्थना की थी जो शत्रुओं को युद्ध में हरा सके[3]। एक अन्य ऋषि ने सशक्त, आह्लादक, यज्ञकर्ता, दानदाता, व शत्रुओं के विजेता पुत्र की प्राप्ति के लिये प्रार्थना की थी[4]। इन उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग में पुत्रों को विद्वान्, धार्मिक, स्वावलम्बी, वीर व युद्धकलारत बनाया जाता था। इस प्रकार माता-पिता अपनी सन्तान को सुयोग्य बनाने में कोई कसर बाकी नहीं रखते थे। यही पितृऋण का तात्पर्य है। धार्मिक व पारलौकिक दृष्टि से मृत पितरों के लिये श्राद्ध आदि की क्रिया सम्पादित करने के लिये पुत्र अत्यन्त ही आवश्यकीय समझा जाता था। इस दृष्टि से भी सन्तानोत्पत्ति एक आवश्यकीय कृत्य समझा जाता था, क्योंकि सन्तान के अभाव

---

[1] ऋग्वेद ७।१।११, १२, १९, २४, ८।१।१३

[2] ऋग्वेद १०।८७।३

[3] ऋग्वेद ५।२३।१–२ : ए० सी० दास—ऋग्वेदिक कल्चर पृ० २४१

[4] ऋग्वेद ६।३३।१

में मृत पितरों के लिये पिण्डदान, श्राद्धकर्म इत्यादि असंभव था। इस प्रकार पितृऋण के कारण समाज का वातावरण पवित्र रहता था, तथा प्रत्येक व्यक्ति अपने उत्तरदायित्व को समझता था।

ऋषिऋण

वैदिक साहित्य व प्राचीन आचार्यों के मतानुसार ऋषिऋण ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् भी वेदादि विद्याओं के अध्ययन द्वारा चुकाया जाता था। गुरुकुलों में आचार्य ब्रह्मचारियों को अपने आजीवन योग व तप का फल विद्या के रूप में देते थे। प्राचीन काल में विद्यार्थी, जो केवल विद्यार्थी ही नहीं बल्कि ब्रह्मचारी भी था, गुरु के कुल का सदस्य बन जाता था, वह गुरु जो किसी गूढ़ तत्त्व के शोध के कारण ऋषि[1] कहलाता था। समाज का प्रत्येक बालक गुरुकुल मे आचार्य के चरणों में बैठकर वेदाध्ययन द्वारा ज्ञानोपार्जन कर ब्रह्मप्राप्ति के मार्ग में अग्रसर होता था। संसार की किसी दौलत को कुछ भी न समझने वाले व अपने विद्यार्थियों से कोई स्वार्थ-साधन न करने वाले, निरीह व निर्लेप ऋषि शिष्यों के लिये अपना सब कुछ न्योछावर कर देते थे। ऐसी परिस्थिति में उन शिष्यों पर उनका कितना जबरदस्त ऋण हो जाता था, यह स्पष्ट ही है। इसीको प्राचीन आचार्यों ने ऋषिऋण कहा है व इसे चुकाना प्रत्येक का परम कर्तव्य माना गया है। यह ऋण स्वाध्याय द्वारा चुकाया जाता था। वेदाध्ययन व ज्ञानोपार्जन के काम में लोगों के लीन रहने से समाज में ज्ञान की ज्योति हमेशा जगमगाती रहती थी। गुरुकुल से निकलने के पश्चात् जब स्नातक गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था, तब वह इस बात को नहीं भूलता था कि उसे अपने ऋषि के ऋण को चुकाना है। वह इस ऋण को कुछ द्रव्य देकर नहीं किन्तु अपने अध्ययन को जारी रख कर तथा अपने व दूसरे की ज्ञान-वृद्धि के साधनों को बढ़ाने में सहायक बन कर चुकाता था। इस प्रकार प्रत्येक गृहस्थ न केवल स्वतः ही वेदाध्यायन द्वारा ज्ञान वृद्धि करता था, किन्तु गुरुकुलों को हर प्रकार की सहायता भी देता था, जिससे ज्ञानपिपासा की तृप्ति के ये केन्द्र सूखने न पायें। ऋषिऋण के सिद्धान्त के कारण समाज की शैक्षणिक संस्थायें न केवल जीवित-जागृत ही रहती थीं, किन्तु उत्तरोत्तर वृद्धि व उन्नति भी करती थीं।

[1] यास्क—निरुक्त १।२०

थी। प्रत्येक परिवार ज्ञान व वृद्धि के विकास का एक विशेष केन्द्र बन जाता था, जिससे सम्पूर्ण समाज पूर्णरूप से विकसित होकर उन्नत अवस्था को प्राप्त हो सकता था। प्राचीन भारत की ज्ञानवृद्धि का रहस्य इसी में छिपा है।

देवऋण

प्राचीन आचार्यों के मतानुसार यज्ञादि द्वारा देवऋण को चुकाया जा सकता है। वैदिक आर्यों के जीवन में यज्ञों का अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण स्थान था। वे दैनिक, पाक्षिक, मासिक, विभिन्न ऋतुओं से सम्बन्धित व वार्षिक यज्ञ किया करते थे, तथा जीवन के सब महत्त्वपूर्ण अवसरों एवं जीवन की विशेष घटनाओं पर भी यज्ञ करते थे। विवाह, गर्भाधान, जातकर्म, चूडाकर्म, यज्ञोपवीत आदि संस्कार यज्ञकर्म के अन्तर्गत आ जाते हैं। इस प्रकार वैदिक आर्यों का जीवन यज्ञमय था व प्रत्येक के लिये यज्ञ करना आवश्यकीय था।

यज्ञ का विकास त्याग की भावना से होता है। वैदिक युग में विभिन्न देवताओं को परमात्मा की शक्ति के प्रतीक माना गया था। इन्द्र, वरुण, अग्नि, सूर्य, वायु आदि प्राकृतिक देवताओं का मानव जाति पर बड़ा उपकार था, एक प्रकार से मानव जाति उनकी ऋणी थी, ऐसी मान्यता वेदकालीन समाज में वर्तमान थी। उन देवताओं के ऋण को चुकाना प्रत्येक गृहस्थी का कर्तव्य था। यह देवऋण अग्नि में घी, दूध, धान्य, पुरोडाश तथा सुगन्धित द्रव्य आदि डाल कर सायं प्रात अग्निहोत्र करके चुकाया जाता था। प्रत्येक गृहस्थी के लिये सायं प्रात अग्निहोत्र अनिवार्य्य था।

देवऋण पर अन्य दृष्टिकोण से भी विचार किया जा सकता है। वेदों में परमात्मा की विभिन्न शक्तियों को 'देव' नाम से सम्बोधित किया गया है,[1] क्योंकि उनका देदीप्यमान प्रकाश चहुँओर दिखाई देता है। 'देव' शब्द, 'दिव' धातु से बनता है जिसका अर्थ 'चमकना' होता है। इसलिये 'देव' शब्द का अर्थ 'चमकने वाला', 'प्रकाश युक्त,' 'देदीप्यमान' आदि हुआ। 'देव' शब्द से जिस प्रकाश का तात्पर्य्य है, वह कदाचित् कोई कृत्रिम प्रकाश नहीं है, किन्तु आत्मिक प्रकाश है। जिसकी आत्मा अधिक परिष्कृत है उसके

[1] ऋग्वेद ४।२२।३, अथर्ववेद ३।१५।५ तैत्तिरीय संहिता ३।५।४।१

में मृत पितरों के लिये पिण्डदान, श्राद्धकर्म इत्यादि असंभव था। इस प्रकार पितृऋण के कारण समाज का वातावरण पवित्र रहता था, तथा प्रत्येक व्यक्ति अपने उत्तरदायित्व को समझता था।

ऋषिऋण

वैदिक साहित्य व प्राचीन आचार्यों के मतानुसार ऋषिऋण ब्रह्मचर्य्याश्रम के पश्चात् भी वेदादि विद्याओं के अध्ययन द्वारा चुकाया जाता था। गुरुकुलों में आचार्य ब्रह्मचारियों को अपने आजीवन योग व तप का फल विद्या के रूप में देते थे। प्राचीन काल में विद्यार्थी, जो केवल विद्यार्थी ही नहीं बल्कि ब्रह्मचारी भी था, गुरु के कुल का सदस्य बन जाता था, वह गुरु जो किसी गूढ़ तत्त्व के शोध के कारण ऋषि[1] कहलाता था। समाज का प्रत्येक बालक गुरुकुल में आचार्य के चरणों में बैठकर वेदाध्ययन द्वारा ज्ञानोपार्जन कर ब्रह्मप्राप्ति के मार्ग में अग्रसर होता था। संसार की किसी दौलत को कुछ भी न समझने वाले व अपने विद्यार्थियों से कोई स्वार्थ-साधन न करने वाले, निरीह व निर्लेप ऋषि शिष्यों के लिये अपना सब कुछ न्यौछावर कर देते थे। ऐसी परिस्थिति में उन शिष्यों पर उनका कितना जबरदस्त ऋण हो जाता था, यह स्पष्ट ही है। इसीको प्राचीन आचार्यों ने ऋषिऋण कहा है व इसे चुकाना प्रत्येक का परम कर्तव्य माना गया है। यह ऋण स्वाध्याय द्वारा चुकाया जाता था। वेदाध्ययन व ज्ञानोपार्जन के काम मे लोगों के लीन रहने से समाज में ज्ञान की ज्योति हमेशा जगमगाती रहती थी। गुरुकुल से निकलने के पश्चात् जब स्नातक गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करता था, तब वह इस बात को नहीं भूलता था कि उसे अपने ऋषि के ऋण को चुकाना है। वह इस ऋण को कुछ द्रव्य देकर नहीं किन्तु अपने अध्ययन को जारी रख कर तथा अपने व दूसरे की ज्ञान-वृद्धि के साधनों को बढ़ाने में सहायक बन कर चुकाता था। इस प्रकार प्रत्येक गृहस्थ न केवल स्वतः ही वेदाध्यायन द्वारा ज्ञान वृद्धि करता था, किन्तु गुरुकुलों को हर प्रकार की सहायता भी देता था, जिससे ज्ञानपिपासा की तृप्ति के ये केन्द्र सूखने न पायँ। ऋषिऋण के सिद्धान्त के कारण समाज की शैक्षणिक संस्थाएँ न केवल जीवित-जागृत ही रहती थीं, किन्तु उत्तरोत्तर वृद्धि व उन्नति भी करती थीं।

[1] यास्क—निरुक्त १।२०

थीं। प्रत्येक परिवार ज्ञान व बुद्धि के विकास का एक विशेष केन्द्र बन जाता था, जिससे सम्पूर्ण समाज पूर्णरूप से विकसित होकर उन्नत अवस्था को प्राप्त हो सकता था। प्राचीन भारत की ज्ञानवृद्धि का रहस्य इसी में छिपा है।

देवऋण

प्राचीन आचार्यों के मतानुसार यज्ञादि द्वारा देवऋण को चुकाया जा सकता है। वैदिक आर्यों के जीवन में यज्ञों का अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण स्थान था। वे दैनिक, पाक्षिक, मासिक, विभिन्न ऋतुओं से सम्बन्धित व वार्षिक यज्ञ किया करते थे, तथा जीवन के सब महत्त्वपूर्ण अवसरों एवं जीवन की विशेष घटनाओं पर भी यज्ञ करते थे। विवाह, गर्भाधान, जातकर्म, चूड़ाकर्म, यज्ञोपवीत आदि संस्कार यज्ञकर्म के अन्तर्गत आ जाते हैं। इस प्रकार वैदिक आर्यों का जीवन यज्ञमय था व प्रत्येक के लिये यज्ञ करना आवश्यकीय था।

यज्ञ का विकास त्याग की भावना से होता है। वैदिक युग में विभिन्न देवताओं को परमात्मा की शक्ति के प्रतीक माना गया था। इन्द्र, वरुण, अग्नि, सूर्य, वायु आदि प्राकृतिक देवताओं का मानव जाति पर बड़ा उपकार था, एक प्रकार से मानव जाति उनकी ऋणी थी, ऐसी मान्यता वेदकालीन समाज में वर्तमान थी। उन देवताओं के ऋण को चुकाना प्रत्येक गृहस्थी का कर्तव्य था। यह देवऋण अग्नि में घी, दूध, धान्य, पुरोडाश तथा सुगन्धित द्रव्य आदि डाल कर सायं-प्रात. अग्निहोत्र करके चुकाया जाता था। प्रत्येक गृहस्थी के लिये सायं-प्रातः अग्निहोत्र अनिवार्य्य था।

देवऋण पर अन्य दृष्टिकोण से भी विचार किया जा सकता है। वेदों में परमात्मा की विभिन्न शक्तियों को 'देव' नाम से सम्बोधित किया गया है,[1] क्योंकि उनका देदीप्यमान प्रकाश चहुँओर दिखाई देता है। 'देव' शब्द, 'दिव' धातु से बनता है जिसका अर्थ 'चमकना' होता है। इसलिये 'देव' शब्द का अर्थ 'चमकने वाला', 'प्रकाश युक्त,' 'देदीप्यमान' आदि हुआ। 'देव' शब्द से जिस प्रकाश का तात्पर्य्य है, वह कदाचित् कोई कृत्रिम प्रकाश नहीं है, किन्तु आत्मिक प्रकाश है। जिसकी आत्मा अधिक परिष्कृत है उसके

[1] ऋग्वेद ४।२२।३, अथर्ववेद ३।१५।५, तैत्तिरीय संहिता ३।५।४।१

— वे० स०

मुख पर एक प्रकार का दिव्य तेज दृष्टिगोचर होता है। इसलिये 'देव' शब्द से उन महापुरुषों का तात्पर्य्य भी लिया जा सकता है, जो आत्मिक विकास के मार्ग में बहुत आगे बढ़ गये हैं व जिन्हें आत्म-साक्षात्कार हो चुका है। ये महान् आत्माएँ उन्मार्गगामी मानव-समाज को पुनः सन्मार्ग पर लाने के लिये ही भूमण्डल पर अवतरित होती हैं। उनका समाज पर कितना जबरदस्त ऋण रहता है यह तो प्रत्येक विचारशील व्यक्ति समझ सकता है। इसलिये उन महात्माओं के आदेशों पर चल कर, उनके ऋण से उन्मुक्त होना समाज के प्रत्येक सदस्य का कर्तव्य हो जाता है। सामाजिक विकास के लिये देवऋण का यह भाव अत्यन्त ही आवश्यकीय है।

पितृऋण, ऋषिऋण व देवऋण के सिद्धान्त के द्वारा वेदकालीन समाज में अनुशासन व नियमबद्धता द्वारा सच्चे नागरिकता के भाव को जागृत किया जाता था। समाज का व्यक्ति उच्छृङ्खल न बनने पावे, इसलिये प्रारंभ से ही उसे अपने कर्तव्यों व उत्तरदायित्व का बोध कराया जाता था जिनके निर्वाह में वह अपना जीवन व्यतीत करता था। तीनों ऋणों में जीवन के विभिन्न अङ्गों से सम्बन्धित कर्तव्यों का समावेश होता है। अतएव उन तीनों ऋणों से उन्मुक्त होने के कार्य में सम्पूर्ण जीवन का विकास हो जाता था; इस प्रकार मानव-समाज भौतिक, मानसिक व आध्यात्मिक उन्नति में अग्रसर हो जाता था। यही कारण है कि वेदकालीन समाज सर्वाङ्गीण सांस्कृतिक विकास के मार्ग में अग्रसर हो सका।

वर्ण-व्यवस्था

वैदिक काल में आर्य्यों ने समाज को चार विभागों में विभाजित किया था। यह विभाजन साधारणतया अर्थशास्त्र के कार्य-विभाजन सिद्धान्त पर अवलम्बित था। ऋग्वेद[1] में इसका स्पष्टीकरण किया गया है। समस्त समाज को पुरुष का रूपक दिया गया है व उसके भिन्न-भिन्न अङ्गों का वर्णन किया गया है। जिस प्रकार आधुनिक समाज-शास्त्र के ज्ञाता मानव-समाज को एक जीवित शरीर मानते हैं उसी प्रकार ऋग्वेद में भी उक्त रूपक द्वारा समाज को एक जीवित

[1] १०।९०।११-१२

पुरुष माना गया है। इस रूपक में यह भी ध्वनित होता है कि जिस प्रकार शरीर के सब अङ्ग एक दूसरे से भली भाँति सम्बन्धित हैं व यदि एक अङ्ग में कुछ पीड़ा हो जाय तो उसका अनुभव समस्त शरीर में होता है तथा शरीर भर में एक प्रकार की क्रान्ति मच जाती है, उसी प्रकार समाज में भी संगठन व जीवन-शक्ति रहनी चाहिये। यही जीवित समाज का लक्षण है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि संगठन व जागृति के भाव को व्यक्त करने के लिये ही पुरुष सूक्त में समाज को पुरुष का रूपक दिया गया है। उस पुरुष के विभिन्न अङ्गों का वर्णन इस प्रकार है—"उस (समाज रूपी पुरुष) का मुख ब्राह्मण था, उसकी भुजाएँ क्षत्रिय बनाई गईं। जो उसकी जंघाएँ थीं वे ही वैश्य बनीं तथा उसके पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए[1]।" यहाँ समाजरूपी पुरुष के चार अङ्ग इस प्रकार बताये गये हैं—मुख-ब्राह्मण, भुजायें-क्षत्रिय, जङ्घायें-वैश्य, व पैर-शूद्र।

ब्राह्मण

समाजरूपी पुरुष के मुख से केवल भोजन करने वाले मुँह का तात्पर्य्य नहीं है किन्तु उसमें मस्तिष्क का विशेष रूप से समावेश होता है। मनुष्य के शरीर में मस्तिष्क ही सबसे ऊँचा व अत्यन्त ही आवश्यकीय अङ्ग है, जिसके बिगड़ने पर मनुष्य मृतवत् ही समझा जाता है। विक्षिप्त व पागलों की दयनीय तथा करुणोत्पादक दुर्दशा को कौन नहीं जानता? जिस प्रकार मनुष्य का मस्तिष्क उसकी सब क्रियाओं का सञ्चालन करता है तथा उदात्त भावनाओं व विचारों को उत्पन्न कर उसे सन्मार्ग पर प्रेरित करता है उसी प्रकार समाज का मस्तिष्क भी रहता है जो कि उसके लिये आवश्यकीय है व जिसको अच्छी स्थिति में रखना अत्यन्त ही वाञ्छनीय है। समाज का मस्तिष्क, उसके वे इने गिने व्यक्ति कहलाते हैं जो परमात्मा प्रदत्त समस्त शक्तियों का सम्यक् विकास कर अपने मस्तिष्क से उदात्त व सुन्दर विचार उत्पन्न करते हैं तथा अपने अनुभव व ज्ञान के द्वारा अच्छी-अच्छी योजनाएँ व जीवन-चर्य्याएँ उपस्थित करते हैं, जिनको अपनाने से समाज सन्मार्ग में प्रवृत्त होकर अपने उद्दिष्ट तक पहुँच सकता है। ऋग्वेद में इन व्यक्तियों को ब्राह्मण नाम से सम्बोधित

[1] ऋग्वेद १०।९०।१२ : "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृत। ऊरू तदस्य यद्वैश्य पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥"

किया गया, क्योंकि इनका जीवन ब्रह्मप्राप्ति या सत्य की खोज में ही व्यतीत होता था। इन ब्राह्मणों को समाज का मस्तिष्क या मुख कहा गया। समाज जो कुछ विचार करता था उन्हीं के द्वारा करता था, जो कुछ बोलता था, उन्हीं के द्वारा बोलता था। ये ब्राह्मण आजीवन समाजसेवा, ज्ञानोपार्जन, ज्ञानवितरण आदि पवित्र कार्यों में लगे रहते थे। उन्हें सांसारिक वैभव की यत्किञ्चित् भी चिन्ता नहीं रहती थी। साधारणतया ब्राह्मणों का समय वेदाभ्यास, तपश्चर्या, योग-साधन आदि में ही व्यतीत होता था।

क्षत्रिय

ऋग्वेद के अनुसार क्षत्रिय समाजरूपी पुरुष की भुजाओं से उत्पन्न हुए हैं। जिस प्रकार भुजाएँ सम्पूर्ण शरीर की रक्षा के लिये हैं उसी प्रकार क्षत्रिय सम्पूर्ण समाज की रक्षा के लिये हैं। प्रत्येक, समाज में कुछ ऐसे लोग आवश्यकीय हैं जो बाह्य व आन्तरिक शत्रुओं से उसकी रक्षा करना अपना पवित्र कर्तव्य समझें। प्रजा-रक्षण, दान, यज्ञ करना, स्वाध्याय, इन्द्रिय-दमन आदि क्षत्रिय के कर्तव्य समझे जाते थे।

वैश्य

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में वैश्यों को जङ्घाओं से सम्बन्धित किया गया है। जिस प्रकार शरीर का भार जंघाओं पर रहता है तथा वे ही उसका वहन करती हैं, उसी प्रकार समाज के भरण-पोषण आदि का सब भार वैश्यों को वहन करना पड़ता था। समाज के आर्थिक विकास की सब जिम्मेवारियाँ उन्हीं के ऊपर थीं। सम्पत्ति वृद्धि के आयोजन व साधन उन्हें ही ढूंढने पड़ते थे। प्राचीन काल में प्रत्येक वैश्य को यह समझना पड़ता था कि वह समाज का एक अङ्गमात्र है, तथा समाज ने उसे साम्पत्तिक विकास का कार्य सौंपा है। अतएव वह जो कुछ कमाता था, उस पर समाज का पूरा-पूरा अधिकार रहता था। समाज के भरणपोषण के लिये पशुपालन, कृषि, वाणिज्य आदि आवश्यकीय है। इसीलिये वैश्यों के कर्तव्यों में उनका समावेश किया गया।

शूद्र

ऋग्वेद के अनुसार शूद्र समाजरूपी पुरुष के पैरों से उत्पन्न हुए हैं। जिस प्रकार शरीर में सेवाकार्य के लिये पैर हैं उसी प्रकार

समाज में सेवा-कार्य्य के लिये शूद्र हैं। समाज की सेवा का सम्पूर्ण भार उन्हीं पर रहता था। जो लोग पहिले तीन वर्णों के काम करने में असमर्थ रहते थे उन्हें सेवा का काम करना पड़ता था। सेवाकर्म के कारण शूद्र को नीचा नहीं समझा जाता था। प्राचीन समाज में नीच ऊंच का भाव नहीं था, जैसा कि आजकल दिखाई देता है। सब वर्ण अपने अपने क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण समझे जाते थे। समाज के विकास के लिये चारों ही वर्ण आवश्यकीय थे, किसी एक के न रहने से वह सुचारु रूप से नहीं चल सकता था। इसी तथ्य को ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में आलङ्कारिक भाषा द्वारा समझाया गया है।

इस प्रकार वेदकालीन समाज में वर्णव्यवस्था समाजशास्त्र के मूलसिद्धान्तों के आधार पर विकसित हुई थी तथा अर्थशास्त्र का कार्य-विभाजन का तत्त्व उसके अन्तर में निहित था।

पुरुषसूक्त का समय

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि वैदिक युग में वर्णव्यवस्था पूर्णतया विकसित हो चुकी थी। साधारणतया वैदिक साहित्य के विद्वान् मेक्समूलर, मेकडॉनेल प्रभृति के मार्ग पर चलकर उपरोक्त मन्तव्य का विरोध करते हैं तथा यह मत स्थिर करते हैं कि वैदिक-काल में वर्णव्यवस्था पूर्णतया विकसित नहीं हुई थी। उसका पूर्ण विकास ब्राह्मण-युग में हुआ। ऋग्वेद काल में वर्णव्यवस्था का अस्तित्व नहीं था। उसका उल्लेख ऋग्वेद के १० वें मण्डल में आता है, किन्तु उन विद्वानों के मतानुसार वह मण्डल बहुत बाद का है।[1] ऋग्वेद के दसवें मण्डल के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि वह बाद में नहीं जोड़ा गया। उसमें जिन मन्त्रों को सम्मिलित किया गया है वे बहुत ही प्राचीन प्रतीत होते हैं, और कुछ मन्त्रों के द्रष्टा तो वे ही ऋषि या उनके पुत्र हैं जिन्हें ऋग्वेद के मूल भाग के द्रष्टा माना जाता है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के मन्त्र द्रष्टाओं में शार्यातो मानवः,[2] नाभानेदिष्ठो[3] मानवः, भिषगाथर्वणः[4],

[1] मैक्डनिल—हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरैचर, पृ० १६०–१६२, ए० सी० दास–ऋग्वेदिक कल्चर पृ० १२८–१३०।

[2] ऋग्वेद १०।९२।१–१५,

[3] ऋ० १०।६१।१–२७; १०।६२।१–११;

[4] ऋ० १०।४७।१–२३;

बुध[1] सौम्य, पुरुरवाः ऐल[2] आदि सम्मिलित हैं। उनके कितने ही मन्त्र ऋग्वेदके दसवें मण्डल में वर्तमान हैं। पुराणों में सुरक्षित ऐतिहासिक अनुश्रुतियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे ऋग्वेद का मूल अंश (मंडल २ से मंडल ९ तक)माने जाने वाले भाग के कितने ही मंत्रद्रष्टाओं बहुत पहिले के हैं। यह निर्विवाद है कि गृत्समद, विश्वामित्र,भरद्वाज, मेधातिथि, काण्व आदि तथाकथित मूल भाग के द्रष्टा शार्याती मानव आदि दसवें मण्डल के मन्त्रद्रष्टाओं की कितनी ही शताब्दियों बाद के हैं। इनके अतिरिक्त जमदग्नि[3] विश्वामित्र,[4] आदि जो तथाकथित मूल भाग में भी मंत्रद्रष्टा हैं दसवें मंडल के कितने ही मंत्रों के द्रष्टा हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि दसवें मंडल के अन्तर्गत जो मंत्र हैं वे बहुत प्राचीन हैं उन्हें नये नहीं कहा जा सकता। सारांश में, यह कहा जा सकता है कि जिस पुरुष-सूक्त में चारों वर्णों का उल्लेख है वह भी बहुत पुराना है, अतएव यह निर्विवाद हो जाता है कि वेदकालीन समाज में वर्णव्यवस्था अपने विकसित रूप में वर्तमान थी।

चारों वर्णों का उल्लेख-ब्राह्मण

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि चारों वर्ण का उल्लेख ऋग्वेद के न केवल पुरुषसूक्त में ही आता है, बल्कि अन्य मन्त्रों में भी आता है, जिससे स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद-काल में समाज चार विभागों में विभाजित था। ऋग्वेद में ब्राह्मण शब्द बहुत कम बार उल्लिखित है किन्तु ब्राह्मण के अर्थ में ब्रह्मन् शब्द प्रयुक्त किया गया है जो कितनी ही बार उल्लिखित है[5]। ऋग्वेद[6] में वर्णन आता है कि जो राजा ब्रह्मन् (ब्राह्मण) को उच्च स्थान देकर उसका आदर करता है वह शान्ति व आनन्द से रहता है उसे धनधान्य की कमी नहीं रहती एवं जनता स्वतः उसका नमन करती है। जो राजा ब्रह्मन् को सहायता प्रदान

---

[1] ऋ० १०।१०१।१-१२।

[2] ऋ० १०।९५

[3] ऋग्वेद १०।११०।१-११

[4] ऋग्वेद १०।१६७।१-४

[5] मैकडॉनेल—हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरैचर पृ० १६१-६२।

[6] ४।५०।८९:

करता है उसकी रक्षा देवता करते हैं। एक अन्य मंत्र[1] में ब्रह्मन् लोगों को धन वितरित करने का उल्लेख है। इसी प्रकार यजुर्वेद[2] में भी एक स्थल पर चारों वर्णों का उल्लेख है उसमें ब्राह्मण को 'ब्रह्मन्' ही कहा गया है। इसी प्रकार 'ब्रह्मन्' शब्द ऋग्वेद में अन्य स्थलों पर भी उल्लिखित है।[3] ब्राह्मण शब्द भी ऋग्वेद में यत्र तत्र उल्लिखित है। ऋग्वेद[4] में ब्राह्मणों के मैत्री भाव से यज्ञ करने का उल्लेख है। इन उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि समाज में ब्राह्मणों का बहुत आदर किया जाता था तथा वे अपनी ईश्वराधना, आध्यात्मिक विकास आदि के कारण समाज में पूजनीय माने जाते थे। राजा भी उनका आदर करते थे। साधारणतया ब्राह्मणों के कर्तव्य इस प्रकार थे— वेद पढना, पढाना, यज्ञ करना कराना, योग साधन, तपश्चर्य्या, यम नियमादि द्वारा आत्मविकास के मार्ग में अग्रसर होना आदि। ये ब्राह्मण ऐहिक ऐश्वर्य्य से दूर रह कर समाजसेवा व सांस्कृतिक विकास में अपना कालयापन करते थे।

क्षत्रिय

ऋग्वेद[5] में क्षत्रिय शब्द बार बार उल्लिखित है। इस शब्द से शासक वर्ग या राजकुल के सदस्यों का बोध होता था। राजन्य शब्द भी क्षत्रिय के अर्थ में ही उल्लिखित हुआ[6] है। यदि इन उल्लेखों का आलोचनात्मक अध्ययन किया जाय तो हमें उनके कर्तव्यों के बारे में बहुत कुछ ज्ञात होता है। ऋत के गोपा वरुण के वर्णन के अवसर पर राजा, क्षत्रिय, क्षत्र, राष्ट्र आदि अर्थपूर्ण शब्द प्रयुक्त किये गये हैं।

जिस प्रकार वरुण ऋत का गोपा था, तथा समस्त मानवसमुदाय को उसके नियन्त्रण में रहना पडता था, उसी के व्रत व ऋत से

---

[1] ऋग्वेद १०।८५।२९ ब्रह्मभ्यो विभजा वसु ।

[2] २६।२ यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः । ब्रह्मराजन्याभ्याᳪ शूद्राय चार्य्याय च स्वाय चारणाय ॥

[3] ऋ० ८।३१।१ ८।३२।१६ १७ २७ ८।३५।१६

[4] १०।७१।८–९

[5] ४।१२।३ ४।४२।१, ५।६९।१ ७।६४।२, ८।२५।८

[6] ऋग्वेद १०।९०।१२ यजुर्वेद २६।२

मानव तीन पाशों से मुक्त होता था, उसी प्रकार जनता को राजा या राष्ट्र के नियन्त्रण में रहकर सब नियमों का पालन करना पड़ता था। इस वर्णन से स्पष्ट होता है कि वैदिक युग में क्षत्रिय या राजन्य का मुख्य कर्तव्य समाज में सुनियन्त्रित शासन स्थापित कर राष्ट्र व जनता की रक्षा करना था। इसके अतिरिक्त अश्वमेध राजसूय, वाजपेय आदि यज्ञों द्वारा क्षत्रिय राजा को राष्ट्र का राष्ट्रीय जीवन भी विकसित करना पड़ता था। इसीलिये ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त[1] में राजन्य या क्षत्रिय को समाजरूपी पुरुष की भुजाओं से सम्बन्धित किया गया है। प्रजारक्षण, दान, यज्ञ करना, अध्ययन, इन्द्रियनिग्रह आदि क्षत्रियों के कर्तव्य समझे जाते थे।

विश या वैश्य

ऋग्वेद में 'विश' शब्द वैश्य वर्ण के अर्थ में उल्लिखित है। उससे जनसाधारण का बोध भी होता है।[2] ऋग्वेद के पुरुषसूक्त[3] में विश या वैश्य को समाजरूपी पुरुष की जंघाओं से सम्बधित किया गया है। जिस प्रकार जंघाएँ शरीर के समस्त भार को धारण करती हैं, उसी प्रकार वैश्य भी समाज के भरण-पोषण द्वारा उसके समस्त भार को धारण करता है। समाज के आर्थिक विकास का सब उत्तरदायित्व वैश्यों पर ही था। सम्पत्ति-वृद्धि के आयोजन व साधन उन्हें ढूंढने पड़ते थे। वैश्यों के कर्तव्य साधारणतया इस प्रकार थे—पशुपालन, कृषि, वाणिज्य, दान देना, यज्ञ करना, वेदादि का अध्ययन करना आदि। तैत्तिरीय संहिता[4] में वर्णोत्पत्ति का वर्णन आता है जहां कहा गया है कि प्रजापति ने वैश्य व गाय को एक साथ उत्पन्न किया। यहां वैश्य को गाय से सम्बन्धित करना अर्थ-पूर्ण है। गाय व उसके बछड़े बैल आदि कृषिप्रधान भारत के आर्थिक विकास में कितने महत्वपूर्ण हैं यह स्पष्ट ही है। वैश्य व गाय की एक साथ उत्पत्ति बताकर वैश्य के आर्थिक उत्तरदायित्व को इङ्गित किया गया है। इस प्रकार समाज में वैश्य का स्थान अत्यन्त ही

[1] ऋग्वेद १०।९०

[2] ऋग्वेद १।६९।३, १।१२६।५, ४।२४। ४, ६।२६।१।

[3] ऋग्वेद १०।९०।१२

[4] ७।१।१।४–६।

महत्त्वपूर्ण था, समाज के आर्थिक विकास का समस्त उत्तरदायित्व उसी पर था।

शूद्र

'शूद्र' शब्द ऋग्वेद[1] में एक बार उल्लिखित है जहां कहा गया है कि शूद्र समाजरूपी पुरुष के पैरों से उत्पन्न हुआ है। शूद्र, दस्यु, दास, कृष्ण वर्ण आदि शब्द भारत के असभ्य आदिम निवासियों को सूचित करने के लिये प्रयुक्त किये गये हैं। ऋग्वेद में आर्यों व अनार्यों के मध्य युद्धों का भी उल्लेख है। जब अनार्य पराजित किये गये तब उनमें से बहुत से तो जंगलों में भाग गये और कुछ आर्यों द्वारा बन्दी बनाये गये व बाद में अपने समाज में मिला लिये गये। इन्हीं अनार्यों को ऋग्वेद में शूद्र नाम से सम्बोधित कर समाज रूपी पुरुष के पैरों से सम्बन्धित किया गया है। इन शूद्रों को समाज की सेवा शुश्रूषा का कार्य्य करना पड़ता था। उनके साथ में अच्छा व्यवहार किया जाता था जैसा कि अथर्ववेद में उल्लेख आता है। अथर्ववेद[2] में कहा गया है—'मुझे देवताओं तथा राजाओं में प्रिय बनाओ। मैं सबका प्रिय बनूं, चाहे आर्य हों चाहे शूद्र हों।" इस कथन में शूद्र के साथ अच्छा व्यवहार करने का स्पष्ट उल्लेख है।

धीरे धीरे शूद्र को समाज में समुचित स्थान भी दिया जाने लगा और वह समाज का एक अविकल अङ्ग माना जाने लगा। शूद्रों को आत्म विकास का पूरा अवसर भी दिया जाने लगा। यजुर्वेद[3] में उनके वेदाध्ययन के अधिकार का उल्लेख है। ऐतरेय[4] ब्राह्मण तथा कौशीतकी ब्राह्मण[5] में कवष ऐलूष का वर्णन आता है जो कि दासीपुत्र ('दास्य पुत्र') था। उसकी विद्वत्ता के कारण गृत्समद, विश्वामित्र,

---

[1] १०।९०।१२

[2] १९।६२।१ 'प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु। प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये॥'

[3] २६।२ यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय।

[4] २।१९।

[5] १२।३।

वामदेव, अत्रि, भरद्वाज, वसिष्ठ आदि महान् ऋषि उसका आदर सत्कार करते थे।

उन ऋषियों ने कवष ऐलूष को नमस्कार किया ('नमस्ते अस्तु') व आध्यात्मिक विकास में उस का श्रेष्ठत्व स्वीकार किया ('त्वं वै नः श्रेष्ठोऽसि)। कवष ऐलूष ऋग्वेद[1] में कितने ही मंत्रों का द्रष्टा भी है। कक्षीवत्, जिसका उल्लेख ऋग्वेद[2] में बार-बार आया है दासीपुत्र था, तथा कितने ही मंत्रों का द्रष्टा है[3]। ऋग्वेद में उसे 'दीर्घतमस्' का पुत्र कक्षीवान् (दीर्घतमस. पुत्र' कक्षीवानृषि, 'कक्षीवान् दैर्घतमस ऋषि') अथवा 'औशिक का पुत्र कक्षीवान् ऋषि' ('औशिक् पुत्र कक्षीवानृषि' 'औशिज कक्षीवानृषिः') कहा गया है। कक्षीवान् की पुत्री घोषा काक्षीवती भी मन्त्रद्रष्टी[4] थी। घोषा का पुत्र सुहस्त्यो घौषेय भी ऋग्वेद में तीन मन्त्रों का द्रष्टा था[5]। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि शूद्र या दासीपुत्रों को भी आत्मविकास का पूरा अवसर दिया जाता था तथा समाज में उन्हें ऊँचा स्थान दिया जाता था। शूद्रों के साथ विवाह-सम्बन्ध की प्रथा भी धीरे-धीरे समाज में प्रचलित हो गई थी। इस प्रकार प्रतिलोम, अनुलोम विवाहपद्धति का श्रीगणेश हुआ, जिनका स्पष्ट उल्लेख सूत्रस्मृत्यादि मे आता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों से भी मालूम होता है कि शूद्रों को समाज में समुचित स्थान देकर समाज का अवश्यकीय अङ्ग समझा गया था। शतपथ ब्राह्मण[6] में लिखा है कि ब्राह्मण 'ओ३म्' से, क्षत्रिय 'भू.' से, वैश्य 'भुव.' व शूद्र 'स्व.' से उत्पन्न हुए हैं। इस प्रकार शूद्र को समाज का अविकल अङ्ग मान पवित्र गायत्रीमंत्र की व्याहृति से उत्पन्न बताया गया है।

---

[1] १०।३०।१-१५, १०।३१।१-११, १०।३२।१-९, १०।३३।१-९ १०।३४।१-१४,

[2] १।१८।१, १।५१।१३, १।११७।११, ४।२६।१, ८।९।१०, ९।७४।८, १०।२५।१०।

[3] ऋग्वेद १।११६।१-२५; १।११७।१-२५, १।११८।१-११, १।११९।११० १।१२०।१-१२, १।१२१।१-१५, १।१२२।१-१५; १।१२३।१-१३, १।१२४।१-१३, १।१२५।१-७, १। २६।१-५।

[4] ऋ० १०।३९।१-१४, १०।४०।१-१४,

[5] ऋ० १०।४१।१-३।

[6] शतपथ ब्राह्मण ५।४।६।९

वैदिक साहित्य[1] में राज्याभिषेक के प्रकरण में जो नौ रत्नियों का वर्णन है उनमें शूद्रों को भी सम्मिलित किया गया है।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि वेदकालीन समाज में शूद्रों को न केवल दास्य कर्म करना पड़ता था, किन्तु उन्हें आत्म-विकास का भी पूरा अवसर दिया जाता था, जिससे वे समाज में ऊंचा स्थान पा सकें।

वर्णव्यवस्था की उत्पत्ति

ऋग्वेद के आलोचनात्मक अध्ययन से वर्णव्यवस्था की उत्पत्ति पर भी महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। आर्यों के सप्तसिन्धु प्रदेश में बसने पर उन्हें भारत के आदिम निवासियों से युद्ध करने पड़े थे, जिन्हें दस्यु[2], दास[3] आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। वे लोग यज्ञादि कर्म नहीं करते थे तथा आर्य देवताओं में विश्वास भी नहीं रखते थे। दस्यु को 'अकर्म,' 'अमन्तु,' 'अन्यव्रत', 'अमानुष' आदि विशेषणों से सम्बोधित किया गया है तथा इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि वह उसका नाश करे।[4] वैदिक साहित्य में इन्द्र की 'दस्युहत्या' का भी उल्लेख आता है।[5] ऋग्वेद में एक और स्थल पर दस्यु का 'अमानुष,' 'अन्यव्रत,' 'अयज्वान्,' 'अदेवयु' आदि विशेषणों से सम्बोधित किया गया है व इन्द्र से उसका नाश करने की प्रार्थना की गई है।[6] उसे 'अनासो' व 'मृध्रवाच' भी कहा गया[7] है। इस

---

[1] तैत्तिरीय संहिता १।८।९।१-२, तैत्तिरीय ब्राह्मण १।७।३ शतपथ ब्राह्मण ५।३।१।

[2] ऋग्वेद १०।४९।३ १०।२२।८ ए० सी० दास—ऋग्वेदिक कल्चर, पृ० १५७–१५९।

[3] ऋग्वेद ५।३४।६ १०।८६।१९ ए० सी० दास—ऋग्वेदिक कल्चर पृ० १५२–१५६,

[4] ऋग्वेद १०।२२।८ अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः। त्वं तस्यामित्रहन्वधर्दासस्य दम्भय ॥

[5] कीथ एंड मेकडॉनेल—वैदिक इंडेक्स, १।३४७।

[6] ऋग्वेद ८।७०।११ अन्यव्रतममानुषमयज्वानमदेवयुम्। अव स्वः सखा दुधुवीत पर्वतः सुघ्नाय दस्युं पर्वतः ॥

[7] ऋग्वेद ५।२९।१० 'अनासो दस्यूंरमृणो वधेन नि दुर्योण आवृणङ् मृध्रवाचः ॥'

आधार पर कुछ इतिहासकार दस्युओं को दक्षिण के द्रविड लोगों से सम्बन्धित करते हैं, क्योंकि उनके (द्रविडों के) नाक भी चपटे होते हैं, वे नाक से बोलते हैं।[1] ऋग्वेद[2] में इन्द्र के वीरतापूर्ण कार्यों के वर्णन के अवसर पर उल्लेख आता है कि "जिसने (इन्द्र ने) दास वर्ण को गुफा के अन्दर भगा दिया।" ऋग्वेद में आर्यवर्ण[3] व दास[4] वर्ण का उल्लेख अन्य स्थलों पर भी आता है। इन उल्लेखों से ज्ञात होता है कि उनके रंगों में भी अन्तर था, आर्य श्वेत रंग के थे व दस्यु कृष्ण वर्ण के। प्रारम्भ में आर्यों व दस्यु में युद्ध होते थे व दस्युओं को पराजित किया जाता था। धीरे धीरे इन पराजित दस्युओं को भी समाज में उपयुक्त स्थान दिया जाने लगा, उनके प्रति मैत्री का भाव दर्शाया जाने लगा जैसा कि अथर्ववेद से स्पष्ट होता है। अथर्ववेद[5] में ईश्वर से प्रार्थना की गई है कि 'मुझे देवताओं, राजाओं, शूद्रों तथा आर्यों में प्रिय बनाओ।' इस प्रकार दस्युओं को आर्यों ने अपने समाज में मिलाना प्रारम्भ किया। परिणामस्वरूप आर्यों के सामाजिक जीवन ने नया मोड़ लिया। पहिले आर्यों के समाज में सब व्यक्ति एक ही रंग ('वर्ण') के थे, अब श्वेत वर्ण के आर्यों के साथ कृष्ण वर्ण के दस्यु भी बराबरी से रहने लगे। इस प्रकार समाज में दो वर्ण (रंग) के लोग हो गये, दोनों आपस में हिलमिल कर रहने लगे व उनमें परस्पर रोटी-बेटी व्यवहार भी होने लगा।

विशेषकर आर्यों के निम्न वर्ग के लोगों व दस्युओं में एक प्रकार से एकीकरण होने लगा। अतएव समाज के उच्च वर्ग में इस एकीकरण से पृथक रहने की वृत्ति उत्पन्न हुई। धार्मिक कर्मकाण्ड का सम्पादन करनेवाले तथा साधारणतया वेदमंत्रों का निर्माण करनेवाले जो 'ब्रह्मन्' या 'ब्राह्मण' थे उन्होंने धीरे धीरे अपना एक वर्ग बना लिया जो 'ब्राह्मण' कहलाया। इसी प्रकार शासकवर्ग ने भी अपना एक वर्ग बनाया जो 'राजन्य' या 'क्षत्रिय' कहलाने लगा। इस प्रकार समाज में तीन मुख्य वर्ग बन गये—ब्राह्मण, राजन्य या

---

[1] ए० सी० दास—ऋग्वेदिक कल्चर पृ० १५८

[2] २।१२।४

[3] ३।३४।९

[4] १।१०४।२

[5] १९ ६२ १

क्षत्रिय, तथा दस्यु, दास या शूद्र; चौथा वर्ग जन साधारण का था, जिनको विश कहा जाता था। इसी 'विश' शब्द से 'वैश्य' शब्द का प्रादुर्भाव हुआ। धीरे-धीरे समाज में चार वर्ग स्पष्टरूप से बन गये।[१] समाज में जो वर्गीकरण सर्वप्रथम हुआ था वह वर्ण (रंग) के आधार पर था। दस्युओं के समाज में प्रविष्ट किये जाने के पश्चात् समाज में दो वर्ण (रंग) के लोग हो गये, 'आर्यवर्ण' के व 'दासवर्ण' के। धीरे-धीरे वर्ण का मूल अर्थ भुला दिया गया व उसका प्रयोग 'वर्ग' के लिये होने लगा। इस प्रकार समाज के चार वर्ग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र चार वर्ण कहलाये तथा, यह सामाजिक व्यवस्था 'वर्ण-व्यवस्था' कहलाने लगी। इस व्यवस्था का विकसित रूप 'श्रमविभाग' के सिद्धान्त पर विकसित किया गया था। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में वर्णव्यवस्था के इसी विकसित रूप के दर्शन होते हैं।

सारांश में यह कहा जा सकता है कि वेदकालीन समाज ने रंग-भेद व आर्य दस्यु समस्या को सफलतापूर्वक हल करने के लिये वर्ण-व्यवस्था के रूप में एक सुन्दर सामाजिक व्यवस्था का विकास किया, जिसने समाज व संस्कृति की हमेशा रक्षा की व जो आज भी वर्तमान है।

आश्रम-व्यवस्था

आश्रम व्यवस्था प्राचीन सामाजिक व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण आधार स्तम्भ थी। साधारणतया विद्वानों का मत है कि आश्रम व्यवस्था का विकास वैदिक युग में विशेषकर ऋग्वेद काल में नहीं हुआ था। किन्तु ऋग्वेद, अथर्ववेद आदि के आलोचनात्मक अध्ययन से उक्त व्यवस्था के अस्तित्व का ज्ञान होता है। उसकी ऐतिहासिकता पर आगे चलकर विचार किया जायगा।

जीवन के मर्म को भलीभाँति समझ कर ही आश्रम व्यवस्था का विकास किया गया था। प्राचीन भारत में इस जीवन को पवित्र यात्रा माना गया था। यात्रा में विश्रान्ति के लिये जिस प्रकार विभिन्न स्थान रहते हैं, उसी प्रकार इस जीवन यात्रा के लिये चार आश्रम बनाये गये थे। प्रत्येक को इन चारों आश्रमों में प्रवेश करना पड़ता था। वर्णव्यवस्था के समान यह व्यवस्था भी समाज को अपने उद्दिष्ट तक पहुंचा कर मनुष्य को सच्चे अर्थ में मनुष्य बनाकर उसे

[१] कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, जि० १ अ० ५।

अपने अन्तिम ध्येय ब्रह्मप्राप्ति या मोक्षप्राप्ति तक पहुँचाती थी। वे चार आश्रम इस प्रकार थे—ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षु या सन्यास।

ब्रह्मचर्य्याश्रम

वैदिक साहित्य[1] से ज्ञात होता है कि मनुष्य की आयु साधारणतया सौ वर्ष की मानी गई थी। उसके चार विभाग किये गये थे, जिन्हें चार आश्रमों में बाँट दिया गया था। प्रथम पचीस वर्ष ब्रह्मचर्य्याश्रम के माने गये थे, किन्तु जन्म से बारह वर्ष तक बालक माता पिता के घर ही रहता था, तथा गुरु के घर भी कम से कम बारह वर्ष तक रहता था। यज्ञोपवीत संस्कार के पश्चात् ही प्रत्येक बालक को गुरुकुल में जाकर ब्रह्मचर्य्याश्रम में प्रवेश करना पड़ता था, और वहां गुरु के चरणों में बैठ कर वेदाध्ययन द्वारा ज्ञानोपार्जन करना पड़ता था।

ब्रह्मचर्य्य शब्द ही इस आश्रम के महत्व का द्योतक है। ब्रह्मचर्य में ऐसी जीवनचर्य्या का समावेश हो जाता है जो ब्रह्म की प्राप्ति करा सके। "सत्य वै ब्रह्म"[2] द्वारा ब्रह्म को सत्य का पर्य्यायवाची शब्द माना गया है। अतएव सत्य की खोज ब्रह्मचर्य्य जीवन का मूल मन्त्र था। यह संसार व मानव-जीवन यथार्थ में एक बड़ी पहेली ही हैं। मानव-जीवन का सर्वोत्तम ध्येय यही हो सकता है कि इन पहेलियों को सफलतापूर्वक बूझा जाय। इसी बात को ध्यान में रखकर पहिले आश्रम का नाम ब्रह्मचर्य्याश्रम रखा गया। इस प्रकार ब्रह्मचर्य्याश्रम में रहकर ब्रह्मचारी अपनी विभिन्न शक्तियों के सम्यक् विकास का पाठ सीखता था।

ब्रह्मचर्य्याश्रम में प्रत्येक ब्रह्मचारी को अपना जीवन अत्यन्त ही सरल बनाना पड़ता था तथा विचार बहुत ही उदात्त रखने पड़ते थे। उसका सबसे बड़ा कर्तव्य अग्निचर्य्या था। यज्ञ करने की पवित्र अग्नि के लिये उसे सायं-प्रातः समिधा हरण करना पड़ता था। दैनिक क्रिया के पश्चात् उसे भैक्षचर्य्या के लिये जाना पड़ता था। शतपथादि ब्राह्मण में भिक्षाचरण को अनिवार्य्य बताया है[3]। ब्रह्मचारी का सबसे

---

[1] यजुर्वेद ३६।२४

[2] बृहदारण्यकोपनिषद् २।३।६, ५।४।१, ५।५।१

[3] शतपथ ब्राह्मण ११।३।३।५,७

बड़ा कर्तव्य वेदाध्ययन था। इसके अतिरिक्त उसे अपना दैनिक जीवन बहुत ही पवित्र बनाना पड़ता था।

गृहस्थाश्रम

विद्यासमाप्ति पर ब्रह्मचारी स्नातक बनकर विवाह-संस्कार के पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। लौकिक दृष्टि से यह आश्रम अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। अन्य तीन आश्रमों का अस्तित्व इसी पर निर्भर रहता था। गृहस्थियों को पञ्च महायज्ञ आदि द्वारा अपना जीवन धार्मिक बनाना पड़ता था तथा तीन ऋणों से उन्मुक्त होने का प्रयत्न करना पड़ता था। धर्म अर्थ, काम, मोक्ष आदि वर्ग-चतुष्टय की प्राप्ति उसके जीवन का मुख्य ध्येय रहता था।

वानप्रस्थाश्रम

जीवन के तृतीय अंश में वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश किया जाता था। इस में दारैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा आदि का त्याग करना पड़ता था।[1] प्रत्येक वानप्रस्थी को तप आदि की साधना द्वारा संयम प्राप्त करना पड़ता था। ये वानप्रस्थी आत्मविकास के मार्ग में प्रवृत्त होकर देश व समाज के हित को ध्यान में रख अपने परिपक्व अनुभव व ज्ञान के सहारे जीवनमरण की गुत्थियां सुलझाने में मग्न हो जाते थे। उनके इन प्रयत्नों के दर्शन हमें उपनिषदों के रूप में होते हैं।

सन्यासाश्रम

सम्यक् आत्मविकास करने के पश्चात् अन्तिम आश्रम में प्रवेश किया जाता था, जिसे सन्यासाश्रम कहते थे। इस आश्रम में सब सांसारिक बन्धनों को तोड़कर फेंक देना पड़ता था। सब बन्धनों से मुक्त होकर व आत्मिक बल से सुसज्जित बन कर ये सन्यासी देश भर में घूम-घूम कर सत्य सिद्धान्तों का प्रचार करते थे व समाज की त्रुटियों को दूर कर उसे सन्मार्ग पर प्रेरित करते थे। यदि राजा भी कोई गलती करे तो उसे भी सन्यासी अपने नियन्त्रण में रख सकते थे। ये ही राजा को मन्त्रणा देते थे तथा प्रजा की देख भाल करते थे। ये समाज के आध्यात्मिक जीवन के रक्षक थे। समाज सेवा ही

---

[1] बृहदारण्यकोपनिषद् १०।५।१

इनका सर्वस्व था। इनका उदरनिर्वाह भिक्षा से होता था। इनके लिये भी कड़े नियमों का पालन आवश्यकीय था जिससे ये प्रमाद आदि के वश में न हो जायँ। स्वार्थ, द्वेष, ईर्षा, मोह, मत्सर, माया आदि मानवषड्रिपु इनके पास फटकने न पाते थे। इसीलिए समाज में ये पूजनीय माने जाते थे।

आश्रमव्यवस्था का विकास

यदि आश्रमव्यवस्था के विकास पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि यद्यपि वैदिक साहित्य में विकसित रूप में इस व्यवस्था का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं है फिर भी उसमें चारों आश्रमों के सदस्यों का उल्लेख यत्र तत्र प्राप्त होता है, जिससे वैदिक युग में उक्त व्यवस्था के अस्तित्व का स्पष्ट ज्ञान होता है।

ब्रह्मचारी शब्द का उल्लेख ऋग्वेद[1] तथा अथर्ववेद[2] में आता है, जहां ब्रह्मचारी को देवताओं का एक अङ्ग माना है। अथर्ववेद[3] में ब्रह्मचारी व ब्रह्मचर्य्याश्रम का विशद वर्णन आता है। सूर्य्य को ब्रह्मचारी की उपमा देकर आलंकारिक भाषा में ब्रह्मचारी के विभिन्न कर्तव्यों व ब्रह्मचर्य्याश्रम के महत्त्व पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। उक्त प्रकरण में वर्णन आता है कि आचार्य्य उपनयन संस्कार के पश्चात् ब्रह्मचारी को अन्तेवासी बनाता है[4]। ब्रह्मचारी के समिधाहरण, मेखला, तपस् आदि का स्पष्ट उल्लेख है[5], तथा उसके भैक्ष्यचर्य्य का भी वर्णन किया गया है[6]। इसी प्रकरण में आगे कहा गया

---

[1] १०।१०९।५: "ब्रह्मचारी चरति वेविषद् विषः स देवाना भवत्येकमङ्गम्।"

[2] ५।१७।५,

[3] ११।५।१-२६:

[4] अथर्ववेद ११।५।३·"आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।"

[5] अथर्व० ११।५।४: "ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति॥"

[6] अथर्व० ११।५।९: 'इमा भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामाजभार प्रथमो दिवं च।"

है कि ब्रह्मचर्य व तप से देवताओं ने मृत्यु का भी हनन किया।[1] इस प्रकार ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग में ब्रह्मचर्याश्रम पूर्णतया विकसित हो चुका था जैसा कि सूत्र, स्मृत्यादि ग्रन्थों से ज्ञात होता है।

ऋग्वेद में गृहस्थाश्रम का उल्लेख अप्रत्यक्ष रूप से आया है। गृहपति, गृहपत्नी, गार्हपत्याग्नि आदि का उल्लेख बार बार आता है, तथा गृहस्थियों के विभिन्न कर्त्तव्यों पर भी प्रकाश पड़ता है। ऋग्वेद[2] में सूर्य व सोम के विवाह का सुन्दर वर्णन आता है, जिसमें गृहस्थाश्रम के जीवन व कर्त्तव्यों पर भी अच्छा प्रकाश डाला गया है। उक्त प्रकरण में नवविवाहिता वधू को कहा गया है कि—"हे गृहपत्नी, अपने (नये) घर में जाओ। वहां प्रजादि द्वारा समृद्ध होकर अपने गार्हपत्य (गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्यों के प्रति) के प्रति जागरूक रहो।"[3] आगे चलकर नवविवाहित वर अपनी वधू के प्रति कहता है—"मैं तेरा (वधू का) हाथ सौभाग्य के लिये ग्रहण कर रहा हूँ। भग अर्यमा, सविता आदि देवताओं ने तुम्हें गार्हपत्य के लिये मुझे प्रदान किया है।" इन उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है कि स्नातक को विवाह संस्कार के पश्चात् अपनी नव विवाहिता पत्नी के साथ गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना पड़ता था तथा उस आश्रम के कर्त्तव्यों का निर्वाह करना पड़ता था। प्रत्येक गृहस्थी को अपनी गृहपत्नी के साथ गार्हपत्याग्नि को प्रज्वलित कर प्रति दिन तीन बार उसमें हविष की आहुतियां प्रदान करनी पड़ती थीं।[4]

वैदिक साहित्य में वानप्रस्थाश्रम का प्रत्यक्ष उल्लेख तो नहीं है किन्तु उसमें यति, मुनि आदि का उल्लेख स्थान स्थान पर आता है। कुछ विद्वानों का मत है कि यति के उल्लेखों से वानप्रस्थाश्रम का तथा मुनि के उल्लेखों से सन्यासाश्रम का तात्पर्य्य लिया जा सकता है।

---

[1] अथर्व० ११।५।१९ ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।
१०।८५।१–४७

[2] ऋग्वेद १०।८५।२६–२७ गृहान्गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथ मा वदासि॥ इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन्गृहे गार्हपत्याय जागृहि।
ऋग्वेद १०।८५।३६ गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः। भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥

[4] ए० सी० दास—ऋग्वेदिक कल्चर पृ० १२८–१२९

ऋग्वेद[1] में यतियों का उल्लेख आता है, जहां कहीं-कहीं उन्हें भृगुओं के साथ सम्बन्धित किया गया है, तथा उन्हें सन्तुष्ट करने का उल्लेख है। एक स्थान पर कहा गया है कि यतियों के समान देवता सब भुवनों में व्याप्त हो गये। अथर्ववेद[2] में कहा गया है कि इन्द्र ने यतियों के समान वृत्र का हनन किया। तैत्तिरीय संहिता[3] में उल्लेख आता है कि इन्द्र ने यति भेड़ियों को प्रदान किये। इसी प्रकार काठक संहिता[4] आदि में यतियों का उल्लेख है। इन उल्लेखों से यह पता लगता है कि यति कदाचित् भय के कारण थे। यातुविद्या या जादू को भी उनसे सम्बन्धित किया जाता है।

वैदिक साहित्य में मुनि का उल्लेख भी कई स्थलों पर आता है। ऋग्वेद[5] में कुछ मन्त्रों के द्रष्टा भी "मुनयो वातरशनाः" हैं। उक्त सूक्त में कहा गया है कि मुनि वायु भक्षण करने वाले तथा भूरे व मैले वस्त्र धारण करने वाले हैं।[6] उसी प्रकरण में आगे कहा गया है कि "मुनि अच्छे कर्मों के लिये देवताओं का मित्र है।"[7] इन्द्र को मुनियों का सखा भी कहा गया है।[8]

इन उल्लेखों से ज्ञात होता है कि मुनियों के जीवन का उद्देश समाज की सेवा तथा उसका उपकार करना था। वे समस्त देश में विचरण करते थे। ऋग्वेद[9] में उन्हें अप्सराओं, गन्धर्वों व मृगों के पीछे भ्रमण करने वाले वर्णित किया गया है, तथा 'विद्वान्', 'सखा' आदि विशेषणों से विभूषित किया गया है। ये मुनि सन्यासी ही थे।

---

[1] ८।३।९; ८।६।१८ "य इन्द्र यतयस्त्वा भृगवो यं च तुष्टुवु ।"
१०।७२।७ : "यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत ।"

[2] २।५।३ : "इन्द्रस्तुरापाणिमत्रो वृत्रं यं जघान यतीर्न ।"

[3] ६।२।७।५ . "इन्द्रो यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छत् ।"

[4] ८।५;

[5] १०।१३६।१–७,

[6] ऋग्वेद १०।१३६।२, "मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला ।"

[7] ऋ० १०।१३६।४, "मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हितः ॥"

[8] ऋ० ८।१७।१४, इन्द्र मुनीना सखा ॥

[9] १०।१३६।६: "अप्सरसा गन्धर्वाणा मृगाणा चरणे चरन् । केशी केतस्य विद्वान्त्सखा स्वादुर्मदिन्तमः ॥";

कुछ विद्वानों के मतानुसार वैदिक साहित्य में चारों आश्रमों का सर्वप्रथम उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण[1] में आता है, जहाँ कहा गया है—"मल, अजिन, श्मश्रू व तप का क्या उपयोग है? हे ब्राह्मण पुत्र की इच्छा करो, वही वर्णनातीत लोक है।" इसमें अजिन (मृग-चर्म) को ब्रह्मचर्य्याश्रम से, मल (मैल, गार्हस्थ्य जीवन की गंदगी) को गृहस्थाश्रम से, श्मश्रू (डाढ़ी) को वानप्रस्थाश्रम से तथा तप को सन्यासाश्रम से सम्बन्धित किया जाता है। वेदों के भाष्यकार सायणाचार्य ने यह मन्तव्य उपस्थित किया है। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि ऐतरेय ब्राह्मण के उक्त उल्लेख में तत्कालीन समाज में प्रचलित विभिन्न प्रकार के तपों का वर्णन है, चारों आश्रमों का नहीं।

उपनिषदों में भी आश्रम-व्यवस्था का उल्लेख यत्र तत्र आता है। उपनिषदों के साहित्य का निर्माण ही अरण्य में वानप्रस्थियों द्वारा किया गया, क्योंकि वह साहित्य आरण्यक ग्रन्थों का अन्तिम भाग है। छान्दोग्योपनिषद्[2] में तीन धर्मस्कंध बताये गये हैं। यज्ञ, अध्ययन, दानादि प्रथम हैं, जिन्हें गृहस्थाश्रम से सम्बन्धित किया जा सकता है, तप द्वितीय है, जिसे वानप्रस्थाश्रम से सम्बन्धित किया जा सकता है, तथा ब्रह्मचारी (ब्रह्मचर्य्याश्रम से सम्बन्धित है) तृतीय है। जो व्यक्ति ब्रह्मसंस्थ अर्थात् ब्रह्म में लीन है वह मोक्ष प्राप्त करता है। यहाँ 'ब्रह्मसंस्थ' को सन्यासाश्रम से सम्बन्धित किया जा सकता है।

उपसंहार

इस प्रकार संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज ने आश्रम-व्यवस्था को अपना लिया था। समाज में प्रवृत्ति मार्ग व निवृत्ति मार्ग दोनों का अस्तित्व था। यज्ञ, दान, तप, भैक्ष्यचर्य्य आदि वैदिक युग में पूर्णतया प्रचलित थे। प्रवृत्ति मार्ग व निवृत्ति मार्ग के मध्य सामञ्जस्य स्थापित करने के लिये ही आश्रम-व्यवस्था

[1] ७।१३।५: "किं नु मलं किमजिनं किमु श्मश्रूणि किं तपः। पुत्रं ब्रह्माण इच्छध्वं स वै लोकोऽवदावदः॥"

[2] २।२३।१: "त्रयो धर्मस्कन्धा। यज्ञ. अध्ययनं दानमिति प्रथम.। तप एव द्वितीयः। ब्रह्मचारी तृतीयः। ब्रह्मसंस्थः अमृतत्त्वमश्नुते।"

को विकसित किया गया था। इस व्यवस्था के कारण समाज न तो पूर्णतया प्रवृत्तिपर ही हो सकता है और न निर्वृत्ति पर ही। वैदिक आर्य्यों ने प्रवृत्ति निर्वृत्ति के सामञ्जस्य द्वारा एक ऐसा जीवन-क्रम तैयार किया, जिसको अपना कर समाज अपनी सर्वाङ्गीण उन्नति कर सका।

६

वर्गचतुष्टय

वेदकालीन वर्णाश्रम-व्यवस्था पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज ने अपने जीवन का उद्देश निर्धारित कर लिया था। तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत रहनेवाला व्यक्ति यह भली भाँति जानता था कि उसे आश्रम-व्यवस्था द्वारा वैयक्तिक जीवन व वर्णव्यवस्था द्वारा सामाजिक जीवन का विकास कर प्रवृत्ति तथा निर्वृत्ति मार्गों में सामञ्जस्य स्थापित कर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि वर्ग-चतुष्टय की प्राप्ति में संलग्न होना चाहिये। इसी में पुरुषार्थ का समन्वय होता था। वर्गचतुष्टय में प्रवृत्ति व निर्वृत्ति दोनों का समावेश हो जाता था।

यद्यपि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि वर्गचतुष्टय का पुरुषार्थ के रूप में स्पष्ट उल्लेख ऋग्वेदादि में प्राप्त नहीं होता, फिर भी उक्त साहित्य में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि का विशद् विवेचन यत्र तत्र किया गया है तथा उसकी उपादेयता भी प्रतिपादित की गई है। धर्म की महिमा तो वैदिक साहित्य में पद-पद पर गाई गई है। अग्नि, इन्द्र, विष्णु आदि विभिन्न देवताओं के स्तुतिमन्त्रों में नैतिकतामय जीवन व आध्यात्मिक विकास का सुन्दर विवेचन किया गया है। वरुण से सम्बन्धित मन्त्रों में उच्चकोटि की आध्यात्मिकतापूर्ण नैतिकता का सुन्दर विवेचन किया गया है। आध्यात्मिक, अधिदैविक, आधिभौतिक आदि तीन प्रकार के तापों या बन्धनों से मुक्त किये जाने के लिये कितने ही मन्त्रों द्वारा प्रार्थना की गई है। वरुण के 'ऋत' अर्थात् नैतिक जीवन-क्रम को अपनाने का उल्लेख कितने

ही स्थलों पर है। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, त्यों त्यों इस ऋत का महत्त्व बढ़ता गया। जो कुछ ऋत के विपरीत था वह बुरा व हेय समझा जाने लगा। अनृत (जो ऋत नहीं है) व असत्य दोनों एक समान ही त्याज्य तथा ऋत व सत्य दोनों एक समान ही ग्राह्य समझे जाने लगे। धीरे-धीरे ये दोनों शब्द पर्यायवाची भी बन गये। तत्पश्चात् ऋत व सत्य धर्म के पर्य्यायवाची भी बन गये, जैसा कि उपनिषदों में स्पष्टरूप से समझाया गया है। धर्म शब्द ऋग्वेद में विभिन्न स्थलों पर प्रयुक्त किया गया है।[1]

धर्म

प्राचीन भारतीयों ने धर्म को वैज्ञानिक ढङ्ग पर समझने का प्रयत्न किया था।[2] प्राचीन आचार्य्यों ने 'धर्म' का विवेचन करते समय समझाया है कि धर्म वह है जिससे अभ्युदय व निःश्रेयस की सिद्धि हो।[3] अभ्युदय से लौकिक व निःश्रेयस से पारलौकिक उन्नति व कल्याण का बोध होता है। जीवन के ऐहिक व पारलौकिक दोनों पहलुओं से धर्म को सम्बन्धित किया गया था। अतएव धर्म वही हो सकता है जिससे मानव जाति परमात्मा प्रदत्त शक्तियों के विकास से अपना ऐहिक जीवन सुखी बना सके; साथ ही मृत्यु के पश्चात् भी जन्म मरण की की झंझटों में न पड़कर जीवात्मा सुख व शान्ति का अनुभव कर सके। धर्म की इससे अधिक, उदार परिभाषा दूसरी हो ही नहीं सकती। धर्म के शाब्दिक अर्थ पर विचार करने से भी इसका महत्त्व समझ में आ जायगा। धर्म शब्द 'धृ' (धारण करना) धातु मे 'मप्' प्रत्यय जोड़ने से बनता है, जिसका अर्थ धारण करने वाला होता है। अतएव धर्म उन शाश्वत सिद्धान्तों के समुदाय को कह सकते हैं, जिनके द्वारा मानवसमाज सन्मार्ग में प्रवृत्त हो, उन्नतिशील बन कर अपने अस्तित्व को धारण करता है। सनातन-धर्म शब्द भी इसी अर्थ का द्योतक है। इस प्रकार धर्म शब्द का अर्थ अत्यन्त गहन तथा विशाल है व इसके अन्तर्गत मानव-जीवन के

---

[1] ऋग्वेद १०।९०।१६, १०।९२।२,

[2] मैकडॉनेल व कीथ—वेदिक इन्डेक्स, पृ० ३९०

[3] कणाद—वैशेषिकसूत्र १।१।२ "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।"

उच्चतम विकास के साधनों व नियमों का समावेश होता है। प्राचीन भारत में इसी धर्म की प्राप्ति मानव-जीवन का मुख्य उद्देश था, व उसे वर्गचतुष्टय में प्रथम स्थान प्राप्त था।

अर्थ

मानव-जीवन के चार उद्देशों में अर्थ का स्थान दूसरा था। कृषि, वाणिज्य, व्यवसाय आदि द्वारा द्रव्योपार्जन कर ऐहिक उन्नति करना ही 'अर्थ' का तात्पर्य था। प्राचीन भारत में आर्थिक विकास का विशेष उत्तरदायित्व वैश्यों पर था, इसीलिये ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में वैश्यों को समाजरूपी पुरुष की जङ्घाओं की उपमा दी। वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि द्रव्यप्राप्ति की इच्छा समाज में साधारणरूप से वर्तमान थी। ऋग्वेद के प्रजापतिसूक्त[1] में कहा गया है कि "हे प्रजापति आप के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है, जो समस्त जगत् में व्याप्त है। हमारी जो कुछ इच्छाएँ हैं, उन्हें हम प्राप्त करें, और हम रयि[2] (द्रव्य) के स्वामी बनें।' एक स्थान पर इन्द्र से भी रयि प्रदान प्रदान करने के लिये प्रार्थना की गई है।[3] इन उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि वेदकालीन समाज में द्रव्य-प्राप्ति भी जीवन का महान् उद्देश था, किन्तु उसकी भूमिका धर्म पर आश्रित थी।

आश्रम व्यवस्था के अनुसार गृहस्थियों को आर्थिक विकास से सम्बन्धित किया जाता है। गृहस्थियों पर दो प्रकार की जिम्मेवारियाँ रहती थीं, आध्यात्मिक उन्नति की व आर्थिक उन्नति की। उन्हें मानव-जीवन के सच्चे उद्देश को ध्यान में रख आर्थिक उन्नति के मार्ग में अग्रसर होना पड़ता था। यही कारण है कि प्राचीन भारत के गृहस्थी विशेषकर वैश्य धन कमा कर एकत्रित करने को ही

---

[1] १०।१२१।१० : "प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वाजातानि परिता बभूव। यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्।

[2] 'रयि' का अर्थ सायणादि ने द्रव्य धन आदि किया है। श्री अविनाश चन्द्र दास "ऋग्वेदिक कल्चर" (पृ० १४१) मे लिखते हैं कि "कदाचित् चादी के सिक्के जिन्हे 'रयि' कहा जाता था, ऋग्वेद-काल मे प्रचलित थे।"

[3] ऋग्वेद ५।३३।६ "स न एनीं वसवानो रयिं दाः प्रार्यः स्तुषे तुविमघस्य दानम्।

अपना जीवनसर्वस्व नहीं समझते थे। आर्थिक विकास समाज को उन्नत बनाने के लिये था, न कि भौतिक आवश्यकताओं को बढ़ा कर ऐश-आराम करने के लिये। इस प्रकार हमें प्राचीन भारत के आर्थिक विकास की भूमिका का पता लग जाता है।

काम

'काम' शब्द साधारणतया इच्छा या आकांक्षा के अर्थ में प्रयुक्त होता है। ऋग्वेद में भी इसका उल्लेख आता है।[1] वर्गचतुष्टय के अन्तर्गत जिस 'काम' का समावेश होता है उसका मतलब यह हो सकता है कि मनुष्य अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को, जो कि उच्चकोटि की तथा आध्यात्मिक रहना चाहिये, सफल बनाने के साधन प्राप्त करे। काम को इस अर्थ में वानप्रस्थाश्रम से भी सम्बन्धित किया जा सकता है, क्योंकि उसी आश्रम में व्यक्ति आध्यात्मिक विकास के मार्ग में अग्रसर होता था तथा इस प्रकार अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के साधन जुटा सकता था। प्राचीन भारत में वानप्रस्थी ही साधारणतया लोकहित व सार्वजनिक कार्यों में अपना हाथ बटाते थे। ऋग्वेदादि में यति, मुनि आदि के जो उल्लेख हैं वे इसी बात के द्योतक हैं।

मोक्ष

वर्गचतुष्टय के अनुसार मानव-जीवन का अन्तिम ध्येय मोक्ष था। मोक्ष से जीवन-मरण के बन्धन से जीवात्मा को मुक्त करना था। मोक्ष को सन्यासाश्रम से भी सम्बन्धित किया जा सकता है, क्योंकि उसमें सब सांसारिक बन्धनों को तोड़कर ब्रह्मप्राप्ति या आत्मसाक्षात्कार के लिये प्रयत्नशील होना पड़ता था। प्राचीन भारतीय का जीवन अधिकांश आध्यात्मिक था। इस लोक में रहते हुए भी परलोक का चित्र उसकी आँखों के सामने रहता था, जीवन-मरण की पहेलियाँ सर्वदा उसे चिन्तित किया करती थीं।

अथर्ववेद[2] में ब्रह्मचर्य्य के विवेचन के प्रकरण में समझाया गया है कि ब्रह्मचर्य्य व तप से देवताओं ने मृत्यु का भी हनन किया। यजुर्वेद[3] में आत्मा व ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहा

---

[1] ऋग्वेद १०।१२१।१०: "यत्कामास्ते जुहुमः"

[2] ११।५।१९ : "ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।

[3] ४०।१-१७

गया है कि जो आत्मा का हनने करते हैं अर्थात् आत्मसाक्षात्कार न करने वाले लोग मरने के पश्चात् गूढ़ अन्धकारमय असुरों के लोक में जाते हैं[१]। जो आत्मा का अस्तित्व सब भूतों में देखते हैं उन्हें एकत्व के दर्शन के कारण मोह, शोक आदि सता नहीं सकते।[२]

(उपनिषदों का पूरा साहित्य प्रकृति, जीव, ब्रह्म आदि की गुत्थियों को सुलझाने के प्रयत्नों से भरा हुआ है। उनमें ब्रह्मप्राप्ति, आत्मसाक्षात्कार, मोक्ष प्राप्ति आदि का अच्छा विवेचन किया गया है। बृहदारण्योपनिषद्[३] में कहा गया है कि आत्मा को पहिचान कर ब्राह्मण पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा आदि का परित्याग कर भिक्षुकवृत्ति धारण करते हैं। छान्दोग्योपनिषद्[४] में आत्मा व ब्रह्म की एकता का निरूपण करते हुए समझाया गया है कि आत्मारूपी अदृश्य शक्ति सर्वत्र व्याप्त है तथा जीवात्मा परमात्मा एक ही हैं। उन दोनों के तादात्म्य का साक्षात्कार ही जीव को जीवन-मरण के बन्धनों से मुक्त कर सकता है। इस प्रकार अन्य उपनिषदों में भी जीव व ब्रह्म के तादात्भ्य के निरूपण द्वारा मोक्ष-प्राप्ति का विवेचन किया गया है।

उपरोक्त उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि वेदकालीन समाज ने आध्यात्मिकता को महत्त्व देकर आत्मसाक्षात्कार या ब्रह्मसाक्षात्कार को मानव-जीवन का महान् उद्देश्य स्वीकार किया था। इस प्रकार मोक्ष-प्राप्ति या जीवन-मरण के बन्धन से जीवात्मा को मुक्त करना जीवन का प्रेरणास्रोत बन गया था। इसी ध्येय को अपने सामने रख प्राचीन भारतीय समाज सांस्कृतिक विकास के मार्ग में अग्रसर हुआ था।)

---

[१] यजुर्वेद ४०।३ : "असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृत्ता । तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥"

[२] यजुर्वेद ४०।७ : "यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यत. ॥

[३] १०।५।१ : "एत वै तमात्मान विदित्वा ब्राह्मणा. पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति।",

[४] ६।८।७ : "स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिद सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति... ।"

७

उपसंहार

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि वेदकालीन समाज ने सुदृढ़ सिद्धान्तों पर अपना सांस्कृतिक विकास किया था। पितृपक्ष-प्रधान-परिवार प्रथा के आधार पर सामाजिक जीवन के विभिन्न तत्व विकसित किये गये थे। सामाजिक विकास में व्यष्टि तथा समष्टि के सामञ्जस्य द्वारा भौतिक व आध्यात्मिक जीवन के तत्त्वों का सुन्दर समन्वय उपस्थित किया गया था। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि वर्गचतुष्टय को मानव-जीवन का ध्येय मान कर वर्णाश्रम व्यवस्था को उसकी प्राप्ति का मूल साधन निर्धारित किया गया था। इस प्रकार वेदकालीन सामाजिक विकास सत्य सनातन सिद्धान्तों पर स्थित था।

अध्याय—५

सामाजिक उदारता

१

उदार दृष्टिकोण

पिछले अध्याय में सामाजिक जीवन के विकास के बारे में जो कुछ लिखा गया है उससे प्राचीन भारतीयों के उदार दृष्टिकोण का स्पष्ट पता लगता है। वर्णव्यवस्था के विकास द्वारा असभ्य, अर्द्धसभ्य आदि जातियों को अपने समाज में समुचित स्थान देकर तथा उन्हें अपनी सांस्कृतिक सम्पत्ति का हिस्सेदार बना कर वेदकालीन आर्यों ने विश्व के सामने एक अनोखा दृष्टान्त उपस्थित किया है, जिससे रंग भेद से परितप्त विश्व आज भी लाभ उठा सकता है। आफ्रिका के काले रंग के लोगों के प्रति सभ्य कहलाने वाले यूरोप के श्वेतवर्णी लोगों ने जो कुछ दुर्व्यवहार किया है, उससे बर्बरता भी लज्जित हो सकती है। इसी प्रकार आश्रम-व्यवस्था की संस्था द्वारा व्यष्टि व समष्टि तथा भौतिकता व आध्यात्मिकता के मध्य समुचित सामञ्जस्य स्थापित कर उन्होंने विश्व के सामने एक अद्भुत सामाजिक प्रयोग रखा है, जिसकी आवश्यकता इस बीसवीं शताब्दि के विश्व में भी है, जहाँ व्यक्ति व समष्टि के मध्य विषमता तथा भौतिकता के आध्यात्मिकता से अधिक शक्तिशाली होने के कारण अशान्ति का साम्राज्य छाया हुआ है।

उदार दृष्टिकोण के कारण वेदकालीन आर्यों के जीवन में सामाजिक उदारता का महत्त्वपूर्ण स्थान था, जिसका परिचय तत्कालीन शिक्षापद्धति, व समाज में स्त्रियों तथा शूद्रों के स्थान को भली भाँति समझने से प्राप्त होता है। जो समाज जितना उदार रहता है, उसकी शिक्षाप्रणाली उतने ही उदार सिद्धान्तों पर अवलम्बित रहती है तथा उसमें स्त्रियों व शूद्रों के साथ अच्छा व्यवहार किया जाकर उन्हें आत्मविकास का पूरा अवसर दिया

ता है। इस सिद्धान्त के अनुसार वेदकालीन शिक्षापद्धति उदार
द्धान्तों पर आश्रित थी, तथा स्त्रियों व शूद्रों को भी समाज में
मुचित स्थान प्राप्त था; वे आत्मविकास के मार्ग मे अग्रसर हो
कते थे। वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से यह
तथ्य स्पष्टतया समझ में आ सकता है।

२

क्षा पद्धति

यह स्पष्ट ही है कि वेदकालीन संस्कृति उदात्त सिद्धान्तों व
र्शों पर विकसित हुई थी। मानव जीवन के विशिष्ट उद्देशों की
र्ति ही उस संस्कृति का ध्येय था। उन्हीं उद्देशों को ध्यान में
प्राचीन शिक्षा-प्रणाली का विकास किया गया था। वैदिक
षियों ने यह भली-भाँति जान लिया था कि यदि मृत्यु के रहस्य
समझ लिया जाय तो संसार के कितने ही दुःखों का अन्त हो
कता है। इसलिये वे मृत्यु का हनन करने में भी प्रयत्नशील
ते थे[1]। वे ऋषि आत्मा व परमात्मा का सम्बन्ध तथा जीवन-
ण की समस्याओं को समझने में ही अपना जीवन व्यतीत करते
। तत्सम्बन्धित बहुत से सत्य सनातन सिद्धान्त व तत्त्व भी
होंने समझे व ढूँढे थे। इस प्रकार उन्होंने मानव-जीवन को
शविकता के गर्त में से निकाल कर उसे विशाल व उदात्त उद्देशों
युक्त कर दिया था। इन उदात्त उद्देशों की पूर्ति भी योग्य
क्तियों द्वारा ही हो सकती है। इसी योग्यता की प्राप्ति के लिये
क्षा-प्रणाली विकसित की गई थी। इस प्रकार वेदकालीन शिक्षा-
णाली का उद्देश मनुष्य की नैसर्गिक शक्तियों का सम्यक् विकास
: उसे सच्चे अर्थ में मानव बनाना था, जिससे वह जीवन की
ेलियों को सुलझाने में समर्थ हो सके।

चार्याश्रम

आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत जो ब्रह्मचर्य्याश्रम है उसका विशेष
म्बन्ध शिक्षा-प्रणाली से है। इस आश्रम का विकास अत्यन्त ही

[1] अथर्ववेद ११।५।१९ : "ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।"

प्राचीन काल से हुआ था। ऋग्वेद[1] में ब्रह्मचारी का तथा अथर्ववेद[2] में ब्रह्मचर्य्य का स्पष्ट उल्लेख आता है। अथर्ववेद[3] में तो ब्रह्मचर्य्याश्रम के विकसित स्वरूप के दर्शन होते हैं। वहाँ ब्रह्मचारी, आचार्य, समिध, भैक्ष्य, मेखला, ब्रह्मचर्य्यादि का उल्लेख आता है, तथा ब्रह्मचारी व ब्रह्मचर्य्याश्रम के महत्त्व की बहुत ही सुन्दर व्याख्या की गई है। अथर्ववेद के उक्त वर्णन को पढ़ने से हमें तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली के स्वरूप तथा उद्देश का पता भी लगता है। उक्त प्रकारण में ब्रह्मचर्य्य के महत्त्व को समझाते हुए लिखा गया है कि ब्रह्मचर्य्य व तप से देवता मृत्यु का भी हनन करते हैं। इस प्रकार वेदकालीन आर्य ब्रह्मचर्य्य के द्वारा मृत्यु का हनन करने की आकांक्षा रखते थे। विश्व में कदाचित् ही कोई ऐसी संस्कृति हो, जिसने अपना उद्देश इतना ऊँचा बनाया हो। वेदकालीन आर्यों के सामने यही आदर्श रहता था कि वे ब्रह्मचर्य्य व तप के द्वारा मृत्यु का हनन कर अमरत्व को प्राप्त हों। इसी में प्राचीन शिक्षा-प्रणाली का रहस्य छिपा हुआ है।

ब्रह्मचर्य्याश्रम में ऐसी शिक्षा दी जाती थी जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि वर्गचतुष्टय की प्राप्ति में सहायक बन सके। इस आश्रम में मानव-जीवन के सर्वाङ्गीण विकास के लिये भी पूरा-पूरा स्थान था। वेदकाल का विद्यार्थी केवल विद्यार्थी ही नहीं था, वह ब्रह्मचारी भी कहाता था। उसके विद्याध्ययन का काल व स्थान ब्रह्मचर्य्याश्रम कहाता था। ब्रह्मचारी व ब्रह्मचर्य्य शब्दों का तात्पर्य्य है, वह व्यक्ति या ऐसा जीवन जिसमें 'ब्रह्म' अर्थात् 'सत्य'[4] को खोजने व समझने की एक धुन सी लगी हो।

गुरुकुल-जीवन

प्राचीन काल में प्रत्येक बालक के मन पर यह अङ्कित कर दिया जाता था कि वह समाज का एक घटक है, वह पूर्णतया स्वतंत्र नहीं है। इस संसार में आते ही वह पितृऋण, ऋषिऋण,

---

[1] १०।१०९।५;

[2] ११।५।१९,

[3] ११।५।१–२६

[4] छान्दोग्योपनिषद् ८।३।४

देवऋण आदि से ऋणी हो जाता है। इन ऋणों को चुकाने का सामर्थ्य वह ब्रह्मचर्य्याश्रम में प्राप्त करता था। सात या आठ वर्ष के बालक को ब्रह्मचर्याश्रम में प्रविष्ट कराया जाता था। आचार्य या गुरु द्वारा उसे ब्रह्मचर्याश्रम की दीक्षा मिलती थी। इसी अवसर पर उसका यज्ञोपवीत या उपनयन संस्कार होता था, जब कि उसे यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकार मिलता था।

यज्ञोपवीत धारण करने के पश्चात् विद्यार्थी (ब्रह्मचारी) गुरु के परिवार का एक सदस्य बन जाता था। गुरुकुल में गुरु व शिष्यों में आत्मीयता का भाव उत्पन्न हो जाता था। सत्य, तप, त्याग, ज्ञान आदि की मूर्ति गुरु के सच्चरित्र व व्यक्तित्व का प्रभाव कोमलहृदय ब्रह्मचारियों पर पड़े बिना नहीं रहता था। प्रकृति देवी के सानिध्य में बैठ कर गुरुकुल के ब्रह्मचारी अपनी नैसर्गिक शक्तियों का विकास करते थे। वहाँ का वातावरण शुद्ध रहता था। ऐसे शुद्ध वातावरण में ब्रह्मचारी अपना विद्याभ्यास करते थे।

ब्रह्मचर्याश्रम के अन्तर्गत जो विद्यार्थी-जीवन रहता था, उसकी विशेषता यह थी कि पद-पद पर उदात्त भाव दृष्टिगोचर होते थे। गुरुकुल में प्रवेश करते ही प्रत्येक बालक को नीच, ऊँच, छोटा, बड़ा आदि के भाव भुला देने पड़ते थे, और बालपन से ही अपने कोमल हृदय पर समता का भाव अङ्कित करना पड़ता था। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के पश्चात् वह इस भाव को समाज में भी फैलाता था, जिससे समाज का बड़ा हित होता था। जिन देशों में ऐसी व्यवस्था नहीं थी वहाँ समाज में इस भाव को प्रचलित करने के लिये कितना ही रक्तपात किया गया।

सेवावृत्ति गुरुकुल-जीवन की विशेषता थी। प्राचीन काल में प्रत्येक ब्रह्मचारी को स्वावलम्बन के सिद्धान्त पर आचरण करना पड़ता था। अपना सब काम अपने हाथों कर उसे गुरु की सेवा भी करनी पड़ती थी। उसे यज्ञादि के लिये जंगल से समिध् लानी पड़ती थी तथा निकटस्थ गाँवों में जाकर भिक्षा मांगनी पड़ती थी। उसे जीवन पूरा सादगी का रखना पड़ता था। इन ब्रह्मचारियों को इन्द्रियलोलुपता को उत्तेजित करनेवाली भड़कीली वेषभूषा, तैलमर्दन आदि शृङ्गार-सामग्री से दूर रहना पड़ता था। तपस्वियों के समान वल्कल, मेखला आदि धारण कर उन्हें अपना जीवन तपोमय व ब्रह्मचर्य्ययुक्त बनाना पड़ता था।

अथर्ववेद में ब्रह्मचारी का जीवन

अथर्ववेद[1] में ब्रह्मचर्य्याश्रम व ब्रह्मचारी के विभिन्न कर्तव्यों का बहुत ही सुन्दर चित्र खींचा गया है। आचार्य ब्रह्मचारी का उपनयन संस्कार करके उसे अन्तेवासी बनाता है[2]। वह ब्रह्मचारी मेखला, कार्ष्ण (कृष्ण मृग का चर्म) आदि धारण करके समिधाहरण करता है। वह यज्ञादि कृत्यों के लिये दीक्षित किया गया है तथा उसकी लम्बी डाढ़ी (दीर्घश्मश्रुः) है।[3] वह तप करता है व इस पृथ्वी से भिक्षा प्राप्त करता है।[4] ब्रह्मचर्य्य व तप से राजा राष्ट्र की रक्षा करता है।[5] ब्रह्मचर्य्य से कन्या युवा पति को प्राप्त होती है।[6] ब्रह्मचर्य्य व तप से देवताओं ने मृत्यु का हनन किया।[7]

अथर्ववेद के उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में ब्रह्मचारी व ब्रह्मचर्य्य-जीवन अत्यन्त ही महत्वपूर्ण थे। प्रत्येक के लिये ब्रह्मचर्य्य-जीवन अनिवार्य्य-सा ही था। राजा ब्रह्मचर्य्ययुक्त जीवन से ही राज्य की रक्षा कर सकता था। कन्या भी ब्रह्मचर्य्य से ही योग्य पति प्राप्त कर सकती थी। इतना ही नहीं ब्रह्मचर्य्य व तप से मृत्यु का भी हनन किया जा सकता था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वेदकालीन शिक्षा-पद्धति उदात्त सिद्धान्तों के आधार पर विकसित हुई थी।

ऋग्वेद

अथर्ववेद में ब्रह्मचर्य्याश्रम के पूर्ण विकसित रूप का चित्रण किया गया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि अथर्ववेद के युग में ही ब्रह्मचर्य्याश्रम का विकास हुआ था, उसके पूर्व उसका अस्तित्व नहीं था, जैसा कि कुछ विद्वान् मानते हैं।[8] किन्तु ऋग्वेद के

---

[1] ११।५।१–२६

[2] अथर्व० ११।५।३;

[3] अथर्व० ११।५।६,

[4] अथर्व० ११।५।९;

[5] अथर्व० ११।५।१७,

[6] अथर्व० ११।५।१८;

[7] अथर्व० ११।५।१९

[8] वेदिक एज (भारतीय विद्याभवन) पृ० ३८९–३९०; ए० सी० दास—ऋग्वेदिक कल्चर पृ० ३९३; मैकडॉनेल—कीथ—वेदिक इन्डेक्स २।७५,

आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि ब्रह्मचर्याश्रम का अस्तित्व उस समय भी था, तथा शिक्षा-प्रणाली विकसित अवस्था में वर्तमान थी। ऋग्वेद[1] में एक स्थान पर ब्रह्मचारी का उल्लेख किया गया है व कहा गया है कि ब्रह्मचारी देवताओं का एक अङ्ग बन जाता है। अन्य स्थान[2] पर मेंढकों को व्रतचारी ब्राह्मणों की उपमा दी है तथा उनकी टर्राहट की तुलना गुरु के वचनों के विद्यार्थियों द्वारा दुहराये जाने से की है। ऋग्वेद[3] के एक मन्त्र में विद्वान् व बुद्धिशाली वरुण के गुरु के समान अपने शिष्य को 'गुह्यपद' (ब्रह्मपद) की शिक्षा देने का उल्लेख है। सुप्रसिद्ध गायत्री[4] मन्त्र में सविता के वरणीय तेज का ध्यान करने का उल्लेख है तथा प्रार्थना की गई है कि वह सविता बुद्धि को प्रेरणा प्रदान करे। एक सूक्त[5] में वाग्शक्ति द्वारा प्राप्त ज्ञान की महिमा का विवेचन है व विद्वानों के मध्य वाद-विवाद का उल्लेख है तथा कहा गया है कि कुछ लोग वाग्शक्ति को देखते हुए भी नहीं देख पाते, सुनते हुए भी नहीं सुन पाते।[6] इस पर से कुछ विद्वान् यह निष्कर्ष निकालते हैं कि यहाँ पर अर्थ को समझे बिना पुस्तकों को पढ़ने का उल्लेख है। इस सूक्त में ज्ञानार्जन के महत्त्व को भली भाँति समझाया गया है। एक अन्य सूक्त[7] में वाग्शक्ति की अगाध महिमा गाई गई है। वाग्शक्ति कहती है—"मैं रुद्र, वसु, आदित्य, विश्वदेव आदि के साथ विचरण करती हूँ। मैं मित्र, वरुण, इन्द्र, अग्नि, अश्विनीकुमार आदि का पोषण करती हूँ। मैं हविष् प्रदान करने वाले यजमान को द्रव्य प्रदान करती हूँ। जो देखता है, जो श्वास लेता है, जो सुनता है वह मेरे ही कारण भोजन प्राप्त करता है।

---

[1] १०।१०९

[2] ७।१०३।५

[3] १०।८७।४: "विद्वान्पदस्य गुह्या न वोचद्युगाय विप्र उपराय शिक्षन् ॥"

[4] ऋग्वेद ३।६२।१०: "तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो योनः प्रचोदयात्।"

[5] ऋग्वेद १०।७१।१-११; ऋ० १०।७१।४: "उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।

[6] ए. सी. दास—ऋग्वेदिक कल्चर, पृ० ३८८

[7] ऋग्वेद १०।१२५। १-८

मैं स्वतः ही देवताओं व मनुष्यों के लिये प्रियवचन कहती हूँ। मैं जिसे चाहती हूँ उसे शक्तिशाली, ब्राह्मण, ऋषि व मेधावान् बना देती हूँ।" वाग्देवी की इस-स्तुति से वेदकालीन समाज में विद्योपार्जन, विद्याव्यासङ्ग तथा बौद्धिक विकास का कितना महत्त्व था, यह स्पष्ट हो जाता है। यह सब सुव्यवस्थित शिक्षा-प्रणाली के अस्तित्व के बिना असम्भव है।

ऋग्वेद के उपरोक्त उद्धरणों के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन समाज ने सुव्यवस्थित शिक्षा-प्रणाली का विकास किया था। ब्रह्मचर्य्याश्रम प्रणाली के अनुसार शैक्षणिक संस्थाओं की स्थापना हुई थी, जिनका सञ्चालन आचार्यों व ऋषियों द्वारा किया जाता था; वहाँ ज्ञानार्जन के लिये विभिन्न छात्र व छात्राएँ एकत्रित होते थे, जिन्हें ब्रह्मचारी व ब्रह्मचारिणी कहा जाता था। यहाँ अनुशासनयुक्त जीवन द्वारा वे आत्मविकास के मार्ग में अग्रसर होते थे।

अथर्ववेद मे ब्रह्मचारी व ब्रह्मचर्य्य का जो वर्णन आता है उससे स्पष्ट होता है कि ब्रह्मचर्य्य-जीवन लगभग सब के लिये आवश्यकीय था। देवता, मनुष्य, कन्या, राजा सब को ब्रह्मचर्य्य-जीवन धारण करना पड़ता था। ब्रह्मचारी का प्रभाव समस्त भूतल पर रहता था। पृथ्वी, आकाश, जल, वायु, समुद्र आदि सर्वत्र उसकी गति अक्षुण्ण रहती थी। वह तप व तेज की मूर्ति था[1]। जिस समाज में विद्योपार्जन व विद्योपार्जन करनेवाले विद्यार्थियों को इतना अधिक महत्त्व दिया गया हो, वह सांस्कृतिक विकास के मार्ग में कितना आगे बढ़ा होगा इसकी कल्पना ही की जा सकती है।

ऋग्वेदादि संहिताओं के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि उन मन्त्रों के द्रष्टा साधारण व्यक्ति नहीं थे। जिन्होंने धर्म, दर्शन, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि के ऊँचे से ऊँचे सिद्धान्तों का विवेचन किया है, वे अवश्य ही उच्चकोटि के विद्वान् होने चाहिये। नासदीयसूक्त[2], पुरुषसूक्त[3], हिरण्यगर्भसूक्त[4], वागाम्भृणी-

[1] अथर्ववेद ११।५। १–२६

[2] ऋग्वेद १०।१२९।१–७,

[3] ऋग्वेद १०।९०।१–१६,

[4] ऋग्वेद १०।१२१।१–१०,

सूक्त[1], ज्ञानसूक्त[2], पृथिवीसूक्त[3], कालसूक्त[4], 'ईशावास्यम्'सूक्त[5], आदि में जो ज्ञान का भण्डार भरा हुआ है, वह साधारण मस्तिष्क की उपज नहीं हो सकता। ऐसे मस्तिष्क वाले व्यक्ति केवल उसी समाज में जन्म ले सकते हैं जिसका शैक्षणिक स्तर बहुत ऊँचा हो। ऊँचे शैक्षणिक स्तर के लिये उदात्त सिद्धान्तों के आधार पर विकसित शिक्षा प्रणाली का रहना अनिवार्य है।

स्त्रीशिक्षा

वेदकालीन समाज में स्त्रीशिक्षा की व्यवस्था भी वर्तमान थी। अथर्ववेद में स्त्रियों के ब्रह्मचर्य अर्थात् ज्ञानोपार्जन के लिये गुरुकुल में जाने का उल्लेख है। उसमें कहा गया है[6] कि कन्या ब्रह्मचर्य के द्वारा युवा पति को प्राप्त होती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कन्याओं का भी ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश करके विद्याभ्यास करना पड़ता था। यही कारण है कि वेदिक युग में कितनी ही विदुषी स्त्रियों ने जन्म लिया था व उनमें से कुछ मन्त्र द्रष्ट्रियाँ भी थीं। विश्ववारा आत्रेयी[7], अपाला आत्रेयी[8], घोषा काक्षीवती[9], वागाम्भृणी,[10] रात्रि भारद्वाजी[11], श्रद्धा कामायनी[12], शची पौलोमी,[13] लोपामुद्रा[14] आदि वैदिक युग की मन्त्रद्रष्ट्री विदुषियाँ थीं, जिनके मन्त्र ऋग्वेद में आज भी वर्तमान हैं। इन उल्लेखों से स्पष्ट

[1] ऋग्वेद १०।१२९।१–८

[2] ऋग्वेद १०।७१।१–११

[3] अथर्ववेद १२।१।१–६३

[4] अथर्ववेद १९।५३।१–१०

[5] यजुर्वेद ४०।१–१७

[6] अथर्ववेद ११।५।१८ 'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।'

[7] ऋग्वेद ५।२८।१–६

[8] ऋ० ८।९१।१–७

[9] ऋग्वेद १०।३९।१–१४ १०।४०।१–१४

[10] ऋग्वेद १०।१२५।१–८

[11] १०।१२७।१–८

[12] ऋग्वेद १०।१५१।१–५

[13] ऋग्वेद १०।१५९।१–६

[14] ऋग्वेद १।१७९।१–६

हो जाता है कि वैदिक युग में स्त्रीशिक्षा का स्तर बहुत ऊँचा था।

विभिन्न विद्याओं का अध्ययन

ऋग्वेदादि संहिताओं में विभिन्न शास्त्रों व विद्याओं का ज्ञान निहित है। वैदिक मन्त्रों के आलोचनात्मक अध्ययन से साहित्य के विभिन्न अङ्गों के व्यवस्थित विकास का स्पष्ट बोध होता है। वैदिक साहित्य के संहितापाठ, पदपाठ, क्रमपाठ आदि तथा अनुदात्त, उदात्त, स्वरित आदि स्वरों के प्रयोग से तत्कालीन व्याकरण शास्त्र के विकास का ज्ञान होता है। गायत्री, त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्, जगती, पङ्क्ति आदि विभिन्न छन्दों के प्रयोग से तत्कालीन छन्दशास्त्र का ज्ञान होता है। नासदीय सूक्त, हिरण्यगर्भसूक्त, पुरुषसूक्त आदि से दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि के विकसित रूप के दर्शन होते हैं। उषः, सूर्य, सविता, रात्रि, वरुण आदि के सूक्त उत्कृष्ट काव्य के नमूने हैं। ज्योतिःशास्त्र, गणितादि विद्या, आयुर्वेद आदि से सम्बन्धित बहुत से तथ्य वैदिक साहित्य में वर्तमान हैं। वैदिक साहित्य में इतिहास व भूगोल से भी सम्बन्धित कितनी ही सामग्री वर्तमान है, जिससे वैदिक ऋषियों के इतिहास व भूगोल सम्बन्धी ज्ञान का स्पष्ट बोध होता है। इस प्रकार वैदिक साहित्य में धर्म व दर्शन के अतिरिक्त समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति, गणितादि विद्या, ज्योतिःशास्त्र, आयुर्वेद, इतिहास, भूगोल, व्याकरण, छन्दशास्त्र, अलंकारशास्त्र, काव्य आदि से सम्बन्धित कितनी ही सामग्री वर्तमान है। यह कहना न होगा कि तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली मे इन विद्याओं तथा शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था अवश्य रही होगी। इससे स्पष्ट है कि वेदकालीन शिक्षा-प्रणाली मे केवल धार्मिक अध्ययन को ही महत्त्व नहीं दिया गया था, किन्तु विभिन्न शास्त्रों व विद्याओं के अध्ययन को भी महत्त्व दिया गया था।

छान्दोग्योपनिषद् में एक स्थान पर महर्षि सनत्कुमार के पूछने पर नारद मुनि कहते हैं—"हे भगवन्, मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास-पुराण, वेदों के अर्थ विधायक ग्रन्थ, पितृविद्या, राशिविद्या, देवविद्या, निधिविद्या, वाकोवाक्यविद्या, एकायनविद्या भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या और सर्प देवजन-

विद्याओं का अध्ययन किया है।[1] इन विद्याओं की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—"इतिहास-पुराण" अर्थात् इतिहास व प्राचीन अनुश्रुतियाँ (History), "वेदानां वेदम्" अर्थात् वेदों के अर्थ जिन विद्याओं से जाने जायँ वे विद्याएँ, जैसे व्याकरण, निरुक्त, शिक्षा, छन्द, कल्प व ज्योतिष (Grammar, Philology, Phonetics, Metrics, Aphorisms on ritualism, and Astronomy), "पित्र्यम्" पितर सम्बन्धी विद्या (Anthropology), "राशिम्" गणित विद्या, "दैवम्", उत्पात विद्या, जैसे भूकम्प, जलप्लावन, वायुकोप (Physical geography),"निधिम्" अर्थात् खानों की विद्या (Minerology) "वाकोवाक्यम्" अर्थात् तर्कशास्त्र (Logic), "एकायनम्" अर्थात् नीतिविद्या (Ethics), "ब्रह्मविद्या", जिसमें ब्रह्म की व्याख्या की गई हो, "भूतविद्या", अर्थात् प्राणियों की विद्या, प्राणियों के प्रकार, वर्णन, रचना आदि (Zoology, Anatomy etc), "क्षत्रविद्या" अर्थात् धनुर्विद्या (Archery) तथा राजशासनविद्या (Military Science and Art of government), "नक्षत्रविद्या" अर्थात् ज्योतिषविद्या (Astronomy)। "सर्पदेवजनविद्या" का तात्पर्य ठीक तरह से ज्ञात नहीं होता, परन्तु सम्भव है कि सर्पों का विष दूर करने की विद्या तथा देव और जन से सम्बन्ध रखने वाली अनेक प्रकार की विद्याओं का वर्णन हो। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में नाना प्रकार की विद्याएँ पढ़ाई जाती थीं। किन्तु साधारणतया, ब्रह्मचर्या-श्रम तो एक प्रकार से अनिवार्य्य शिक्षाक्रम का एक नमूना था, जो सब के लिये आवश्यकीय था, जैसा कि आजकल कितने ही स्थानों पर अनिवार्य्य प्राथमिक शिक्षा का आयोजन किया गया है। गुरुकुल-जीवन में तो अपनी नैसर्गिक शक्तियों का सम्यक् विकास करके मनुष्य सच्चे अर्थ में मनुष्य बनता था।

वेदकालीन शिक्षा प्रणाली के उद्देश तथा आदर्शों का दिग्दर्शन हमें उस उपदेश में होता है जो आचार्य विद्यासमाप्ति पर अपने अन्तेवासियों (विद्यार्थियों) को देता था। विद्यासमाप्ति पर आचार्य

---

[1] छान्दोग्योपनिषद् ७।१।२ • 'ऋग्वेद भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां, क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि।"

विद्यार्थियों को उनके भावी जीवन के प्रति प्रेरणा देते हुए उपदेश देता था[1] जो कि इस प्रकार है :—

"सत्य बोलो, धर्माचरण करो, स्वाध्याय में प्रमाद मत करो। आचार्य को प्रियधन (गुरुदक्षिणा) देकर प्रजातन्तु को मत तोड़ो (गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर सन्तानोत्पत्ति करो)। सत्य से प्रमाद न करो, धर्म से प्रमाद न करो, अपने कुशलक्षेम के प्रति प्रमादी न बनो। अपनी समृद्धि के प्रति प्रमाद न करो। देवता-पितर आदि के कार्यों के प्रति प्रमाद न करो। माता को देवता के समान समझो, पिता को देवता के समान समझो, आचार्य को देवता के समान समझो। अतिथि को देवता के समान समझो, जो अनिन्द्नीय कर्म हैं उन्हीं का सेवन करो, अन्यों का नहीं। जो हमारे सुचरित हैं उन्हीं की उपासना तुम्हें करनी चाहिये अन्यों की नहीं। जो हमारे मध्य कल्याणकारी ब्राह्मण हैं, उनके निकट बैठ उनमें विश्वास करो, श्रद्धा से दान देना चाहिये, अश्रद्धा से दान देना चाहिये, ऐश्वर्य के लिये दान देना चाहिये, भय से दान देना चाहिये, प्रतिज्ञा से दान देना चाहिये। यदि तुम्हें सत्कर्म या सदाचरण के प्रति किसी प्रकार का संशय होवे तो उस सम्बन्ध में वे विचारशील, योगी, अयोगी, आर्द्रचित्त व धार्मिक ब्राह्मण जैसा व्यवहार करें वैसा तुम्हें करना चाहिये। यही आदेश है, यही उपदेश है, यही वेदों व

---

[1] तैत्तिरीय उप० ७।११ : "सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणास्तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्॥ ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनो युक्ता अयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युर्यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्॥

उपनिषदों की शिक्षा है। यही अनुशासन है। इसी की उपासना करनी चाहिये, यही उपासना करने योग्य है।"

एक शिक्षित नवयुवक के लिये जीवन में प्रवेश करने के पूर्व उपरोक्त उपदेश से अधिक प्रेरणाप्रद व मार्गदर्शक और कोई उपदेश नहीं हो सकता। प्राचीन शिक्षा प्रणाली के अन्तर्गत प्रत्येक विद्यार्थी को अपनी शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक उन्नति करने का पूर्ण अवसर प्राप्त होता था। गुरुकुल के शुद्ध जलवायु में उसका स्वास्थ्य अच्छा रहता था तथा शरीर पुष्ट बनता था। संयम व अनुशासन का जीवन शरीर की पुष्टि में पूरी पूरी सहायता देता था। जंगल की शुद्ध वायु में रह कर प्रातः ब्राह्ममुहूर्त में उठना, शौचादि से निवृत्त हो स्नान सन्ध्या आदि करना केवल यही जीवन क्रम शरीर को पुष्ट बनाने में समर्थ है, फिर इन्द्रियनिग्रह, व्यसनों से दूर रहना, सादगी का जीवन आदि बातें सोने में सुगन्ध का काम करती थीं। इसके अतिरिक्त जंगल में जाकर यज्ञार्थ लकड़ी काटने के काम से सम्पूर्ण शरीर को पूरा व्यायाम मिलता था। प्राणायाम आदि के द्वारा फेफड़ों के विकार दूर होकर उनकी शक्ति बढ़ती थी। कम से कम पच्चीस वर्ष तक ऐसा जीवन व्यतीत करने पर शरीर इतना हृष्ट पुष्ट बन जाता था कि कोई रोग उसमें प्रवेश तक नहीं कर सकता था। ऐसे ही शारीरिक विकास वाले लोग "पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम्"[1] आदि वैदिक वचनों को अपने जीवन में चरितार्थ करते थे।

वेदकालीन ब्रह्मचर्य जीवन में शारीरिक विकास के साथ-साथ मानसिक व आत्मिक विकास भी बराबर होता था। इस कार्य्य में विद्यार्थी पर गुरु के व्यक्तित्व का बड़ा भारी प्रभाव पड़ता था। वेदादि के अध्ययन व अन्य विद्याओं के ज्ञान से ब्रह्मचारियों के मन व बुद्धि का विकास होता था, तथा आचार्य्य के सच्चरित्र व पवित्र जीवन द्वारा उन्हें आत्मिक विकास के लिये प्रेरणा प्राप्त होती थी।

उपरोक्त वर्णन से वेदकालीन शिक्षा प्रणाली का स्पष्ट दिग्दर्शन हो जाता है। तत्कालीन शिक्षा प्रणाली का विकास उदात्त सिद्धान्तों पर हुआ था, जिसके अन्तर्गत शारीरिक, मानसिक व आत्मिक विकास के लिये पूर्ण अवसर प्रदान किया जाता था। समाज के प्रत्येक

---

[1] ऋग्वेद ७।६६।१६, यजुर्वेद ३६।२४

स्त्री-पुरुष, नीच-ऊँच सबको उत्तम शिक्षा के द्वारा आत्मविकास का पूरा अधिकार था। वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज का शैक्षणिक स्तर बहुत ऊँचा था तथा उस समय विभिन्न शास्त्रों तथा विद्याओं का विकास हुआ था। यह यथार्थ में आश्चर्य की बात है कि जब कि विश्व के अनेक भाग अज्ञान व असभ्यता के अन्धकार में पड़े थे उस समय वैदिक आर्यों ने मानव समाज को दानवता के गर्त में से निकाल कर सच्चे अर्थ में मानवतापूर्ण बनाने के लिये शास्त्रीय व वैज्ञानिक ढङ्ग पर विकसित एक सुन्दर शिक्षा-प्रणाली का सूत्रपात किया था!

३

स्त्रियों का स्थान

जिस प्रकार प्रकृति के बिना पुरुष का कार्य अपूर्ण रहता है, उसी प्रकार स्त्री के बिना मनुष्य का जीवन अपूर्ण ही रहता है। प्राचीन भारत में मानव जीवन के इस तथ्य को समझ कर ही सामाजिक व्यवस्था की गई थी। प्राचीन भारत ने यह अच्छी तरह समझ लिया था कि मानव जीवन रूपी गाड़ी के दो चाक हैं, एक स्त्री व दूसरा पुरुष। दोनों चाक बराबर रहने चाहिये व साथ-साथ चलने चाहिये, तभी जीवनरूपी गाड़ी अच्छी तरह चल सकती है। इसीलिये वैदिक साहित्य में स्त्री को पुरुष की अर्धाङ्गिनी कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण[1] में वर्णन आता है कि "जो पत्नी है वह अपनी आत्मा का आधा भाग है। इसलिये जब तक कोई व्यक्ति पत्नी को प्राप्त नहीं करता, तबतक उसे सन्तान प्राप्त नहीं होती

[1] ५।२।१।१०: "अर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया तस्माद्यावज्जायां न विन्दते नैव तावत्प्रजायते असर्वो हि तावद्भवति। अथ यदैव जायां विन्दतेऽथ प्रजायते तर्हि सर्वो भवति।"; शतपथ ब्रा० ६।१।८।५; महा० आ० प० ७४।४० : "अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा। भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः॥"; तैत्तिरीय संहिता ६।१।८।५; मनुस्मृति ३।५६–५८

अतएव वह अधूरा रहता है। जब वह पत्नी को प्राप्त करता है तब उसे सन्तान प्राप्त होती है और वह पूर्ण हो जाता है।" इन शब्दों में समाजशास्त्र का एक महान् तथ्य निहित है। यहाँ दर्शाया गया है कि स्त्री व पुरुष परस्पर आकर्षित होकर एकत्रित रहते हैं तथा प्रजोत्पादन द्वारा परिवार का सूत्रपात करते हैं। यही परिवार समाज की इकाई है।

स्त्री को पुरुष की अर्द्धाङ्गिनी कहने का यह भी तात्पर्य्य हो सकता है कि पुरुष को इस बात का गर्व न हो जाय कि वह अधिक शारीरिक शक्ति रखता है, इसलिये स्त्री पर उसका अधिकार रहना चाहिये। जब कि स्त्री उसी का आधा अङ्ग है, तब अधिकर्ता व अधिकृत का भाव रह ही नहीं सकता। वे दोनों बराबर हैसियत रखते हैं। स्त्री व पुरुष पारिवारिक जीवन के दो पहलू हैं। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि पारिवारिक जीवन में दो प्रकार की जिम्मेदारियाँ रहती हैं आन्तरिक जीवन सम्बन्धी व बाह्य जीवन सम्बन्धी, जिनसे क्रमशः स्त्री व पुरुष सम्बन्धित रहते हैं। पारिवारिक सुख व शान्ति के लिये दोनों प्रकार के जीवन का सुचारु सञ्चालन अत्यन्त ही आवश्यकीय है। इन दो में से किसी एक में यदि कमी रही तो जीवन दु खमय हो जाता है। वैदिक युग में समाज में स्त्री का जो स्थान निर्धारित किया गया था उसके अन्तर में पारिवारिक जीवन का यह पहलू भी था।

स्त्री के तीन पद

वैदिक साहित्य में स्त्री से सम्बन्धित उल्लेखों का यदि आलोचनात्मक अध्ययन किया जाय तो स्पष्टतया ज्ञात होगा कि तत्कालीन सामाजिक जीवन में उसका स्थान अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण था। उसके तीन प्रकार के उत्तरदायित्वों को ध्यान में रखकर उसके लिये तीन पद निर्धारित किये गये थे, जैसे गृहिणीपद, मातृपद व सहचरीपद। ये तीन पद उसके पारिवारिक जीवन से सम्बन्धित थे तथा अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण थे। किन्तु इनके अतिरिक्त उसे अधिकार था कि वह आत्मविकास के पथ में अग्रसर हो कर व नागरिकता के उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हुए सांस्कृतिक विकास द्वारा समाज की सेवा में भी अपना हाथ बटावे।

परिवार के सदस्य घर में रहकर जो कुछ करते हैं या उनके लिये जो कुछ किया जाता है वह सब परिवार के आन्तरिक जीवन में समाविष्ट हो जाता है। स्त्री व पुरुष के विवाह-बन्धन में बँधकर एक साथ रहने से ही पारिवारिक जीवन का प्रारंभ होता है। ज्यों-ज्यों सन्तान-वृद्धि होती है या अन्य प्रकार से परिवार के सदस्यों की संख्या बढ़ने लगती है त्यों-त्यों परिवार का आन्तरिक जीवन भी विकसित होने लगता है। इस जीवन का सम्बन्ध पूर्णतया स्त्री से ही रहता है। उसे ही परिवार के छोटे-बड़े सब सदस्यों की चिन्ता करनी पड़ती है। उसे अपने घर को अच्छी तरह से साफ-सुथरा रखना, भोजन की व्यवस्था करना तथा अतिथि के यथा-योग्य सत्कार आदि की जिम्मेवारियों को पूरा करना पड़ता था। उसे अपनी सन्तान का पालन-पोषण कर उन्हें योग्य नागरिक व समाज-सेवक बनाने का उत्तरदायित्व भी उठाना पड़ता था। इस प्रकार इन सब घरेलू बातों की जिम्मेवारी स्त्री पर रहती थी। इसीलिये उसे गृहिणी के पद पर सुशोभित किया गया था। प्राचीन कालीन सामाजिक जीवन में गृहिणीपद अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण था, क्योंकि उस समय का पारिवारिक जीवन स्वावलम्बन के सिद्धान्त पर स्थित था। इसलिये साधारणतया स्त्री को कपड़ा बुनना, गाय दुहना व कृषिसम्बन्धी बहुत से कामों की देखभाल आदि की जिम्मेवारियाँ उठानी पड़ती थीं। इस प्रकार वह गृह के आन्तरिक जीवन की शासनकर्त्री थी।

ऋग्वेद में स्त्री के गृहिणीपद का बहुत ही सुन्दर विवेचन किया गया है। "जायेदस्तं"[1] (स्त्री ही घर है) शब्दों द्वारा समझाया गया है कि स्त्री ही गृह है। गृह का उत्तरदायित्व स्त्री पर रहता था। उसी के कारण गृह शोभायमान रहता था। ऋग्वेद में एक स्थल पर इन्द्र के सुखी गृह का उल्लेख है जिसमें अच्छी सुन्दर प्रेयसी का प्रभुत्व स्थापित था और जहाँ पर उसके माधुर्यपूर्ण शब्द व बालकों का आनन्दमय हास्य गुंजायमान होते थे। इन्द्र को सम्बोधित करता हुआ ऋषि कहता है—"हे इन्द्र, तुमने सोम-

---

[1] ऋग्वेद ३।५३।४; "जायेदस्तं मघवन्त्सेदु योनिस्तदित्वा युक्ता हरयो वहन्तु।"

पान किया है, अब तुम अपने घर जाओ, जहाँ तुम्हारी कल्याणकारी पत्नी है, जो आनन्द का भण्डार है।"[1] इन शब्दों में ऋग्वेद-कालीन आर्यों के पारिवारिक जीवन के सौख्य का सुन्दर चित्रण किया गया है। पत्नी गृहिणी की हैसियत से पति की आवश्यकताओं की पूर्ति करती थी। अपने पति को प्रसन्न करने के लिये वह सुन्दर वस्त्र धारण करती थी व सदैव प्रसन्नचित्त रहती थी।[3] उसे प्रातःकाल जल्दी उठना पड़ता था तथा परिवार के सदस्यों को जगाना पड़ता था व नौकरों को अपने अपने काम में लगाना पड़ता था।[4] वह भी घरेलू कामों में जल्दी से लग जाती थी, जल्दी से स्नान करके पति के साथ गार्हपत्याग्नि में प्रातः-आहुतियाँ देती थी। इसी प्रकार मध्याह्न व सायं आहुतियाँ प्रदान की जाती थीं।[5] उसका सर्वप्रथम पवित्र कर्तव्य गार्हपत्याग्नि की व्यवस्था करना था। गायों के दुहे जाने पर दूध लाया जाता था, जिसे वह अग्नि पर गरम करती थी। पश्चात् मंथन आदि के द्वारा वह मक्खन निकालती थी, तथा भोजन बनाती थी। भोजन इत्यादि के पश्चात् उसे बच्चों की देखभाल, नौकरों के काम की व्यवस्था करना तथा गाय आदि मवेशियों पर दृष्टि रखनी पड़ती थी।

ऋग्वेद[6] में सूर्या सावित्री के विवाह के वर्णन के अवसर पर स्त्री के गृहिणी पद का सुन्दर विवेचन किया गया है। उक्त प्रकरण में नवविवाहिता वधू को कहा गया है कि "अपने घर में प्रवेश करो, और गृहपत्नी (गृहिणी) बन कर सब पर शासन करो।"[7] "सन्तान

[1] ऋग्वेद ३।५३।६ "अपा. सोममस्तमिन्द्र प्र याहि कल्याणीर्जाया सुरण गृह ते।"

[2] ऋग्वेद १।१२४।७ "पत्नीव पूर्वहूतिं वावृधध्या उषासानक्ता पुरुधा विदाने। स्तरीनात्क व्युत वसाना सूर्यस्य श्रिया सुदृशी हिरण्यैः॥"

[3] ऋ० ४।५८।८ "अभि प्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्य स्मयमानासो अग्निम्।"

[4] ऋ० १।१२४।४

[5] ऋग्वेद १।१७३।२, ५।४३।१५, ८।१।२९, ८।१३।१३,

[6] १०।८५।१-४७,

[7] ऋग्वेद १०।८५।२५, "गृहान्गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथ मा वदासि॥,

द्वारा तुम्हें समृद्धि प्राप्त होवे तथा इस घर में गार्हपत्य के प्रति तुम सदैव जागरूक रहो।"[1] 'गार्हपत्याय जागृहि" शब्दों में स्त्री के गृहिणीपद से सम्बन्धित कर्तव्यों का उल्लेख है। गार्हपत्याग्नि पारिवारिक जीवन की विभिन्न प्रवृत्तियों का केन्द्र थी और गार्हपत्य शब्द में उन्हीं सब प्रवृत्तियों का समावेश हो जाता है। स्त्री को गृहिणी की हैसियत से गार्हपत्याग्नि से सम्बन्धित सब कार्य्यों का संचालन करना पड़ता था और पति के साथ सब धार्मिक कृत्यों व कर्तव्यों को पूरा करना पड़ता था। इस प्रकार स्त्री व पुरुष दोनों का स्थान बराबरी का हो जाता था। इसी मन्तव्य को उक्त प्रकरण के एक अन्य मन्त्र[2] में भी समझाया गया है। पति अपनी नव-विवाहिता पत्नी से कहता है—"भग अर्यमा, सविता आदि देवताओंने तुम्हें गार्हपत्य के लिये मुझे प्रदान किया है।" यहाँ भी 'गार्हपत्य' शब्द गृहिणी के धार्मिक आदि कर्तव्यों का द्योतक है। उक्त प्रकरण में आगे चलकर गृहिणी के गौरवपूर्ण पद का बहुत ही सुन्दर विवेचन किया गया है। नव-विवाहिता पत्नी को कहा गया है कि "हे मंगल प्रदान करने वाली पति-लोक में प्रवेश करो, द्विपद (मानव) व चतुष्पद (चौपाये) सब के लिये कल्याणकारी बनो।"[3] "इस घर में तुम अच्छे विचार धारण करने वाली तथा तेजयुक्त बनकर पशुओं के लिये कल्याणकारी बनो"।[4] संयुक्त परिवार प्रथा में नवविवाहिता पत्नी के गौरवपूर्ण गृहिणी-पद का भी सुन्दर विवेचन किया गया है। उपरोक्त प्रकरण में नवविवाहिता वधू से कहा गया है कि "अपने श्वशुर के लिये शासन करने वाली बनो, सास के लिये शासन करने वाली बनो, ननँद और देवरों के लिये भी शासन करनेवाली बनो।"[5] इन शब्दों में दर्शाया गया है

---

[1] ऋ० १०।२५।२७ : "इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन्गृहे गार्हपत्याय जागृहि।"

[2] ऋग्वेद १०।८५।३६ : "भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्य त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः।"

[3] ऋग्वेद १०।८५।४३;

[4] ऋग्वेद १०।८५।४४;

[5] ऋग्वेद १०।८५।४६: "सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव। ननान्दरि स [illegible] सम्र [illegible] धि [illegible]॥"

कि नवविवाहिता वधू अपने ससुराल में महारानी बन कर रहती थी व गार्हस्थ्य जीवन के संचालन-सूत्र अपने हाथ में रखती थी।

ऋग्वेद के उपरोक्त उद्धरणों में स्त्री के गृहिणीपद का सुन्दर विवेचन किया गया है। संयुक्त परिवार में रहते हुए भी परिवार में उसका वर्चस्व रहता था। सास, ससुर, ननँद आदि के रहते हुए भी गार्हस्थ्य जीवन की विभिन्न प्रवृत्तियों का सञ्चालन उसके हाथों में रहता था। अपने पति की सहधर्मिणी होकर वह समस्त धार्मिक कृत्यों का सम्पादन करती थी।

मातृपद

गृहिणी पद के अतिरिक्त परमात्मा ने स्त्री को मातृपद के योग्य भी बनाया है। माता शब्द पारिवारिक जीवन के लिये अमृत का भण्डार है। वह क्या है मानो परिवार के लिये त्याग, तप व प्रेम की त्रिवेणी ही है। माता व पुत्र का जो परस्पर प्रेम रहता है, उसीसे पारिवारिक जीवन अधिक सुखी बनता है। माता समाज-सेवा के ऊँचे से-ऊँचे आदर्शों की साक्षात् मूर्ति ही है। वह अपने लिये जीवित नहीं रहती, किन्तु अपने परिवार के लिये अपने पुत्रों के परिवार के लिये, अपने बच्चों के पालने पोसने में वह सब कष्टों को हँस हँस कर झेलती है। इस प्रकार मातृत्व का पद उसे पारिवारिक जीवन का केन्द्र बना देता है।

ऋग्वेदादि संहिता ग्रन्थों में कितने ही स्थलों पर स्त्री के मातृत्व पद का सुन्दर विवेचन किया गया है। ऋग्वेद में पारिवारिक सौख्य में वृद्धि करने वाले बालकों का उल्लेख आता है। उषा के वर्णन के अवसर पर कहा गया है कि "पुत्र जिस प्रकार माता के देदीप्यमान मुख की ओर आकर्षित होते हैं उसी प्रकार हम भी तुम्हारी ओर आकर्षित होते हैं।"[1] एक और स्थान पर आकाश में खेलवाड़ करते हुए बादलों की उपमा बालकों से दी गई है : "आकाश में स्थित बादल क्रीड़ा कर रहे हैं जिस प्रकार भव्य प्रासाद की छत पर सुन्दर बालक क्रीड़ा में मग्न रहते हैं"[2]। एक अन्य स्थल पर विश्वदेवाः की स्तुति में कहा गया है कि "जिस प्रकार पुत्र

---

[1] ऋग्वेद ७।८१।४ : "तस्यास्ते रत्नभाज ईमहे वय स्याम मातुर्न सूनव ॥"

[2] ऋग्वेद ७।५६।१६ "ते हर्म्येष्ठा शिशवो न शुभ्रा वत्सासो न प्रक्रीडिनः पयोधा" ॥

अपनी माता की गोद में आकर प्रेमपूर्वक बैठ जाते हैं, उसी प्रकार विश्वेदेवाः भी प्रेमपूर्वक यज्ञस्थली में आकर आसन पर बैठ जायँ।"[1]

ऋग्वेद के उपरोक्त उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि वैदिक युग में पारिवारिक जीवन में बालकों का स्थान महत्वपूर्ण था। माता व पुत्र के प्रेमपूर्ण पारस्परिक व्यवहार का जो उल्लेख किया गया है उससे स्पष्ट होता है कि स्त्री के मातृपद का स्थान भी महत्वपूर्ण था।

सूर्या-सावित्री के विवाह के प्रकरण में भी स्त्री के मातृपद का सुन्दर विवेचन किया गया है। पति अपनी नवविवाहित पत्नी के बारे में कहता है—"अग्नि ने मुझे यह पत्नी, पुत्र, धन आदि प्रदान किये हैं।"[2] उक्त प्रकरण में वर-वधू को सम्बोधित करके कहा गया है, "यहाँ पर सांसारिक वैभवों का उपभोग करो, अपने घर में अपने पुत्रों-पौत्रों आदि के साथ खेलते हुए व आनन्द मनाते हुए जीवन यापन करो।"[3] पति पुनः कहता है, "प्रजापति हमें सन्तान प्रदान करे व आजीवन हमें एक साथ रखे। अर्यमा ने यह कल्याणकारी पत्नी प्रदान की है।"[4] पत्नी को 'वीरसू' अर्थात् वीरसन्तान को जन्म देने वाली बनने के लिये कहा गया है।[5] पुनः इन्द्र से प्रार्थना की गई है—"हे इन्द्र, इस नवविवाहित पत्नी को अच्छे पुत्रवाली तथा सौभाग्यवाली बनाओ। इसे दस पुत्र प्रदान करो।"[6] इन उद्धरणों में स्त्री के मातृपद का सुन्दर विवेचन किया गया है। वैदिक युग में पुत्रप्राप्ति को महत्वपूर्ण

---

[1] ऋग्वेद ७।४३।३: आपुत्रासो न मातरं विभृत्राः सानौ देवासो बर्हिषः सदन्तु।"

[2] ऋग्वेद १०।८५।४१ : "रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम् ॥"

[3] ऋ० १०।८५।४२ : "इहैव स्त मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे।",

[4] ऋग्वेद १०।८५।४३;

[5] ऋ० १०।८५।४४;

[6] ऋ० १०।८५।४५: "इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु। दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि ॥"

समझा गया था। वैदिक साहित्य में, विशेषतः ऋग्वेद[1] में स्थान-स्थान पर पुत्रों का उल्लेख है तथा पुत्रप्राप्ति की आकांक्षा दर्शाई गई है। पितृपक्षप्रधान परिवारप्रथा के अनुसार पुत्रप्राप्ति को अत्यन्त ही आवश्यकीय माना जाता है। वैदिक आर्यों का समाज पितृपक्ष-प्रधानवादी सिद्धान्त पर ही आश्रित था। पुत्रप्राप्ति के महत्त्व के कारण स्त्री के मातृपद को भी महत्त्वपूर्ण समझा गया था। वैदिक साहित्य में पत्नी के लिये 'जाया' शब्द भी कितनी ही वार प्रयुक्त हुआ है। यह जाया शब्द स्त्री के मातृपद का ही द्योतक है।

सहचरी का पद

प्राचीनकाल में स्त्री को इन दो पदों के अतिरिक्त एक और पद प्राप्त था, और वह था पुरुष की सहचरी का। गृहिणी व माता के उत्तरदायित्व के कारण उसका जीवन नीरस न हो जावे तथा उसके पति का, जिसे परिवार के बाह्य जीवन की झंझटों में रातदिन रहना पड़ता था, जीवन भी नीरस न हो जावे इसलिये वह अपने पति की सहचरी बन जीवनसौख्य का आनन्द लेती थी। प्रकृति ने उसे जो सौन्दर्य व माधुर्य्य दिया है, उसे अपने प्रयत्नों से ललित-कला आदि में परिणत कर वह जीवन के दुःखों को भुलाने में समर्थ होती थी। उसका सौन्दर्य व माधुर्यपूर्ण प्रेम जो उसके अङ्ग अङ्ग से टपकता था, पति की दिन भर की चिन्ताओं व झंझटों को भस्मसात् करने में समर्थ होता था। पुरुष ऐसी सहचरी पाकर अपना दुःख आधा व सुख दुगुना कर लेता था। यह साहचर्य्य किसी एक दिशा में ही परिसीमित नहीं था, किन्तु इसका सम्बन्ध जीवन के प्रत्येक पहलू से था।

वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में स्त्री को पति की सहचरी का पद भी प्राप्त था। ऋग्वेदादि संहिताओं मे कितने ही स्थलों पर पत्नी के साहचर्य्य का उल्लेख आता है। वैदिक युग के दैनिक जीवन में धार्मिक कृत्यों का कितना महत्त्व था यह स्पष्ट है। गृहपति कोई भी धार्मिक कार्य पत्नी के साहचर्य्य के विना कर ही नहीं सकता था। ऋग्वेद के वैवाहिक मन्त्रों में स्पष्टतया कहा गया है कि वर वधू

[1] ७।१।११ १२, १९, २४, ७।४।१०; ७।२४।५, ८।१।१३

का पाणि-ग्रहण 'सौभगत्व' अर्थात् सुख, समृद्धि, आनन्दादियुक्त जीवन का उपभोग करने के लिये तथा 'गार्हपत्य' अर्थात् गृहस्थाश्रम के सब कर्तव्यों का निर्वाह साथ-साथ करने के लिये करना है। वहाँ यह भी इच्छा दर्शाई गई है कि दोनों का साहचर्य्य आजीवन बना रहे।[1] इस आजीवन साहचर्य्य का सुन्दर विवेचन इन शब्दों में किया गया है—"यहाँ (पतिगृह में) रह कर हम दोनों (पति पत्नी) एक साथ आजीवन सुख का उपभोग करते हुए पुत्रों व पौत्रों के साथ खेलें व आनन्द मनावें।"[2] अन्त में कहा गया है कि "विश्वेदेवाः हम दोनों (पति-पत्नी) को एक करें, हम दोनों के हृदयों को प्रीति से जोड़ दें।"[3]

वैदिक युग में यह माना गया था कि पारिवारिक जीवन का सौख्य व आनन्द पति-पत्नी के सौमनस्य पर ही आधारित है और वह सौमनस्य जीवन के प्रत्येक पहलू को प्रभावित करता है। ऋग्वेद[4] में पति-पत्नी के साहचर्य्य का उल्लेख करते हुए एक स्थान पर कहा गया है कि "जो पति-पत्नी सौमनस्य के साथ देवताओं को सोमरस प्रदान करते हैं वे पुत्रादि प्राप्त कर ऐश्वर्य्यशाली बन सम्पूर्ण जीवन का उपभोग करते हैं।"

विवाह-संस्कार

यद्यपि प्राचीन भारत के विवाह-संस्कार का विशद वर्णन गृह्यसूत्रों[5] में है, तथापि वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग में विवाह-संस्कार पूर्णतया विकसित हो गया था तथा उसका जो स्वरूप गृह्यसूत्रों में प्राप्त होता है, ठीक वही स्वरूप वैदिक युग में भी वर्तमान था। गृह्यसूत्रों ने विवाह-संस्कार के प्रकरण में जिन वेदमंत्रों[6] का उल्लेख किया है उनमें

---

[1] ऋग्वेद, १०।८५।३६: "गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः। भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः।"

[2] ऋग्वेद १०।८५।४२;

[3] ऋ० १०।८५।४७ : "समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ। स मातरिश्वा स धाता समु देष्ट्री दधातु नौ॥"

[4] ८।३१।५-९;

[5] आश्वलायन गृह्यसूत्र १।७।३-६, और आगे,-

[6] ऋग्वेद १०।८५।३६, ३९-४२, अथर्ववेद १४।१।४७-४८, ५०

प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सूत्रों में वर्णित संस्कार की सभी रस्मों का समावेश हो जाता है।

प्राचीन भारत के विवाह संस्कार का आलोचनात्मक अध्ययन करने से स्पष्ट हो जायगा कि किस प्रकार प्राचीन भारत में स्त्री की तीनों हैसियतों का आवश्यक ध्यान रखा गया था। स्त्री को विवाह के समय ही समझा दिया जाता था कि उसे विवाहित जीवन में केवल भोग विलास द्वारा इन्द्रियलोलुपता को ही तृप्त नहीं करना है, किन्तु गृहिणी, माता व अपने पति की सहचरी के उत्तरदायित्व को पूरा करना है। वह आदर्श गृहिणी, आदर्श माता व आदर्श सहचरी बनने में अपना गौरव समझती थी। गृहिणी के उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिये वह अपना अधिकांश समय घर की देखभाल में बिताती थी व उसे स्वर्ग तुल्य बनाती थी। उसे पुरुष के समान अधिकार प्राप्त करने की इच्छा नहीं होती थी, क्योंकि वह पहिले से ही ऐसी शिक्षा पाती थी, जिससे पुरुष व स्त्री के विभिन्न कार्यक्षेत्र भली भाँति समझ में आ सकें। इसी प्रकार वह माता व सहचरी की हैसियतों को पूरी तरह से निबाहती थी।

विवाह संस्कार की विभिन्न रस्मों पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो उसके अन्तर्निहित उदात्त सिद्धान्तों का स्पष्ट ज्ञान होता है। संस्कार की मुख्य रस्में इस प्रकार हैं—अग्नि परिणयन, अश्मारोहण, लाजा होम, सप्तपदी, गृहप्रवेश, ध्रुवदर्शन आदि। अग्नि परिणयन में वर वधू को तीन बार अग्नि व जल कलश की प्रदक्षिणा करवाता है, और वेदमन्त्रों का उच्चारण करता है। अश्मारोहण में अग्नि की प्रदक्षिणा करते समय प्रत्येक बार वर वधू के पैर को पत्थर पर रखता है व कहता है कि "पत्थर के समान तुम स्थिर बनो।" ("अश्मेव त्वं स्थिरा भव।")। लाजाहोम में वधू अपने भाई द्वारा दी गई लाई को अग्नि में डालती है। सप्तपदी विवाह संस्कार में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। वर वधू को पूर्वोत्तर दिशा में सात कदम ले जाता है व वेदमन्त्र पढ़ता जाता है। सप्तपदी के पश्चात् विवाह पक्का हो जाता है तथा वर-वधू आजन्म विवाह ग्रन्थि में बँध जाते हैं। इसी रस्म से 'साप्तपदीनं सख्यम्' प्रयोग आजीवन मैत्री के अर्थ में संस्कृत में प्रयुक्त होने लगा[1]। ये

[1] पाणिनि—अष्टाध्यायी ५।२।२२ 'साप्तपदीन सख्यम।"

सब रस्में वधू के घर पर होती थीं। इसके पश्चात् वर वधू को अपने घर ले जाता था, जहाँ पर पुनः कुछ रूढ़ियाँ सम्पादित की जाती थीं, जैसे गृह-प्रवेश, ध्रुवदर्शन आदि। गृहप्रवेश में वधू जब अपने नये घर में प्रवेश करती थी, तब उसे उसके भावी जीवन से सम्बन्धित कितनी ही महत्त्वपूर्ण बातें कही जाती थीं और स्त्री के गृहिणी, माता, सखी आदि के पदों से सम्बन्धित कर्तव्यों पर भी प्रकाश डाला जाता था। ध्रुवदर्शन में वर वधू को ध्रुव बताता था व वधू को यदि ध्रुव न भी दिखाई दे तो कहना पड़ता था कि उसे दिखाई दे रहा है। इस प्रकार विवाह-संस्कार सम्पादित होता था, जिसका उद्देश धर्म, अर्थ, काम आदि की प्राप्ति था।[1] विभिन्न रूढ़ियों के समय जो वेदमन्त्र पढ़े जाते थे उनमें स्त्री के गृहिणी माता व सहचरी पदों का स्पष्ट विवेचन था। वधू के मन पर वे सब भाव पहिले से ही अङ्कित कर दिये जाते थे जिससे नये जीवन में प्रवेश करने के पहिले वह अपने ऊपर आनेवाली जिम्मेवारियों को भली-भाँति समझ ले।

यह विवाह संस्कार स्त्री व पुरुष दोनों को आजीवन एक बन्धन में बाँध देता था, जिससे कि वे दोनों मिलकर समाज का एक घटक बन जावें। विवाह एक धार्मिक कृत्य था, जब कि जीवन की जिम्मेवारियों को सब के सामने सहर्ष स्वीकार किया जाता था। इससे कोई मुख नहीं मोड़ता था। इसीलिये भारत के पारिवारिक जीवन का पाया हमेशा मजबूत रहा।

स्त्री का सामाजिक जीवन

वेदकालीन समाज में स्त्री का सम्बन्ध केवल पारिवारिक जीवन से ही नहीं था, किन्तु सामाजिक जीवन में भी उसे अपना विकास करने का अवसर दिया जाता था। वैदिक युग में लड़कों के समान लड़कियों की शिक्षा की भी व्यवस्था थी। ब्रह्मचर्याश्रम पूरा करने के पश्चात् ही लड़की का विवाह युवा पति से होता था। स्त्री शिक्षा की समुचित व्यवस्था के कारण समाज में शिक्षित स्त्रियों की कमी नहीं थी। वेदकालीन स्त्रियां पारिवारिक उत्तरदायित्व का निर्वाह करती हुई सामाजिक जीवन में भी स्वतन्त्र रूप से भाग लेती थीं व समाज में समुचित स्थान प्राप्त करती थीं।

---

[1] ऋग्वेद १०।८५।३६; अथर्ववेद १४।१।५०; आश्वलायन गृह्यसूत्र १।७।३

वैदिक युग में स्त्रियाँ ऋषिपद को भी प्राप्त होती थीं, वे मंत्रद्रष्ट्रियाँ थीं, यज्ञ करती थीं, तथा मंत्रों द्वारा देवताओं की स्तुति करती थीं। इस प्रकार समाज में उनको पूजनीय माना जाता था। वेदकालीन सुशिक्षित व सामाजिक जीवन में उच्च पद प्राप्त करनेवाली स्त्रियों में घोषा काक्षीवती[1] लोपामुद्रा[2], ममता[3], अपाला[4], सूर्या[5], इन्द्राणी[6], शची[7], सार्पराज्ञी[8], विश्ववारा[9] आदि महत्त्वपूर्ण थीं। विश्ववारा ने अग्नि की स्तुति में न केवल मंत्र ही बनाये बल्कि यज्ञ के अवसर पर ऋत्विक् का कार्य्य भी किया[10]। अपाला ने इन्द्र की स्तुति में मंत्रों की रचना की व उसे सोमरस प्रदान किया। कभी कभी स्त्रियाँ अपने पति के साथ युद्ध में भी जाती थीं। खेल नृप की रानी विश्पला का पैर युद्ध में कट गया था। अश्विनीकुमार की कृपा से उसने लोहे के पैर लगवा लिये थे।[11] मुद्गल की पत्नी मुद्गलानी या इन्द्रसेना ने डाकुओं का पीछा करने में अपने पति की सहायता की थी। वे डाकू उनकी गायें चुराकर भाग रहे थे। मुद्गलानी ने अपने पति के धनुष्बाण लेकर डाकुओं से युद्ध किया, उनको हराकर अपनी गायें वापिस लीं[12]। स्त्रियाँ सेना में भी भरती होती थीं, क्योंकि ऋग्वेद[13] में स्त्री योद्धाओं का भी उल्लेख आता है। इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग के सामाजिक जीवन में स्त्रियों का महत्त्वपूर्ण स्थान

---

[1] ऋ० १।११७, १०।३९।४०,
[2] ऋ० १।१७९,
[3] ऋ० ६।१०।२,
[4] ऋ० ८।९१,
[5] ऋ० १०।८५,
[6] ऋ० १०।१४५,
[7] ऋ० १०।१५९'
[8] ऋ० १०।१८९,
[9] ऋ० ५।२८
[10] ऋग्वेद ५।२८।१
[11] ऋग्वेद १।११२।१०, १।११६।१५, १।११७।११, १।११८।८, १०।३९।८
[12] ऋग्वेद १०।१०२,
[13] ५।३।०।९, 'स्त्रियो हि दास आयुधानि चक्रे किं मा करन्नबला अस्य सेनाः। अन्तर्ह्यख्यदुभे अस्य धेने अथोप प्रैद्युधये दस्युमिन्द्र ॥"

था व पुरुषों के समान उन्हें भी शारीरिक, बौद्धिक व आध्यात्मिक विकास के अवसर प्रदान किये जाते थे जिससे वे आत्मविकास के मार्ग में पुरुषों से किसी प्रकार पीछे न रहें।

सामाजिक प्रथाएँ

वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में स्त्रियों से सम्बन्धित कितनी ही प्रथाएँ वर्तमान थीं, जैसे युवाविवाह, एकपत्नीविवाह, बहुपत्नीविवाह, विधवाविवाह, नियोग आदि। इन प्रथाओं पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट होता है कि समाज में स्त्री का स्थान कितना महत्त्वपूर्ण था।

युवाविवाह

वैदिक साहित्य में विवाह आदि से सम्बन्धित जितने भी उल्लेख आते हैं उन पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि उस युग में बालविवाह की प्रथा नहीं थी। विद्याभ्यास पूर्ण होने पर युवावस्था में युवक व युवती का विवाह होता था जब कि वे दोनों अपने-अपने उत्तरदायित्व को भली भाँति समझते थे। आश्रमव्यवस्था के अनुसार विवाह के पूर्व प्रत्येक को ब्रह्मचर्य्याश्रम में रह कर विद्याभ्यास करना पड़ता था। कम से कम पचीस वर्ष की आयु तक तो ब्रह्मचर्य्याश्रम में रहना ही पड़ता था। अतएव पचीस वर्ष की अवस्था के पूर्व किसी का विवाह नहीं होता था। स्त्रियों के लिये भी ब्रह्मचर्य्य-जीवन आवश्यकीय था। परिपक्व अवस्था के पूर्व लड़की का विवाह कदापि नहीं होता था, उसे भावी पति के चुनने में पूरी स्वतंत्रता थी; किन्तु सगोत्र विवाह पूर्णतया वर्ज्य थे।[1]

ऋग्वेद[2] में सूर्या व सोम के विवाह का जो वर्णन है, उसको पढ़ने से ज्ञात होता है कि विवाह संस्कार युवावस्था में ही होता था। उक्त वर्णन के बहुत से वेदमन्त्र आज भी विवाह संस्कार के अवसर पर उच्चारित किये जाते हैं। उक्त प्रकरण में यह दर्शाया गया है कि विवाह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके सन्तानोत्पत्ति, तथा यज्ञादि धार्मिक कृत्यों के सम्पादन के लिये किया जाता

[1] ए० सी० दास—ऋग्वेदिक इण्डिया, पृ० २७१

[2] १०।८५।

था। इसी भाव को 'गार्हपत्य'[1] शब्द से समझाया गया है। इसी भाव को 'शतपथ ब्राह्मण'[2] में भी समझाया गया है, जहाँ कहा गया है कि जाया या पत्नी पति की आत्मा का अर्ध भाग है। विवाह के पश्चात् वह पूर्ण होता है। इसके अतिरिक्त सप्तपदी, गृहप्रवेश आदि के अवसर पर जो वेदमंत्र पढ़े जाते थे, जिनमें उसे अपने नये घर में शासिका बन के रहने की प्रेरणा दी गई है, उनसे स्पष्ट होता है कि नवविवाहित वरवधू युवावस्था के ही रहते थे।

वैदिक युग में वर्णव्यवस्था ने अपना विकृतरूप धारण नहीं किया था। चारों वर्णों में विवाह सम्बन्ध हुआ करते थे। ऋग्वेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि युवक व युवतियाँ परस्पर प्रेम व सौन्दर्य से आकर्षित होकर विवाह बन्धन में बँधने का प्रयत्न करते थे। युवती को बहुत से विवाहेच्छुकों में से किसी एक को चुनने की पूरी स्वतन्त्रता रहती थी।[3] युवकों व युवतियों में कितना ही प्रेमालाप आदि होता था।[4] कभी-कभी प्रेमियों को निराश भी होना पड़ता था, जैसा कि उर्वशी के प्रति पुरुरवा के निराशापूर्ण वचनों से स्पष्ट होता है।[5] ऋग्वेद[6] में कहीं-कहीं सुन्दर युवतियों के हृदय पर अधिकार करने के लिये प्रार्थना की गई है। श्यावाश्व ऋषि की प्रेम-कहानी का वर्णन ऋग्वेद[7] में आता है, जिसमें कहा गया है कि श्यावाश्व राजा रथवीति की राजकुमारी पर मोहित हो गये थे, किन्तु राजकुमारी को न पाकर बहुत निराश होकर इधर-उधर भटकने लगे। वे राजा तरन्त व उनकी रानी शशीयसी तथा राजा पुरुमीळ्ह से घोड़े, सोना, चांदी आदि दान में पाकर हर्षित होकर घर लौटने लगे। हर्षातिरेक से मरुत देवता की स्तुति में उन्होंने मन्त्र कह डाले। मरुत ने उन्हें ऋषि की पदवी प्रदान की। इस पर श्यावाश्व ऋषि ने रात्रि की स्तुति की व उसको

---

[1] ऋग्वेद १०।८५।३६

[2] ५।२।१

[3] ऋ० १०।२७।१२

[4] ऋग्वेद ७।६२।९, ९।५६।३, १०।३०।६

[5] ऋग्वेद १०।९५।१५, "न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता।"

[6] ऋ० ९।६७।१०,११,१२,

[7] ५।६१

कहा कि मरुत की स्तुति राजा रथवीति तक पहुँचा दो तथा उसे कहो कि श्यावाश्व अभी तक राजकुमारी को भूला नहीं है। राजा रथवीति व उनकी रानी को जब पता लगा कि श्यावाश्व मरुत देवता की कृपा से ऋषि हो गया है, तब प्रसन्न होकर उन्होंने अपनी राजकुमारी का विवाह श्यावाश्व के साथ कर दिया।

राजा पुरुमित्र की कन्या शुन्ध्यु या कमद्यु के विमद ऋषि से विवाह का उल्लेख है।[1] सायणाचार्य ने ऋग्वेद—प्रथम मण्डल के ११६ वें सूक्त के प्रथम मन्त्र[2] का भाष्य करते हुए उपरोक्त विवाह का वर्णन किया है। कमद्यु ने विमद को स्वयंवर-सभा में पति चुना। ज्यों ही विमद अपनी नयी पत्नी के साथ घर वापिस जा रहा था, त्यों ही मार्ग में स्वयंवर में आये हुए अन्य राजाओं ने मिल कर उस पर आक्रमण किया। युद्ध में अश्विनीकुमार देवताओं ने विमद को सहायता दी। वधू को अपने रथ में बैठा कर उसके पति के घर पहुँचा दिया गया। घोषा, जो कि राजकुमारी थी व ऋग्वेद के कितने ही मन्त्रों की द्रष्ट्री[3] है, कुष्ठ रोग से पीड़ित थी। इसलिये किसी ने उससे विवाह नहीं किया व वह प्रौढ़ावस्था की होने लगी। अश्विनीकुमार देवताओं की कृपा से उसका रोग दूर हो गया व उसने पुनः युवावस्था प्राप्त की। ऋषि के रूप में उसकी कीर्ति फैलने लगी व एक ऋषि के साथ ही उसका विवाह भी हो गया। उसके पुत्र सुहस्त व भृगु भी ऋषिपद को प्राप्त हुए।[4] घोषा ने अश्विनीकुमारों के उपकार को इन शब्दों में दर्शाया है—"हे अश्विनीकुमारो, मैं घोषा हर प्रकार से सौभाग्यवती हो गई। मेरे विवाह के लिये वर भी प्राप्त हो गया। तुम्हारी वृष्टि से अनाज भी उत्पन्न हुआ है।"[5] राजा ययाति ने, जिसका उल्लेख ऋग्वेद[6] में आता है, शुक्राचार्य की कन्या देवयानी से विवाह किया था। अङ्गिरस ऋषि की

---

[1] ऋग्वेद १०।३९।७ : "युवं रथेन विमदाय शुन्ध्युवं न्यूहथुः पुरुमित्रस्य योषणाम्।"

[2] "यावर्भगाय विमदाय जाया सेनाजुवा न्यूहतू रथेन॥"

[3] ऋग्वेद १०।३९, १०।४०

[4] ऋग्वेद १।१२०।५; १०।४१।१-३

[5] ऋग्वेद १०।४०।९,

[6] १०।६३।१

कन्या शश्वती ने असङ्ग राजा से विवाह किया।[1] कक्षीवान्, जो कि ऋग्वेद के कितने ही मन्त्रों का द्रष्टा[2] है, तथा जो ऋग्वेद में कितनी ही बार उल्लिखित है, उशिज् नाम की दासी का पुत्र था तथा उसने वृचया से विवाह किया था।[3]

उपरोक्त उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि वैदिक काल में विभिन्न वर्णों में परस्पर विवाह सम्बन्ध होते थे। उच्च कुल का नवयुवक दासादि नीच कुल की लड़की से भी विवाह कर सकता था। नीच कुल का युवक उच्च कुल की लड़की से भी कभी कभी विवाह कर लेता था। बाद में ऐसे विवाहों को प्रतिलोम विवाह कह कर उनका तीव्र विरोध किया गया व ऐसे विवाह की सन्तान को चाण्डाल आदि असभ्य व जंगली जातियों से सम्बन्धित किया गया।

एकपत्नी व बहुपत्नी विवाह

वेदकालीन समाज में साधारणतया एकपत्नी विवाह आदर्श माना जाता था व कदाचित् सामाजिक नियम के अनुसार भी था। ऋग्वेद के वैवाहिक[4] मन्त्रों में नव विवाहिता वधू को अपने नये घर में प्रवेश कर वहाँ शासिका बन कर तथा सास ससुर, ननद देवर आदि के प्रति सम्राज्ञी बन कर रहने के लिये कहा गया है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में दम्पती (पति व पत्नी) शब्द कितने ही स्थानों पर उल्लिखित है।[5] ऋग्वेद में कहीं कहीं बहुपत्नी विवाह का भी उल्लेख आता है। ऋग्वेद में एक स्थान पर सौत पर अधिकार प्राप्त करने के लिये कुछ मन्त्र दिये गये हैं[6], जिनमें अपनी सौत पर अधिकार प्राप्त करने के लिये एक पत्नी कहती है "इस ओषधिलता

---

[1] ऋग्वेद ८।१।३२-३४,

[2] ऋ० ११८।१, १५१।१३, ११११२।११, ४।२६।१, ८।९।१०, ९।७४।८, १०।२५।१०, १०।६१।६,

[3] ऋ० ११९५।१३,

[4] ऋग्वेद १०।८५।२६ 'गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि ॥", १०।८५।४६ 'सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव। ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु ॥",

[5] ऋग्वेद ५।३।२, ८।३१।५, १०।६८।२

[6] १०।१४५। १-६, अथर्व ३।१८।१-६

को खोदती हूँ जिसके द्वारा सपत्नी को सताया जा सकता है तथा पति पर अधिकार प्राप्त किया जा सकता है। हे उत्तानपर्ण सुन्दर लता, मेरी सौत को यहाँ से दूर हटाओ, मेरे पति पर मेरा पूर्ण अधिकार स्थापित करो। मैं तुम्हारी कृपा से सर्वश्रेष्ठ हो जाऊँ व मेरी सौत निकृष्ट से निकृष्ट हो जाय। हे स्वामिन्! यह महान् शक्तिशाली औषधि मेरे द्वारा तुम्हारे सिरहाने स्थापित की गई है। मैंने शक्तिशाली तकिया तुम्हारे सिरहाने को रखा है।"[1] इसी प्रकार एक अन्य स्थान[2] में वर्णन आता है कि एक पत्नी अपनी सपत्नी को पराजित कर सब पर अपना वर्चस्व स्थापित करती है। ऋग्वेद[3] में एक और स्थान में सपत्नी द्वारा दिये गये कष्टों का उल्लेख है। एक स्थान पर उल्लेख आता है कि अश्विनीकुमार देवताओं ने च्यवन को बहुत सी कन्याओं का पति बनाया।[3] इसी प्रकार तैत्तिरीय संहिता[4], ऐतरेय ब्राह्मण[5], शतपथ ब्राह्मण[6], उपनिषद्[7] आदि में बहुपत्नी-विवाह प्रथा का स्पष्ट उल्लेख है। इन उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि वेदकालीन समाज में बहुपत्नी प्रथा भी वर्तमान थी।

विधवा-विवाह

साधारणतया वैदिक युग में युवा-विवाह की प्रथा प्रचलित थी, अतएव तत्कालीन समाज में विधवा-विवाह का प्रश्न महत्त्वपूर्ण नहीं था। फिर भी वैदिक साहित्य से विधवा-विवाह की प्रथा के उल्लेख प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद[8] में एक स्थान पर एक विधवा पत्नी से कहा गया है कि "हे नारी इस मृत पति को छोड़ कर इस जीवित संसार में आओ। तुमसे विवाहेच्छुक जो तुम्हारा दूसरा भावी पति है

[1] ऋग्वेद १०।१४५।५-६;

[2] १।१०५।८;

[3] ऋग्वेद १०।११६।१०;

[4] ६।५।१।४; ६।६।४।३

[5] १२।११;

[6] १२।४।१।९;

[7] बृहदारण्यक० ४।५।१-२; २।४।१;

[8] १०।१८।८; "उदीर्ष्वं नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि। हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ॥"

उसके पत्नीत्व को प्राप्त होओ।" एक और स्थान[1] में अश्विनीकुमार देवताओं को सम्बोधित करके कहा गया है कि "विधवा जिस प्रकार देवर (द्वितीय वर) के साथ रहती है, पुरुष स्त्री के साथ रहता है, इस प्रकार तुम दोनों किसके साथ रहे?" यास्ककृत निरुक्त[2] में 'देवर' शब्द का अर्थ द्वितीय वर किया गया है। इन उल्लेखों में हस्तग्राभ, दिधिषु व देवर शब्द पुनर्विवाहित विधवा के दूसरे पति के सूचक हैं। अथर्ववेद[3] में भी एक स्थान पर विधवा-विवाह का स्पष्ट उल्लेख आता है—"जब स्त्री एक पति के पश्चात् दूसरे पति को प्राप्त होती है और वे दोनों पञ्चौदन अग्नि में डालते हैं तो उनका वियोग नहीं होता। यदि दूसरा पति अग्नि में अज पञ्चौदन डालता है तो वह अपनी पुनर्विवाहित पत्नी के साथ समान लोक में रहता है।" मनु के अनुसार वेन राजा ने सब विधवाओं का जबरदस्ती पुनर्विवाह करवाया। इस वेन का उल्लेख ऋग्वेद[4] में आता है जहाँ उसे दानी के रूप में चित्रित किया गया है। राजा पृथी (पृथु) का उल्लेख भी ऋग्वेद[5] में आता है जहाँ उसे वैन्य भी कहा गया है। इस उल्लेख से भी विधवा-विवाह के प्रचलन का अस्तित्व सिद्ध होता है।[6]

नियोग

प्राचीन काल में सन्तान-प्राप्ति को बहुत महत्त्व दिया गया था। किसी भी जाति की शैशव या युवावस्था में संख्या-वृद्धि एक विशेष स्थान रखती है। यही कारण है कि वैदिक काल में प्रत्येक भारतीय पुत्र-प्राप्ति की कामना रखता था[7]। जिसे सन्तान न हो उसका जीवन

---

[1] १०।४०।२ : "को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ।",

[2] ३।३।१५ : "विधवेव देवर देवर कस्माद्द्वितीयो वर उच्यते॥",

[3] ९।५।२७, २८, "या पूर्वं पतिं वित्त्वाथान्यं विन्दतेपरम्। पञ्चौदनं च तावज ददातो न वि योषतः। समानलोको भवति पुनर्भुवापरः पतिः। यो ज पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिष ददाति॥"

[4] १०।९३।१४:

[5] १।११२।१५

[6] ऋ० ८।९।१०,

[7] ऋ० १०।८५।४१, ४२

निरर्थक समझा जाता था। यदि किसी निःसन्तान स्त्री का पति मर जाता या सन्तानोत्पत्ति के लिये असमर्थ बन जाता तो उसे अधिकार था कि किसी विद्वान् या जितेन्द्रिय से नियोग कर वह सन्तान प्राप्त कर ले। अतएव नियोग का अर्थ होता है—किसी विधवा या निःसन्तान पत्नी को किसी पूर्व नियोजित व्यक्ति से पुत्रप्राप्ति के लिये नियुक्त करना। कुछ विद्वानों के मतानुसार ऋग्वेद में भी नियोग का उल्लेख है[1]। पुराणों की सहायता से ज्ञात होता है कि ऋग्वेद के महत्त्वपूर्ण मंत्रद्रष्टा ऋषि दीर्घतमस् कक्षीवत् आदि नियोग की सन्तान थे। नियोग द्वारा उत्पन्न पुत्र क्षेत्रज पुत्र कहलाता था, जिसकी गणना प्राचीन काल में बारह प्रकार के पुत्रों में होती थी। यह प्रथा प्राचीनकाल में वर्तमान थी, किन्तु धीरे-धीरे यह अप्रिय होती गई व इसका लोप हो गया।

बहुपतिविवाह प्रथा

कुछ विद्वानों का मत है कि वैदिक युग में बहुपतिविवाह प्रथा भी वर्तमान थी। ऋग्वेद[2] में एक स्थल पर कहा गया है कि एक स्त्री के साथ दो पुरुष रहते थे। कदाचित् वह स्त्री वेश्या रही हो। इसी प्रकार एक और उल्लेख[3] आता है, जिसमें कहा गया है कि मरुत् देवताओं की रोदसी नाम की एक ही पत्नी थी, जो सब पतियों से प्रेम करती थी। किन्तु रोदसी का अर्थ यहाँ बिजली होता है तथा उक्त वर्णन आलंकारिक भाषा में किया गया है। इन उल्लेखों के सहारे यह नहीं कहा जा सकता कि वैदिक युग में बहुपति प्रथा वर्तमान थी। भारतीय आर्यों की सामाजिक व्यवस्था पितृपक्षप्रधान परिवार के सिद्धान्त पर आश्रित थी, अतएव उसमें बहुपतिविवाह प्रथा के लिये कोई स्थान नहीं था। इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्य में इस प्रथा के सम्बन्ध में कोई निश्चित प्रमाण प्राप्त नहीं होता। कुछ जंगली जातियों में कदाचित् यह प्रथा रही हो।

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदकालीन समाज में स्त्री का स्थान महत्त्वपूर्ण था। निसर्ग ने उसे जो शक्तियाँ व

[1] १०।१८।७–८; १०।४०।२

[2] ८।२९।८;

[3] ऋग्वेद १।१६७।४,५,६

प्रवृत्तियाँ दी हैं उन्हीं के अनुसार उसके कर्तव्य निश्चित किये गये थे। वह सामाजिक विकास में अपना हाथ बटाती थी। गृहिणी, माता व पति की सहचरी के रूप में वह पारिवारिक जीवन को नियमित व अनुशासित रखती थी तथा परिवार के सदस्यों को अपने-अपने कर्तव्यों का निर्वाह करने में प्रेरणा देती थी। साथ ही अपने बौद्धिक व आत्मिक विकास द्वारा समाज का कल्याण करती थी। वैदिक युग में स्थापित स्त्रियों के कर्तव्यों व उत्तरदायित्व व मर्यादा की परम्परा वैदिक काल के पश्चात् भी कितने ही समय तक भारत के सामाजिक जीवन की विशेषता रही है।

8

शूद्रों का स्थान

वेदकालीन सामाजिक उदारता के स्पष्ट दर्शन हमें शूद्रों को समाज में जो स्थान दिया गया था उसमें होते हैं। जाति व रंग आदि के भेदों से सम्बन्धित प्रश्नों ने आज भी पाश्चात्य जगत् के लिये विकट सामाजिक समस्या का रूप धारण किया है, किन्तु वैदिक युग के आर्यों ने मानवता के सिद्धान्त को अपनाकर जाति, रंग आदि के भेदों से ऊपर उठकर असभ्य जातियों को संस्कृति का पाठ पढ़ा कर अपने समाज में स्थान दिया। प्राचीन भारत की वर्ण-व्यवस्था का प्रारम्भ यहीं से होता है।

शूद्र का उल्लेख ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त[1] में आता है, जहाँ कहा गया है कि वह समाजरूपी पुरुष के पैर से उत्पन्न हुआ है। इस आलङ्कारिक वर्णन का तात्पर्य है कि शूद्रों को समाज में उच्चवर्ग के लोगों की सेवा आदि का काम करना पड़ता था। शूद्र के अतिरिक्त दास व दस्यु भी ऋग्वेद में कितनी ही बार उल्लिखित हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि शूद्र, दस्यु, दास आदि अनार्य व असभ्य आदिम जातियाँ थीं, जिनसे आर्यों ने पहिले युद्ध किया और फिर उन्हें पराजित करके धीरे-धीरे अपने समाज में मिला लिया। ऋग्वेद

[1] ऋग्वेद १०।९०।१२

के पुरुषसूक्त में शूद्र का जो उल्लेख है उससे उन्हीं आदिम जाति के लोगों का तात्पर्य है, जिन्होंने आर्यों की सामाजिक व्यवस्था में रहना स्वीकार किया था। उनके साथ समाज में अच्छा व्यवहार किया जाता था यह अथर्ववेद के उन वचनों से सिद्ध होता है जिनमें कहा गया है कि प्रत्येक को इस प्रकार का व्यवहार करना चाहिये, जिससे वह आर्यो व शूद्रों दोनों में प्रिय बन सके[1]।

वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि वैदिक आर्यो ने अथर्ववेद के उपरोक्त वचनों का पूर्णतया पालन किया व शूद्रों को समाज में नागरिकता के अधिकार देकर उन्हें आत्मविकास का पूरा अवसर प्रदान किया। शूद्रों में बौद्धिक विकास व शिक्षा की कमी के कारण उन्हें साधारणतया समाज की सेवा तथा निम्न कोटि के कार्य करने पड़ते थे। किन्तु आत्मोन्नति का मार्ग उनके लिये पूर्णतया खुला था। इस मन्तव्य की पुष्टि में यजुर्वेद के वे मंत्र[2] दिये जा सकते हैं, जिनमें कहा गया है कि "वेद की कल्याणकारी वाणी मनुष्यमात्र के लिये कही गई है, वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र या अरण आदि कोई भी जाति के हों।" इससे स्पष्ट है कि शूद्रों को भी वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त था। यही कारण है कि दासीपुत्र कवष ऐलूष, कक्षीवत् आदि शूद्र रहते हुए भी ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों के द्रष्टा बन सके। यजुर्वेद के एक और मंत्र[3] से शूद्र के आत्मोन्नति के प्रयासों का पता लगता है। उस मंत्र में ब्राह्मण को ब्रह्म से, राजन्य या क्षत्रिय को क्षत्र से, वैश्य को मरुतों से और शूद्र को तप से सम्बन्धित किया गया है। असभ्य जातियों को सभ्य बनाने के लिये कितना तप अर्थात् कठिन परिश्रम करना पड़ता है यह स्पष्ट ही है। इसी सिद्धान्त के अनुसार शूद्रों ने भी, जब उन्हें आर्यों ने अपने समाज में समुचित स्थान दिया, तप अर्थात् कठिन परिश्रम द्वारा अपना विकास प्रारंभ किया होगा। इसी तप के परिणाम-स्वरूप उनमें से कुछ आत्मविकास की चरम सीमा तक

---

[1] अथर्ववेद १९।६२।१

[2] यजुर्वेद २६।२ 'यथेमां वाच कल्याणीमावदानि जनेभ्य। ब्रह्मराजन्याभ्या१७शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय॥"

[3] यजुर्वेद ३०।५ "ब्रह्मणे ब्राह्मण क्षत्राय राजन्य मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रं॥'

भी पहुँच सके। बाद के धर्मसूत्र, स्मृति आदि साहित्य से ज्ञात होता है कि शूद्रों के लिये शिल्पवृत्ति व दास्यकर्म निहित था। आर्यों के समाज में प्रवेश पाते ही शूद्रों ने दास्यकर्म द्वारा अपनी जीविका का उपार्जन किया होगा, यही एक मार्ग उनके लिये खुला होगा। किन्तु धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों वे प्रगति करने लगे, त्यों त्यों उन्हें जीविका-निर्वाह के अन्य साधन-स्रोत भी प्राप्त होने लगे। यजुर्वेद[1] में जिन विभिन्न व्यवसाय व उद्योगधंधों का उल्लेख है उनमें से बहुतों को शूद्रों ने अवश्य ही अपनाया होगा। सूत[2], शैलूष[3], रथकार तक्षा[4], कौलाल[5], कर्मार[6], इषुकार[7], धनुष्कार, ज्याकार[8], रज्जुसर्ज[9], गोपाल, अविपाल[10], अजपाल[11], सुराकार[12], ग्वालिन आदि विभिन्न व्यवसाय व उद्योगधंधों के प्रतिनिधि शूद्रवर्ण में से ही रहे होंगे। वैदिक युग के पश्चात् ये सब कार्य शूद्रों द्वारा किये जाते थे। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग से ही शूद्रों ने आर्यों के समाज में प्रवेश कर विभिन्न व्यवसायों को अपनाया व समाज की आर्थिक व्यवस्था में समुचित स्थान प्राप्त किया।

सामाजिक दृष्टि से भी शूद्रों को धीरे-धीरे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होने लगा। दस्यु, दास, शूद्र आदि भारत के आदिम निवासी धीरे-धीरे आर्यों द्वारा अपने समाज में आत्मसात् किये जाने लगे। आर्यों ने उनके साथ खराब व्यवहार नहीं किया, उनकी योग्यता के अनुसार उन्हें समाज में समुचित स्थान दिया। इसका परिणाम यह हुआ

---

[1] ३०।६-७,११,१७,२१;

[2] नाचने वाला,

[3] गाने वाला,

[4] मकान बनाने वाला कारीगर,

[5] कुम्हार,

[6] लुहार,

[7] बाण बनाने वाला,

[8] धनुष की रस्सी बनाने वाला,

[9] रस्सी बनाने वाला,

[10] भेड़ पालने वाला;

[11] बकरी पालने वाला,

[12] शराब बनाने वाला,

कि वे समाज के आवश्यकीय अङ्ग समझे जाने लगे। इसी तथ्य को ऋग्वेद[1] के पुरुषसूक्त में समझाया गया है, जहाँ आलंकारिक भाषा में शूद्र को समाजरूपी पुरुष के पैरों से सम्बन्धित किया गया है। वैदिक समाज मे विभिन्न वर्णो के लोग स्वतंत्रतापूर्वक आपस में रोटी-बेटी व्यवहार किया करते थे। शूद्र अस्पृश्य नहीं समझे जाते थे और न घृणा के पात्र ही माने जाते थे। शतपथ[2] ब्राह्मण में लिखा है कि ब्राह्मण 'ओउम्' से, क्षत्रिय 'भू' से, वैश्य 'भुव' से और शूद्र 'स्व' से उत्पन्न हुए हैं। इससे सिद्ध होता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य के समान शूद्र भी समाज का एक अङ्ग माना जाता था, उसे हेय नहीं समझा जाता था। अनुलोम व प्रतिलोम विवाह, जिनका स्पष्ट उल्लेख धर्म सूत्रों में आता है, वैदिक युग से ही प्रारम्भ हो गये थे। राजा के राज्याभिषेक के अवसर पर जिन नौ रत्नियों की आवश्यकता होती थी उनमें शूद्रों का भी स्थान था[3]। इससे शूद्रों के धार्मिक तथा राजनैतिक अधिकार पर प्रकाश पड़ता है।

वैदिक काल के पश्चात् भी शूद्रों को समाज में अच्छी दृष्टि से देखा जाता था। उच्च वर्ण के लोग उनसे घृणा नहीं करते थे। प्रतिलोम विवाह (नीच वर्ण का पति व ऊँच वर्ण की स्त्री) तथा अनुलोम विवाह (ऊँच वर्ण का पति व नीच वर्ण की स्त्री) भी समाज मे प्रचलित थे। प्रतिलोम विवाह के उल्लेख से स्पष्ट होता है कि शूद्र ब्राह्मणी से भी विवाह कर सकता था। ऐतरेय ब्राह्मण[4] से हमें पता चलता है कि कवष दासीपुत्र होते हुए भी समाज में उच्च स्थान पा सका तथा ऋग्वेद का मन्त्रद्रष्टा बन सका।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि आर्यों ने जिन आदिम निवासियों से प्रारंभ में युद्ध किया था उन्हीं को बाद में अपने समाज में स्थान देकर उन्हें अपने सांस्कृतिक विकास का हिस्सेदार बनाया। रंगभेद, भाषाभेद आदि से ऊपर उठ कर उन्होंने उन शूद्रों को अपने सामाजिक जीवन का एक घटक मानकर उन्हें आत्मसात् कर लिया। वैदिक आर्यों के सांस्कृतिक विकास का यही मूल मंत्र है।

---

[1] १०।९०।१२,

[2] ५।४।६।९

[3] तैत्तिरीय संहिता १।८।९।१-२, तैत्तिरीय ब्राह्मण १।७।३, शतपथ ब्राह्मण ५।३।१

[4] २।१९, कौषीतकी ब्राह्मण १२।३

५

उपसंहार

वेदकालीन सामाजिक उदारता के बारे में ऊपर जो कुछ लिखा है उससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत की सामाजिक व्यवस्था बहुत उदार थी। इस उदार मनोवृत्ति का पता हमको विवाह, नियोग आदि सामाजिक प्रथाओं से चलता है। प्राचीन काल में खान-पान आदि पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था। मन्वादि स्मृतियों[1] में उल्लिखित प्रतिलोम-अनुलोम विवाह, आठ प्रकार[2] के विवाह, बारह प्रकार के पुत्र[3] आदि को समाज में मान्यता प्राप्त होना स्पष्टतया सिद्ध करता है कि प्राचीन भारत की सामाजिक व्यवस्था उदार सिद्धान्तों पर आश्रित थी। यद्यपि मन्वादि स्मृतियाँ वेदों के बहुत पश्चात् की हैं, फिर भी यह कहा जा सकता है कि उनमें वर्णित सामाजिक प्रथाएँ व रूढ़ियाँ बहुत प्राचीन हैं व उन्हें वेदकाल से भी सम्बन्धित किया जा सकता है।

ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस व पैशाच आदि आठ प्रकार के विवाह प्राचीन भारतीय समाज में प्रचलित थे[4]। किसी श्रुतिशीलवान् को स्वयं बुलाकर उससे कन्या का विवाह करना 'ब्राह्म विवाह' कहलाता था। यज्ञ करने वाले ऋत्विक् को कन्या देना 'दैव विवाह' था। एक या दो गो-मिथुन वर से लेकर उसे कन्या देना 'आर्ष विवाह' कहाता था। 'दोनों एक साथ धर्माचरण करो' इन वचनों को कह कर कन्या का दिया जाना 'प्राजापत्य विवाह' कहाता था। कन्या व उसके सम्बन्धियों को यथाशक्ति धन देकर अपनी स्वतन्त्र इच्छा से जो कन्या प्राप्त की जाती थी उसे 'आसुर विवाह' कहते थे। ऋग्वेद के वैवाहिक मंत्रों को आलोचनात्मक दृष्टि से पढ़ने से तथा अन्य उल्लेखों पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि ब्राह्म, दैव, आर्ष व प्राजापत्य विवाह उच्च वर्णों में प्रचलित थे। ऋग्वेद

---

[1] मनुस्मृति १०।११; याज्ञवल्क्यस्मृति, आचार–अध्याय, ९३–९५;

[2] मनुस्मृति ३।२०–२४;

[3] मनुस्मृति ९।१५८–१६०, १६६–१७८

[4] मनुस्मृति ३।२१ : "ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः। गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः।"

में वर्णित सूर्या सावित्री व सोम के विवाह-प्रकरण में हमें ब्राह्म, दैव व प्राजापत्य विवाह के दर्शन होते हैं। श्यावाश्व ऋषि का विवाह आर्ष विवाह का उदाहरण है[1]। वैदिक साहित्य[2] में इस बात का भी उल्लेख है कि कभी-कभी कन्या के लिये मूल्य भी चुकाना पड़ता था। इसी को आसुर विवाह कहा गया है।

वर व कन्या का अपनी इच्छा से जो सम्बन्ध होता था वह गान्धर्व विवाह कहलाता था। यह मैथुन्य या कामसंभव रहता था। विमद व पुरुमित्र की कन्या शन्ध्यु का विवाह[3] व दुष्यन्त-शकुन्तला का विवाह गान्धर्व विवाह के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

मारपीट व अङ्गछेदन कर, दीवालादि तोड़ रोती-चिल्लाती कन्या को जबरदस्ती घर से ले जाकर उससे विवाह करना राक्षस विवाह कहाता था। सुप्त, मत्त या प्रमत्त कन्या से एकान्त में मैथुन निमित्त जो विवाह किया जाता था वह पैशाच विवाह कहा जाता था। राक्षस व पैशाच विवाहों को जंगली व असभ्य आदिम जातियों के रिवाजों से सम्बन्धित किया जा सकता है। जब जंगली जातियाँ सभ्य आर्यों के समाज में प्रविष्ट की जाने लगीं तब उनकी सामाजिक कुरीतियाँ भी समाज में प्रविष्ट होने लगीं। समाज की मर्यादा स्थापित करने वाले ऋषियों व आचार्यों को उन रीति-रिवाजों पर भी विचार करना पड़ा।

प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था में जिन बारह प्रकार के पुत्रों को मान्यता प्रदान की गई थी, वे इस प्रकार थे—औरस, क्षेत्रज, दत्तक, कृत्रिम, गूढोत्पन्न, अपविद्ध, कानीन, सहोढ, क्रीत, पौनर्भव, स्वयंदत्त व शौद्र[4]। अपने ही क्षेत्र में संस्कार से परिशुद्ध

---

[1] ऋग्वेद ५।६१;

[2] ऋग्वेद १।१०९।२;

[3] ऋग्वेद १०।३९।७, १।११६।१

[4] मनुस्मृति ९।१५९–१६०;

"औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च।
गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा बान्धवाश्च षट् ॥
कानीनश्च सहोढश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथा।
स्वयंदत्तश्च शौद्रश्च षड् दायादबान्धवाः ॥"

स्त्री में स्वयं जिस पुत्र को उत्पन्न करे उसे 'औरस' पुत्र कहा जाता था। मृत, नपुंसक, रोगी आदि की पत्नी से जो पुत्र गुरु द्वारा यथा-विधि किये गये नियोग से उत्पन्न होता है वह 'क्षेत्रज' कहाता था। आपत्काल में माता-पिता प्रीतिपूर्वक जल द्वारा अपने जिस पुत्र को किसी को दे दें, वह उसका 'दत्रिम' पुत्र कहाता था। गुण-दोष को समझने वाला व पुत्रगुणों से युक्त अपने जातिवाले को पुत्र बनाने पर वह 'कृत्रिम' पुत्र कहाता था। जो घर में उत्पन्न होता है किन्तु यह ज्ञात नहीं होता कि वह किसका है, ऐसा पुत्र उसी का होता है, जिसकी पत्नी में उत्पन्न हुआ हो व उसे 'गूढोत्पन्न' कहते थे। माता-पिता या उनमें से किसी एक के द्वारा परित्यक्त पुत्र का यदि स्वीकार किया जाय तो वह 'अपविद्ध' पुत्र कहलायगा। पिता के घर कन्या जिस पुत्र को उत्पन्न करे वह उससे विवाह करने वाले का 'कानीन' पुत्र कहाता था। जान या अनजान में जिस गर्भिणी का विवाह-संस्कार हो जाता है, उसका गर्भ उससे विवाह करने वाले का हो जाता था व उत्पन्न पुत्र 'सहोढ' पुत्र कहाता था। माता-पिता के पास से जिसे पुत्र बनाने की इच्छा से खरीदा जाता था, वह 'क्रीतक' पुत्र कहाता था। पति से त्यागी गई या विधवा स्त्री पुनर्विवाह कर जिस पुत्र को जन्म देती है वह 'पौनर्भव' कहाता था। माता-पिताविहीन या माता-पिता से त्यागा हुआ पुत्र अपने को किसी अन्य को दे दे तो वह उसी का 'स्वयंदत्त' पुत्र हो जाता था। ब्राह्मण द्वारा किसी शूद्रा में उत्पन्न पुत्र 'शौद्र' या 'पारशव' कहलाता था।

उपरोक्त बारह प्रकार के पुत्रों को मान्यता प्रदान करके प्राचीन भारतीय समाज ने अपनी उदारता का ही परिचय दिया था। वैदिक साहित्य मे भी यत्र-तत्र ऐसे पुत्रों का उल्लेख आता है। ऋग्वेद के कितने ही मंत्रों के द्रष्टा दीर्घतमस् ऋषि क्षेत्रज पुत्र ही थे। ऋग्वेद के एक और प्रसिद्ध मंत्रद्रष्टा शुनःशेप आजीगर्ति विश्वामित्र ऋषि के कृत्रिम पुत्र थे। इसी प्रकार पौनर्भव आदि पुत्र भी तत्कालीन समाज में अवश्य रहे होंगे। प्राचीन काल में नैतिकता का भाव इतना कुण्ठित नहीं था, जितना कि आजकल है। प्राचीन काल मे सब के हित पर दृष्टि रखी जाती थी। प्रत्येक जीव परमात्मा का ही अंश माना जाता था। इसलिये प्रत्येक बालक, चाहे उसके माता-पिता ने सामाजिक नियमों का उल्लङ्घन कर ही उसे क्यों न पैदा

किया हो, समाज में स्थान पाने व पूर्णतया रक्षित किये जाने का अधिकारी समझा जाता था। समाज माता पिता के अपराध के लिये उस बालक को शासित करना पूर्ण अन्याय समझता था। प्राचीन सामाजिक व्यवस्था जहाँ उच्चतम नैतिक आदर्शों पर अवलम्बित थी, वहाँ उसमें मनुष्य की गलतियों के लिये भी स्थान था। यही कारण है कि कानीन, सहोढ, गूढज आदि पुत्रों को भी समाज में स्थान दिया गया था। इस प्रकार प्राचीन भारतीय समाज एक जीवित व प्रगतिशील संस्था था।

अध्याय—६

१

राजनैतिक विकास

राजनैतिक जागृति

प्राचीन भारत में वैदिक काल से ही समाज पर्य्याप्त रूप से प्रगतिशील हो चुका था। उस युग में सांस्कृतिक जीवन के विभिन्न पहलुओं का सम्यक् विकास किया गया था। इस विकास में राजनीति को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। ऋग्वेदादि वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से तत्कालीन राजनैतिक विकास का पता लगता है। वेदों में राजा, सभा, समिति, राजकृत, राजा का चुनाव, राजाओं का पदच्युत किया जाना आदि के उल्लेख से तत्कालीन राजनैतिक जागृति का स्पष्ट दिग्दर्शन होता है। हमें पता लगता है कि राजा पर प्रजा का पर्य्याप्त नियन्त्रण रहता था। प्रजा में पूरी राजनैतिक जागृति थी। वेदों में वर्णित सभा व समिति राजा का चुनाव भी करती थी। वैदिक काल का यह राजनैतिक विकास उत्तरोत्तर वृद्धिगत होता रहा, तथा ईसा की ९ वीं या १० वीं शताब्दि तक राजतन्त्र व प्रजातन्त्र के अन्तर्गत सुविकसित शासन-प्रणाली, विभिन्न शासन संस्थाएँ व संविधान, तथा तद्विषयक कितने ही राजनैतिक सिद्धान्त विकसित किये गये।

प्राचीन भारतीय राजनैतिक संस्थाओं का इतिहास वैदिक युग से ही प्रारंभ होता है। वैदिक व पौराणिक साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन से हमें प्राचीन भारत के महत्त्वपूर्ण राजवंशों का पता चलता है। सूर्य तथा चन्द्रवंश की विभिन्न शाखाओं के कितने ही राजाओं ने भारत के विभिन्न भागों को जीतकर अपना साम्राज्य स्थापित किया था, व चक्रवर्ती की पदवी प्राप्त की थी। इक्ष्वाकु, शर्याति, नाभानेदिष्ट, पुरूरवाः ऐळ, ययाति, पूरु, यदु, द्रुह्यु, भरत, कुरु आदि प्राचीन भारत के महत्त्वपूर्ण राजा थे, जिनका उल्लेख ऋग्वेद में आता है तथा जिनकी कीर्तिगाथा पुराणों ने गाई है।

सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

प्राचीन भारत में सामाजिक जीवन की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अनुरूप ही राजनैतिक जीवन का विकास हुआ था। सांस्कृतिक जागृति ने राजनैतिक जागृति को जन्म दिया था। राजपदादि विभिन्न राजनैतिक संस्थाएँ वैदिक काल से लोकहित व लोककल्याण की दृष्टि से विकसित हुई थीं। सभ्यता की प्रारंभिक अवस्था में कदाचित् वैयक्तिक महत्वाकांक्षा, वैयक्तिक स्वार्थ, पाशविक बल आदि की प्रेरणा से राजनैतिक जीवन का प्रारम्भ हुआ हो, किन्तु वैदिक युग में तो परिस्थिति बिलकुल बदल चुकी थी। वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन के प्रत्येक पहलू को सांस्कृतिक आधारशिला पर आश्रित किया गया था। तत्कालीन राजनैतिक जीवन भी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर आधारित था। वैदिक युग में बहुत से राजा हुए। वे परस्पर तथा दस्युओं से युद्ध किया करते थे; किन्तु जहाँ तक उनका अपनी प्रजा से सम्बन्ध था उन्हें राजकाज में जनकल्याण, लोकहित आदि का पूरा ख्याल रखना पड़ता था। तत्कालीन प्रजा अपने राजनैतिक अधिकारों के प्रति पूर्णरूप से जागरूक रहती थी। सांस्कृतिक विकास व दार्शनिक मनोवृत्ति के परिणामस्वरूप समाज में इतना मनोबल विकसित हो गया था कि किसी भी अत्याचार या शोषण का सफल विरोध करने के लिये वह तैयार रहता था। वह किसी भी रूप में दासत्व के बन्धन में फँसना नहीं चाहता था। वह न केवल आध्यात्मिक दृष्टि से किन्तु भौतिक व ऐहिक दृष्टि से भी समस्त बन्धनों को तोड़कर सच्चे सुख की दिशा में अग्रसर होना चाहता था।

भ्रमपूर्ण विचारसरणी

वेदकालीन राजनैतिक विकास पर विचार करने के पूर्व एक भ्रमपूर्ण विचारसरणी को समझ लेना आवश्यक है। वैदिक साहित्य के विद्वानों का मन्तव्य है कि वेदकालीन आर्य विभिन्न जातियों या कबीलों में बटे हुए थे,[1] जैसे कि आजकल पश्चिमोत्तर

---

[1] वैदिक एज (भारतीय विद्या भवन) पृ० २४५–२५०; ए० सी० दास–ऋग्वैदिक कल्चर पृ० ४५ और आगे पृ० ३५२–३६७; ए० ए० मैकडॉनेल–ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० १५३–१५५;

प्रदेश में पठान आदि पहाड़ी जातियाँ बसी हुई हैं। ऋग्वेद[1] में यत्रतत्र अनेकों नाम उल्लिखित हैं जिनको जातिसूचक माना जाता है। इन नामों में अनार्य नाम तो जातिसूचक हो सकते हैं, क्योंकि तत्कालीन दस्यु पूर्णतया असभ्य थे, अतएव उनके बहुत से कबीले रहे हों। किंतु उन नामों में जो आर्य नाम है, वे जातिसूचक कदापि नहीं हो सकते, वे तो विभिन्न राजाओं के नाम हैं जैसा कि पुराणों के प्रमाणों से सिद्ध किया जा सकता है। वैदिक काल का समाज सांस्कृतिक विकास की उस अवस्था में पहुँच चुका था जिसमें जातिगत भावना के लिये कोई स्थान ही नहीं रहता, व समाज को एक जीवित मानव समुदाय के रूप में माना गया था, जैसा कि ऋग्वेद के पुरुष सूक्त[2] से स्पष्ट होता है; जहाँ समाज को एक जीवित पुरुष का रूपक दिया है व ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र को उसके विभिन्न अङ्गों से सम्बन्धित किया है। इसी प्रकार ऋग्वेद[3] में एक और स्थल पर सोम देवता के महत्त्व को समझाते हुए बताया गया है कि वह इन्द्र की शक्ति बढ़ा कर उसे अधिक वर्षा करने वाला बनाता है तथा विधर्मी दुष्टों का दमन कर विश्व को आर्य बनाता है। ऋग्वेद[4] में एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि विश्वेदेवाः प्रार्थना, गाय, अश्व, औषधि, वनस्पति, पृथिवी, पर्वत, जल आदि को उत्पन्न करते हैं। वे सूर्य को आकाश में चढ़ाते हैं तथा पृथिवी पर अच्छे-अच्छे आर्य व्रतों का प्रचार करते हैं। उपरोक्त दोनों उद्धरणों में 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' व 'आर्या व्रता विसृजन्तो अधि क्षमि' आदि वाक्य अत्यन्त ही अर्थपूर्ण हैं। उनमें विश्व को आर्य बनाने व आर्य व्रतों को भूमण्डल पर फैलाने का भाव निहित है। इससे स्पष्ट होता है कि 'आर्य' शब्द ऋग्वेद में जातिसूचक नहीं है, संस्कृतिसूचक है तथा वेदकालीन आर्य सामाजिक विकास की जातियों व कबीलों की अवस्था से बहुत आगे बढ़ चुके थे। अतएव ऋग्वेद में जिन शब्दों को जातिवाचक मानकर आर्यों की विभिन्न जातियाँ

---

[1] ७।१८।६-२०

[2] १०।९०;

[3] ९।६३।५: "इन्द्रं वर्धन्तः अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम् अपघ्नन्तो अराव्णः ॥"

[4] १०।६५।११: "ब्रह्म गामश्वं जनयन्त ओषधीर्वनस्पतीन्पृथिवीं पर्वतॉं अपः ।
सूर्यं दिवि रोहयन्तः सुदानव आर्या व्रता विसृजन्तो अधि क्षमि ॥"

से सम्बन्धित किया जाता है, वे जातिसूचक न होकर केवल व्यक्तिसूचक हैं।

ऋग्वेद में 'पञ्चजनाः'[1] 'पञ्चकृष्टयः'[2] 'पञ्चचर्षणयः'[3] 'पञ्चक्षितयः'[4] आदि शब्द बार बार उल्लिखित हैं। इतिहास के विद्वान् इन शब्दों का अर्थ पांच जातियाँ या कबीले करते हैं तथा यदु, तुर्वश, द्रुह्यु अनु व पूरु को उनसे सम्बन्धित करते हैं। किन्तु पञ्चजनाः आदि का यह अर्थ उपयुक्त प्रतीत नहीं होता, उसका साधारण अर्थ ही लिया जाना चाहिये जो कि पञ्च लोग होगा, अथवा रॉथ व गेल्डनर ने उन शब्दों का जो अर्थ किया है[5] (पृथ्वी का समस्त जनसमुदाय) वह लिया जाना चाहिये। जिन यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, अनु व पूरु आदि नामों को जातिसूचक मानकर 'पञ्चजनाः' से सम्बन्धित किया जाता है वे यथार्थ में राजाओं के नाम हैं, जैसा कि पुराणों से ज्ञात होता है। यदु, तुर्वश, द्रुह्य, अनु व पूरु, यथार्थ में राजा ययाति के पुत्र[6] थे। राजा ययाति चंद्रवंश के संस्थापक का चौथा वंशज था[7]। पुराणों के अनुसार चंद्रवंश के संस्थापक इळा व बुध के पुत्र पुरूरवाः ऐळ का पुत्र आयुस् था व आयुस् का पुत्र नहुष था। इसी नहुष का द्वितीय पुत्र ययाति था। ययाति स्वतः ऋग्वेद में उल्लिखित हैं।[8] राजा ययाति के पांच पुत्र यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, अनु व पूरु[9] ऋग्वेद में कितने ही स्थलों पर उल्लिखित हैं। ऋग्वेद में ययाति को नहुष का पुत्र कहा

---

[1] ऋग्वेद ३।५९।८; ८।३२।२२; ९।६५।२३; १०।४५।६

[2] २।२।१०; ५।१३।१६; ४।३८।१०; १०।६०।४; १०।११९।६

[3] ५।८६।२; ७।१५।२; ९।१०१।९;

[4] १।७।९; १।१७६।३; ५।३५।२; ६।४६।७; ७।७५।४; ७।७९।१

[5] वैदिक एज (भारतीय विद्या भवन), पृ० २६२, टिप्पणी १५

[6] वायुपुराण ९३।१६–१७;

[7] वायुपुराण, ९३।१–१७ और आगे; मत्स्यपुराण अ० २४; विष्णुपुराण ४।१०; हरिवंश अ० ३०

[8] ऋ० ९।१०१।४–६, १।३१।१७, १०।६३।१;

[9] १।५४।६; ४।३०।१७; ६।२०।१२; ९।६१।२; १०।६२।१०; ७।१८।६; ७।१२।१४

गया है जैसा कि पुराणों में भी उल्लिखित है, किन्तु उसके पांच पुत्रों को उससे सम्बन्धित नहीं किया गया है। जब पुराणों में पुरूरवस्, आयुस्, नहुष, ययाति, यदु, पुरु आदि सब स्पष्टतया सम्बन्धित किये गये हैं और वे ही नाम ऋग्वेद में भी उल्लिखित हैं तथा नहुष व ययाति सम्बन्धित भी किये गये हैं, ऐसी परिस्थिति में जबतक कोई विपरीत प्रमाण प्राप्त नहीं होता, ऋग्वेद में उल्लिखित पुरूरवस्, आयुस्, नहुष, ययाति आदि को पुराणों में उल्लिखित उन्हीं नामों से सम्बन्धित किया जा सकता है। इस प्रकार ऋग्वेद में यदु आदि के जो उल्लेख हैं, उन पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करने से स्पष्ट होता है कि ये जाति या कबीलों के नाम नहीं हो सकते, वे निश्चित रूप से राजाओं के नाम हैं। ऋग्वेद में प्रतिबिम्बित सामाजिक, राजनैतिक आदि परिस्थितियों के अध्ययन से निश्चित होता है कि ऋग्वेदकालीन आर्य सांस्कृतिक विकास की कबीला-अवस्था से बहुत आगे बढ़ चुके थे। ऋग्वेद काल में उन्होंने सामाजिक व राष्ट्रीय भावना विकसित कर ली थी। ऋग्वेद में उल्लिखित वर्णव्यवस्था, सभा, समिति, राजपद आदि इसी महत्वपूर्ण तथ्य के सूचक हैं।

२

राजनैतिक व्यवस्था

वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन राजनैतिक व्यवस्था की इकाई ग्राम था, जिसका सर्वोपरि अधिकारी ग्रामणी था। बहुत से कुलों से मिल कर ग्राम बनता था। परिवार या कुल का मुखिया गृहपति कहलाता था जिसकी सत्ता पारिवारिक जीवन में सर्वोपरि थी। परिवार के सदस्य उसके आधिपत्य में रहते थे। बहुत से ग्रामों से मिलकर विश बनता था व विशों से जन। जन से समस्त राष्ट्र के नागरिकों का बोध होता था, इसीलिये जनपद शब्द देश या राष्ट्र के अर्थ में प्रयुक्त होता था।

ग्राम

बहुत से परिवारों से मिल कर ग्राम बनता था। कुछ विद्वानों के मतानुसार परिवारों के छोटे छोटे समूह भी थे जो गोत्र या गोष्ठी

कहलाते थे। गोत्र का शाब्दिक अर्थ 'गायों की रक्षा करने का स्थान होता है। गोत्र का तात्पर्य उस अहाते से था, जिसमें गायों को सुरक्षित रूप से रखा जाता था। कदाचित् कुछ परिवार मिलकर अपना एक गोत्र रखते थे, इसलिये वे एक गोत्र से सम्बन्धित समझे जाते थे। गोत्र का संरक्षक गोत्रपति कहलाता था।[1] बहुत से गोत्रों का मवेशी चराने के लिए एक सर्वसाधारण चारागाह रहता था, जिसे गोष्ठ[2] कहते थे। गोष्ठ को व्राज भी कहा जाता था[3]। जिन गोत्रों के लिये एक ही गोष्ठ रहता था उन्हें 'गोष्ठी' नाम से जाना जाता था।[4] बहुत सी गोष्ठियों के समूह को 'ग्राम' नाम से जाना जाता था।[5] ग्राम का मुखिया 'ग्रामणी' कहाता था।[6]

ग्राम के राजनैतिक जीवन का केन्द्र ग्रामणी था। प्रारम्भ में कदाचित् उसका चुनाव होता था, किन्तु बाद में उसका पद वंशक्रमागत बन गया था। नागरिक व सैनिक उत्तरदायित्व से सम्बन्धित कार्यों में वह ग्राम का मुखिया था।[7] ग्रामीण जनता की रक्षा करना, उनको संगठित रखना, ग्राम में शान्ति व व्यवस्था रखना आदि उसके महत्त्वपूर्ण कर्तव्य थे। उसके नेतृत्व में ग्रामीण वाह्य शत्रुओं से ग्राम की रक्षा करते थे। ग्राम के भूमि सम्बन्धी व अन्य झगड़ों का न्याय भी उसे ही करना पड़ता था। अपराधियों को दण्ड देना भी उसीका कार्य था। प्रत्येक ग्राम के लिये एक एक ग्रामणी रहता था, जो अपने अपने ग्राम की व्यवस्था करता था। कभी कभी विभिन्न ग्राम खेतों की सीमा आदि के बारे में परस्पर लड़ाई भी किया करते थे।[8] प्रत्येक ग्राम पूर्णतया स्वतंत्र रहता था; अपनी भूमि आदि की व्यवस्था तथा अन्य कार्यों में प्रत्येक ग्राम को पूर्ण स्वातन्त्र्य प्राप्त

---

[1] ए० सी० दास—ऋग्वेदिक कल्चर, पृ० १०९; मैकडनिल व कीथ—वैदिक इन्डेक्स, प्रथम भाग, पृ० २३५—२३६

[2] ऋग्वेद १।१९१।४, ६।२८।१, ८।४३।१७

[3] मैकडानेल्ल व कीथ—वैदिक इन्डेक्स, भा० १, पृ० २४०

[4] ए० सी० दास—ऋग्वेदिक कल्चर, पृ० ११०

[5] ए० सी० दास—ऋग्वेदिक कल्चर, पृ० १११

[6] ऋग्वेद १०।६२।११, १०।१०७।५

[7] मैकडानिल्ल व कीथ—[illegible] इन्डेक्स, [illegible]

[8] ऋग्वेद ६।२५।[illegible]

था। ग्रामणी की सहायता के लिये ग्रामसभा रहती थी, जिसमें कदाचित् ग्रामणी का चुनाव भी होता था। प्राचीन भारतीय शासन-व्यवस्था में ग्रामणी का इतना महत्त्वपूर्ण स्थान था कि उसके पद का उल्लेख वैदिक काल के पश्चात् भी प्राप्त होता है। जातक साहित्य, अर्थशास्त्र आदि में ग्रामणी का कितने ही स्थलों पर उल्लेख आता है, जहां उसके महत्त्व का दिग्दर्शन कराया गया है।

केन्द्रीय शासन, जिसका नेतृत्व राजा किया करता था, ग्रामणी द्वारा ग्राम से अपना सम्पर्क स्थापित करता था। राजा के सामने ग्रामणी ही ग्राम का प्रतिनिधित्व करता था। राजा साधारणतया ग्राम की व्यवस्था में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता था। प्राचीन भारत में विकेन्द्रीकरण शासन-व्यवस्था का मूलमन्त्र था। इसी सिद्धान्त के अनुसार ग्राम की शासन-व्यवस्था का उत्तरदायित्व ग्रामसभा व ग्रामणी पर ही था। कुछ विद्वानों के मतानुसार[1] ग्रामणी का राजा से जो सम्बन्ध रहता था उससे ज्ञात होता है कि उसकी नियुक्ति राजा द्वारा होती थी या कदाचित् यह पद वंश-क्रमागत भी रहा होगा।

विश

बहुत से ग्रामों को मिलाकर कदाचित् विश बनता था। वैदिक साहित्य में विश शब्द जनसाधारण के अर्थ में प्रयुक्त होता है। किन्तु कुछ विद्वान् ग्रामों के समूह के अर्थ में भी उसका प्रयोग मानते हैं।[2] विश के सर्वोपरि सत्ताधीश को कदाचित् विश्पति कहते थे। ऋग्वेद में एक स्थान पर यम को विश्पति व पिता[3] कह कर पुरों का संरक्षक माना गया है। पुर वैदिक युग में ग्रामों की रक्षा के लिये या तो किले थे या चारदीवारी, जिनकी रक्षा की व्यवस्था करना ग्रामों के शासनाधिकारियों का आवश्यकीय कार्य था। वैदिक युग के पश्चात् 'विशांपति' शब्द राजा के अर्थ में प्रयुक्त होता था। विश्पति के अधिकार भी ग्रामणियों के अधिकारों के समान

---

[1] मैकडॉनिल व कीथ—वैदिक इन्डेक्स भाग १, पृ० २४७

[2] मैकडॉनिल व कीथ—वैदिक इन्डेक्स, भाग १, पृ० २४५
ए० सी० दास—ऋग्वेदिक कल्चर, पृ० १११

[3] ऋ० १०।१३५।१: "अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनु वेनति ॥"

रहते होंगे। उसका मुख्य कर्तव्य विश के अन्तर्गत ग्रामों के पारस्परिक सम्बन्धों को सुव्यवस्थित व सुरक्षित रखना था।

जन

विभिन्न विशों के समुदाय को जन कहते थे। जन का सर्वोपरि सत्ताधीश राजा था, जो वंश क्रमागत रहता था या जिसका चुनाव होता था। वैदिक साहित्य में स्थान स्थान पर राजपद का उल्लेख है। वरुण[1] को बहुधा राजा शब्द से सम्बोधित किया गया है। जिस प्रकार नैतिक जगत् में वरुण की सर्वोपरि सत्ता थी, वही नैतिक नियमों का नियामक था, उसके गुप्तचर सर्वत्र वर्तमान थे, जिनकी दृष्टि से कोई बच नहीं सकता था, उसके बन्धन (पाश) पापी व अत्याचारियों के लिये सर्वथा शक्तिशाली थे;[2] ठीक उसी प्रकार भौतिक व राजनैतिक जगत् में राजा का हाल था। राजा के अधीन जन जिस देशविशेष में रहते थे वह जनपद कहलाता था। ऐतरेय[3] ब्राह्मण में जनपद शब्द देश के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। राजा द्वारा शासित बहुत से जनपद या राष्ट्र[4] वैदिक युग में वर्तमान थे। ऋग्वेद में कितने ही राजाओं का उल्लेख आता है, जिससे स्पष्ट होता है कि उस युग में समस्त देश विभिन्न राज्यों में या राष्ट्रों में विभाजित था।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि वेदकालीन समाज में राजनैतिक व्यवस्था व संगठन वर्तमान थे, तथा समाज का राजनैतिक जीवन विभिन्न राजनैतिक इकाइयों में विभाजित था, यथा, कुल, ग्राम, विश, जन या राष्ट्र।

३

राजनैतिक जीवन—दस्यु आदि से युद्ध

ऋग्वेद संहिता में तत्कालीन राजनैतिक जीवन भी प्रतिविम्बित हुआ है। ऋग्वेद के विभिन्न मंत्रों के आलोचनात्मक अध्ययन से

---

[1] ऋग्वेद १।२४।७: "अबुध्ने राजा वरुणो वनस्योर्ध्वं।"; १।२४।८: "उरुं हि राजा वरुणश्चकार"; १।२४।१३: "अवैनं राजा वरुणः समृज्य॰॰॰॥";

[2] ऋ० १।२५।१–२१

[3] ८।३।१४;

[4] ऋग्वेद १०।१७३।१: "मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत्"; १०।१७३।५: "राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम ॥"

स्पष्ट होता है कि तत्कालीन आर्यों को दास, दस्यु आदि आदिम जातियों से कितने ही युद्ध करने पड़े थे। इन्द्र से कितने ही स्थानों पर प्रार्थना की गई है कि वह दास व दस्युओं का नाश करे। एक स्थान पर कहा गया है कि इन्द्र ने दस्युओं को अपनी माया व शक्ति से पूर्णतया पराजित कर उनका दमन किया[1]। आगे पुनः कहा गया है कि इन्द्र ने दस्युओं को मारकर आर्यवर्ण की रक्षा की।[2] एक स्थान पर इन्द्र की प्रशंसा में कहा गया है कि 'इन्द्र ने दासवर्ण को पराजित करके गुफाओं के अन्दर भगा दिया[3]। जब घनघोर युद्ध होता है, तब दोनों पक्ष के योद्धा अपने अपने रथों में बैठे हुए इन्द्र का ही आह्वान करते हैं[4]। इन्द्र के बिना कोई भी मनुष्य युद्ध में जीत नहीं सकता; युद्ध मे रत योद्धा सहायता के लिये उसे ही बुलाते हैं[5]।' इसी प्रकरण में इन्द्र को दस्युओं का हन्ता भी कहा गया है[6]। एक और प्रकरण में कहा गया है कि इन्द्र ने शम्बर दास को एक बड़े पर्वत पर से भगा दिया[7]। एक स्थान पर इन्द्र द्वारा शम्बर दास के पर्वत पर से मार भगाये जाने का उल्लेख है[8]। इसी प्रकरण में आगे कहा गया है कि राजा दभीति व दाससर्दार चुमुरि के मध्य जो युद्ध हुआ उसमें इन्द्र ने ६०००० दासों को मार डाला[9]। इन युद्धों में बहुत से आदिम निवासियों को तथा उनकी स्त्रियों को बन्दी भी बनाया जाता था, तथा धीरे धीरे उन्हें समाज में अपनी योग्यता के अनुरूप स्थान भी दिया जाता था। इसी प्रकार दास स्त्रियों से विवाह-सम्बन्ध भी

---

[1] ऋ० ३।३४।६ "वृजनेन व्रजिनान्त्स पिपेप मायाभिर्दस्यूंरभिभूत्योजा ॥"

[2] ऋ० ३।३४।९: 'हत्वा दस्यून्प्रार्य वर्णमावत् ॥"

[3] ऋ० ३।१२। ४' 'यो दास वर्णमधर गुहाकः ॥'

[4] ऋ० २।१२।८. "य क्रन्दसी संयती विह्वयेते परेऽवर उभया अमित्रा । समानं चिद्रथमातस्थिवांसा नाना हवेते स जनास इन्द्रः ।"

[5] ऋ० २।१२।९' "यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते ।"

[6] ऋ० २।१२।१०. "यो दस्योर्हन्ता स जनास इन्द्रः ।"

[7] ऋ० ४।३०।१४: 'उत दास कौलितरं बृहतः पर्वतादधि । अवाहन्निन्द्र शम्बरम् ।"

[8] ऋ० ६।२६।५: "अव गिरेर्दासं शम्बरं हन्प्रावो····।"

[9] ऋ० ६।२६।६

धीरे-धीरे स्थापित किया जाने लगा। दासों के इस प्रकार समाज में विलीनीकरण के परिणामस्वरूप वर्णव्यवस्था तथा प्रतिलोम व अनुलोम विवाह का प्रादुर्भाव हुआ।

उपरोक्त उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि आर्यों को दास, दस्यु आदि आदिम जातियों से कितने ही युद्ध करने पड़े थे, जो कि बड़े घमासान थे व जिनमें आर्यों को बार बार अपने इष्ट देवता इन्द्र की प्रार्थना करनी पड़ती थी, जिससे उन्हें विजय प्राप्त हो सके। ऋग्वेद के इन्द्र सम्बन्धी मंत्रों का आलोचनात्मक अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि इन्द्र आर्यों का इष्ट देवता था, जिसके प्रभाव से आर्यों ने दस्युओं के विरुद्ध कितने ही युद्ध जीते व कितने ही दस्युओं को पराजित कर बन्दी बनाया। ऋग्वेदकालीन आर्यों के राजनैतिक जीवन का यह एक महत्वपूर्ण पहलू है, जिसने उनके सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि जीवन को प्रभावित किया।

विभिन्न आर्य राज्य

ऋग्वेद के मंत्रों के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन सप्तसिन्धु प्रदेश व निकटवर्ती भूभाग विभिन्न आर्य राज्यों में विभाजित था, जो दस्युओं से लड़ा करते थे तथा आपस में भी युद्धरत रहते थे। उनमें महत्वपूर्ण राज्य ये थे—अनु, द्रुह्यु, यदु, तुर्वश, पूरु, तृत्सु, भरत आदि। इनमें से अनु, द्रुह्यु, यदु व तुर्वश राज्य सरस्वती नदी की निचली उपत्यका में स्थापित[1] थे। पूरु राज्य सिन्धु नदी के ऊपरी कछार में स्थित था, जहाँ से वह दस्यु-आक्रमणों की रोक-थाम करता था। तृत्सु राज्य परुष्णी (रावी) नदी के पूर्ववर्ती भूभाग में स्थित था। भरत राज्य सरस्वती व दृषद्वती के मध्य स्थित था[2]।

उपरिनिर्दिष्ट राज्यों के अतिरिक्त और भी दूसरे राज्य ऋग्वेद में उल्लिखित हैं। क्रिवि राज्य सिन्धु व असिक्नी (चिनाब) के तट पर स्थित था[3]। कीकट[4] राज्य मगध में स्थित[5] था। यास्क[6] के

---

[1] ए० सी० दास—ऋग्वेदिक कल्चर, पृ० १६०–६१

[2] वही

[3] मैकडॉनेल व कीथ—वेदिक इन्डेक्स, भा० १, पृ० १९८

[4] ऋग्वेद ३।५३।१४,

[5] वेदिक एज (भारतीय विद्या भवन), पृ० २४८

[6] निरुक्त ६।३२. "कीकटा नाम देशोऽनार्यनिवासः कीकटाः"

ानुसार यह अनार्य राज्य था। कुछ विद्वानों के मतानुसार यह ज्य सप्तसिन्धु प्रदेश के पर्वतीय भूभाग में स्थित था।[1] चेदि राज्य दाचित् यमुना नदी व विन्ध्यपर्वत के मध्य स्थित था। उसके ाशाली राजा कशु की दानस्तुति ऋग्वेद[2] में समाविष्ट है। न्धारी[3] राज्य सप्तसिन्धु के पश्चिमोत्तर प्रदेश में वर्तमान था। दाचित् यह राज्य सिन्धु व कुभा (काबुल) के संगम के निकट-र्ती भूभाग में स्थित था। ऋग्वेद[4] में एक स्थल पर मत्स्य राज्य ा उल्लेख भी आता है। यह राज्य कदाचित् आधुनिक अलवर, तपुर, जयपुर आदि के भूभाग में स्थित था। अज, यक्षु, शिग्रु ादि राज्यों का उल्लेख भी ऋग्वेद[5] में आता है, जो भेद के नेतृत्व सुदास से लड़े थे। वृचिवन्त एक और राज्य था, जो कि सृञ्जय ासक देववात द्वारा हरियूपीया व यव्यावती के निकट युद्ध में ता गया था[6]। एक स्थान पर पर्शु व पृथु राज्य का भी उल्लेख[7] जिन्हें कुछ विद्वान् पर्शियन व पार्थियन लोगों से सम्बन्धित ाते[8] हैं; किन्तु यह मन्तव्य उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। इनके तिरिक्त विषानिन, शिव, अलीन, पक्थ, भलानस आदि राज्य भी ग्वेद[9] में उल्लिखित हैं। ये राज्य पश्चिमोत्तर प्रदेश में वर्तमान थे, उनमें से कुछ अनार्य भी रहे हों।[10]

उपरोक्त उल्लेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ग्वेद काल में आर्यों के विभिन्न स्वतन्त्र राज्य थे, जो आधुनिक श्चिमोत्तर प्रदेश (पाकिस्तान), पञ्जाब (भारत व पाकिस्तान), सिन्ध

---

[1] ए० सी० दास–ऋग्वेदिक कल्चर, पृ० १६२;

[2] ८।५।३७–३९;

[3] ऋ० १।१२६।७,

[4] ७।१८।६

[5] ७।१८।१९;

[6] ऋ० ६।२७।५;

[7] ऋ० १०।३३।२; ७।८३।१;

[8] मैकडनिल व कीथ–वैदिक इन्डेक्स, भा० १, पृ० ५०४–५०५; ए० सी० दास–ऋग्वेदिक कल्चर, पृ० १६३,

[9] ७।१८।७;

[10] दि वैदिक एज (भारतीय विद्याभवन), पृ० २५०

उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश आदि के भूभागों में फैले हुए थे। गान्धारी, पक्थ, अलीन, भलानस व विषाणिन राज्य पश्चिमोत्तर प्रदेश के अन्तिम छोर पर स्थित थे। शिव, परशु, वृचीवन्त, यदु, अनु, तुर्वश, द्रुह्यु आदि राज्य पञ्जाब व सिन्ध में थे। पूर्व की ओर मध्यदेश (आधुनिक उत्तरप्रदेश) के भूभाग में तृत्सु, भरत, पुरु, सृञ्जय व कीकट राज्य स्थित थे। मत्स्य व चेदि राज्य पञ्जाब के दक्षिण में राजस्थान व मालवा के प्रदेश में स्थित थे।

उत्तर वैदिक साहित्य

अथर्ववेद, यजुर्वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ आदि उत्तर वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से उत्तर भारत व पूर्व भारत में स्थित कितने ही राज्यों का पता लगता है। मध्य देश (आधुनिक उत्तर प्रदेश) में कुरु, पाञ्चाल, वश, उशीनर आदि महत्त्वपूर्ण राज्य थे। अथर्ववेद[1] में कुरु-राज्य के राजा परीक्षित का उल्लेख आता है, जिसके राजत्व काल में कुरु राज्य उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच गया था। कुरु राज्य आधुनिक थानेसर, दिल्ली व ऊपरी गङ्गा-जमना के दोआब में स्थित था। पाञ्चाल राज्य कुरु राज्य के पड़ोस में ही था। कुरुराज्य के साथ ही इसका भी उल्लेख आता है। ब्राह्मण-युग में ये राज्य बहुत महत्त्वपूर्ण थे, तथा एक राष्ट्र के रूप में उल्लिखित हैं। कुरु-पाञ्चाल में किये जाने वाले यज्ञ सर्वोत्तम माने जाते थे। वहां के ब्राह्मण उपनिषद्-काल में अपनी विद्वत्ता व योग्यता के लिये बहुत प्रसिद्ध थे। वहां के राजा अन्य राजाओं के लिये आदर्शरूप थे; उन्होंने कितने ही राजसूय यज्ञ किये थे। वे शरद् ऋतु में दिग्विजय के लिये प्रस्थान करते थे तथा ग्रीष्म में वापिस लौटते थे। वहां की भाषा प्राञ्जल व परिमार्जित मानी जाती थी।

कुरु पाञ्चाल प्रदेश के निकट वश व उशीनर राज्य थे। गोपथ ब्राह्मण[2] में ये दोनों राज्य संयुक्तरूप में निर्दिष्ट हैं व उन्हें उत्तर दिशा से सम्बन्धित किया गया है[3]। कौषीतकी उपनिषद्[4] में वश

---

[1] २२।१२७।७–१०

[2] १।२।९,

[3] गोपथ ब्राह्मण २।९;

[4] ४।१

राज्य को मत्स्य राज्य से सम्बन्धित किया गया है। यह वत्स राज्य बाद में वत्स राज्य कहलाया, जिसकी राजधानी कौशाम्बी[1] थी।

कोसल व विदेह राज्य, जो उशीनरादि के पूर्व में स्थित थे, सर्वप्रथम शतपथ[2] ब्राह्मण में उल्लिखित हैं, जहां वर्णन आता है कि विदेह के राजा विदेघ माथव अपने पुरोहित गोतम राहूगण के साथ सरस्वती नदी के तट से यज्ञाग्नि को कोसल राज्य में से होकर सदानीरा नदी के तट पर ले गये, जहां विदेह राज्य की स्थापना की गई। उपनिषद्-युग के दार्शनिक विकास में विदेह के राजाओं ने अपना हाथ बटाया था। कोसल व विदेह के साथ काशी राज्य भी उत्तर वैदिक युग में एक महत्त्वपूर्ण राज्य था। शतपथ ब्राह्मण[3] में काशी के राजा धृतराष्ट्र के शतानीक सत्राजित् द्वारा पराजित किये जाने का वर्णन है, जिसके परिणामस्वरूप उसे यज्ञाग्नि प्रज्वलित करने का अधिकार छोड़ना पड़ा था। इस प्रकार ये पूर्वी राज्य कुरु-पाञ्चाल आदि राज्यों से लड़ा करते थे। ये युद्ध कदाचित् सांस्कृतिक व राजनैतिक कारणों से होते थे।

उत्तर वैदिक युग में पूर्वीय भारत में मगध (दक्षिण विहार) राज्य भी महत्त्वपूर्ण था। इसका सर्वप्रथम उल्लेख अथर्ववेद[4] में आता है, जहां कहा गया है कि तक्मन् ज्वर गान्धार, मूजवत्, मगध, अङ्ग आदि देशों में भेज दिया जावे। गान्धार व मूजवत् पश्चिमोत्तर भारत में थे तथा अङ्ग व मगध पूर्वी भाग में स्थित थे।

ऐतरेय ब्राह्मण के ऐन्द्रमहाभिषेक प्रकरण[5] में भारत के विभिन्न राज्यों तथा वहां की शासन-प्रणाली का उल्लेख किया गया है। पूर्व में प्राच्य राज्य के राजा सम्राट् कहलाते थे। दक्षिण में सत्वत् राज्य के राजा भोज कहलाते थे। पश्चिम में नीच्य व अपाच्य राज्यों के राजा स्वराट् कहलाते थे। उत्तर दिशा में हिमालय तटवर्ती प्रदेश में उत्तर कुरु, उत्तर मद्र आदि राज्यों के राजा विराट् कहलाते थे। मध्य

[1] अलाहबाद जिले के बारावंकी नगर के निकट कोसम गांव

[2] १।४।१।१० और आगे

[3] १३।५।४।१९

[4] ५।२२।१४: "गन्धारिभ्यो मूजवद्भ्योऽङ्गेभ्यो मगधेभ्यः। प्रैष्यन् जनमिव शेवधिं तक्मानं परि दद्मसि ॥"

[5] ऐतरेय ब्राह्मण ८।३।१४

में कुरु, पाञ्चाल, वश, उशीनर आदि के राजा 'राजा' कहलाते थे। इस वर्णन से उत्तर वैदिक युग में भारत की विभिन्न दिशाओं में वर्तमान महत्त्वपूर्ण राज्यों के बारे में बहुत कुछ ज्ञात होता है व तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इन राज्यों के अतिरिक्त कुछ अर्ध सभ्य व असभ्य दस्यु जातियों का उल्लेख भी ऐतरेय ब्राह्मण[1] में आता है, जैसे आन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द व मुतिब। ये जातियाँ विन्ध्य के दक्षिण में बसी थीं। ऐतरेय ब्राह्मण में उन्हें विश्वामित्र के उन पचास पुत्रों की सन्तान कहा गया है, जिन्होंने शुनःशेप आजीगर्ति को अपना भाई मानना स्वीकार नहीं किया जिससे उनके पिता ने उन्हें श्राप दिया। परिणामस्वरूप उनकी सन्तान आन्ध्र, मुतिब आदि बन गई।।

(*इस प्रकार उत्तर वैदिक युग में भी उत्तर भारत में महत्त्वपूर्ण* आर्य राज्य वर्तमान थे, जो परस्पर युद्ध रत भी रहते थे तथा जिनके कारण आर्य संस्कृति देश के विभिन्न भागों में विस्तारित की गई थी। इनके अतिरिक्त आदिम जातियों के कुछ राज्य भी आर्य राज्यों के दक्षिण में बसे हुए थे।)

पणि

ऋग्वेदकालीन आर्थिक व राजनैतिक जीवन में पणियों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। ऋग्वेद में दास व दस्युओं के साथ पणि भी आर्यों के शत्रु के रूप में उल्लिखित किये गये हैं। यद्यपि पणि बहुत समृद्धिशाली थे, तथापि वे देवताओं के उपासक नहीं थे तथा उन्होंने ब्राह्मणों को कभी दक्षिणा भी नहीं दी। उन्हें स्वार्थी, यज्ञ न करने वाले, विरुद्ध भाषा बोलने वाले, भेड़ियों के समान लालची, कंजूस, दुष्ट व दास, दस्यु आदि के समान नीच जाति के आदि विशेषणों से आभूषित किया गया है। ऋग्वेद[2] में विश्वेदेवाः से प्रार्थना की गई है कि पणि का नाश करो क्योंकि वह भेड़िया है। एक स्थान[3] पर पणियों को 'मृध्रवाच्' (नाक में बोलने वाले), श्रद्धारहित, यज्ञ न करने वाले व आर्य संस्कारों से रहित कहा गया है। एक स्थान[4]

---

[1] ७।३।१८

[2] ६।५१।१४: "जहीन्यत्रिणं पणिं वृको हि षः।।"

[3] ऋ० ७।६।३: "न्यक्रतून्ग्रथिनो मृध्रवाचः पणीरश्रद्धां अवृधां अयज्ञान्।"

[4] ऋ० ६।३९।२: "... र्वचोभिरभि यो ... ।।"

पर कहा गया है कि इन्द्र ने पणियों से युद्ध किया। एक और स्थान[1] पर पूषा से कहा गया है कि पणियों के हृदयों के टुकड़े टुकड़े करो।

उपरोक्त उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि पणि आर्यों से भिन्न थे, उनका धर्म, व्यवहार आदि भी आर्यों से पृथक थे। आर्यों से उनके झगड़े भी होते थे, क्योंकि वे आर्यों की गायें भगा ले जाते थे। पणिक या वणिक्, पण्य, विपणि आदि संस्कृत के व्यापारसूचक शब्दों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इनका व्यापार से विशेष सम्बन्ध रहा होगा। इसीलिये कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि इन पणियों का सम्बन्ध एशिया के पश्चिमतटवर्ती प्राचीन देश फिनिशिया के निवासी 'फिनीशियन' लोगों से था।[2] वे समझते हैं कि पणि व 'फिनिशियन्स' एक ही थे। फिनिशियन्स प्राचीन काल के व्यापारी थे, जिनके व्यापार का केन्द्र भूमध्य सागर व उसके तटवर्ती देश थे।[3] इसीलिये फिनीशिया व्यापारियों का राष्ट्र कहा जाता था। वेकनाट शब्द के आधार पर, जिसका प्रयोग एक स्थान पर पणि शब्द के साथ किया गया है,[4] कुछ विद्वान् पणियों को बेबिलोनियन लोगों से सम्बन्धित करते हैं।[5] कुछ विद्वान् उन्हें पार्नियन आदि प्राचीन ईरानी जातियों से सम्बन्धित करते हैं।[6]

पणि व हरप्पा संस्कृति के लोग

डॉ० अ० स० अल्तेकर ने इन्डियन हिस्ट्री कांग्रेस के गौहाटी अधिवेशन के अवसर पर अपने सभापतित्व के भाषण में पणियों के बारे में एक नया मत प्रतिपादित किया[7] था। उनके मतानुसार इस बात की पर्याप्त संभावना है कि वैदिक साहित्य के पणि व हरप्पन लोग या उनका एक वर्ग एक ही थे। पणि व्यापारी, ब्याज खानेवाले तथा अत्यधिक धनाढ्य थे। यही हाल हरप्पन लोगों का था, जिनके

[1] ऋ० ६।५३।७: "आ रिख किकिरा कृणु पणीना हृदया कवे।"

[2] क० मा० मुंशी-गुर्जरदेश, जि० १, पृ० ५९-६१, ८७

[3] सिनोबस-एन्शन्ट सिविलिजेशन, पृ० ८०-८४

[4] ऋग्वेद ८।६६।१०: "इन्द्रो विश्वान्वेकनाटाँ अहर्दृश उत क्रत्वा पणीरभि।"

[5] वेदिक एज (भारतीय विद्याभवन), पृ० २४९

[6] वेदिक एज (भारतीय विद्याभवन), पृ० २४९

[7] इन्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, प्रोसिडिंग्ज ऑफ दि ट्वेन्टी-सेकन्ड सेशन, १९५९, गौहाटी, पृ० २०-२३

व्यापारिक प्रतिनिधि बेबिलोनिया में थे व जिनके अवशेषों से सिद्ध होता है कि वे बहुत ही धनवान् रहे होंगे। श्री घोष द्वारा की गई खोज के परिणामस्वरूप घग्घर नदी के कछार में हरप्पा संस्कृति के अवशेष प्राप्त हुए हैं। यह घग्घर नदी ही ऋग्वेद कालीन सरस्वती नदी थी, जिसके किनारे ऋग्वेद[1] के अनुसार पणियों को विदलित किया गया था। दिवोदास, जिसका प्रभाव पूर्व पञ्जाब तक फैला था, सरस्वती नदी के तट पर पणियों से लड़ा था।[2] पणि दिवोदास के राज्य के दक्षिण पश्चिम में रहते होंगे। इससे पणियों का सरस्वती नदी के निकट रहना सिद्ध होता है। ऋग्वेद[3] में सरस्वती को लोहे का किला कहा गया है, जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि दीर्घ काल तक वह नदी आर्य व पणि सभ्यताओं की सीमा थी। हरियूपीया में इन्द्र ने आर्य स्तोताओं के लिये जिन शत्रुओं का विनाश किया[4] वे कदाचित् हरप्पा के हरप्पन लोग होंगे। जब रुपर, आलमगिर नगर व अन्य हरप्पा संस्कृति के केन्द्र आर्यों द्वारा जीते गये, तब सरस्वती नदी के दक्षिण पश्चिमी भाग के हरप्पन लोग कदाचित् स्वतन्त्र थे, अथवा उन्होंने आर्यों का आधिपत्य स्वीकार न किया होगा। सिन्धु नदी की निचली उपत्यका के हरप्पन लोग कदाचित् स्वतंत्र थे। इस प्रकार पणियों का हरप्पन होना पुष्ट होता है। व्यापारी होने के नाते उन्हें कंजूस कहा गया है। आर्य लोग उनके राज्यों को अपने राज्य में सम्मिलित करने के लिये उतने उत्सुक नहीं थे, जितने कि उनके धन पर अधिकार करने के लिए उत्सुक थे। ऋग्वेद[5] में कितने ही स्थलों पर आर्यों द्वारा उनके द्रव्य का हरण उल्लिखित है—आर्यों ने किस प्रकार उनकी गायों व धन का आपस में बँटवारा किया।

ऋग्वेद[6] में वर्णित दाशराज्ञ युद्ध में भी कदाचित् पणियों ने

---

[1] ६।६१।१ "या शश्वन्तमाचखादावसं पणिं ता ते दात्राणि तविषा सरस्वति ॥"

[2] ऋग्वेद ६।६१।१-३

[3] ७।९५।१ "एषा सरस्वती धरुणमायसी पूः।"

[4] ऋग्वेद ६।२७।५-६

[5] ऋग्वेद १।८३।४, ५।३४।७, ६।१३।३, ४।५८।२

[6] ३।३३।, ३।५३।

भाग लिया होगा क्योंकि इस युद्ध में सुदास के विरुद्ध पांच आर्य व दस अनार्य राजा लडे थे व यह युद्ध यमुना व रावी के बीच क प्रदेश में हुआ था। पणियों ने कुछ अवसरों पर आर्यों को पराजित भी किया होगा। ऋग्वेद[1] में एक स्थान पर वर्णन आता है कि पणियों ने आर्य प्रदेश पर आक्रमण किया व उनकी गायें ले जाकर एक किले में बन्द कर दीं। आर्यों ने पणियों को समझा बुझाकर गायों को छुड़ाने का प्रयत्न किया। इस घटना से भी आर्यों व पणियों के पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रकाश पड़ता है। इस प्रकार डॉ० अलतेकर के मतानुसार ई० पू० २०००-१५०० के लगभग आर्य व पणि राजनैतिक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में एक साथ ही प्रगति कर रहे थे। यदि यह मन्तव्य सत्य हो तो यह स्पष्ट होगा कि ऋग्वेद काल की राजनैतिक अवस्था में पणि अर्थात् हरप्पन लोगों का बहुत महत्त्व था, और वे सरस्वती नदी के दक्षिणवर्ती प्रदेश, (आधुनिक राजस्थान, सौराष्ट्र, गुजरात आदि) में बस गये थे।

पारस्परिक युद्ध

ऋग्वेद के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन विभिन्न राज्य न केवल दस्युओं या दासों से लडा करते थे, किन्तु परस्पर भी लडा करते थे। ऋग्वेद में बहुत से मन्त्र हैं जिनमें युद्धों का उल्लेख व वर्णन है तथा युद्धों में प्राप्त विजयों का विशद विवेचन है। ऋग्वेद के महत्त्वपूर्ण ऋषियों ने शत्रुओं की पराजय या उनके नाश से सम्बन्धित बहुत से प्रार्थना मन्त्र रचे हैं। इन्द्र आर्यों का युद्ध-देवता प्रतीत होता है। उसी देवता को विभिन्न युद्धों में विजय प्राप्त करने का श्रेय दिया जाता है। इन्द्र ने शत्रुओं के किलों को तोडा, उनके राज्यों को जीता, उन्हें अधीनस्थ किया, तथा उन्हें पूर्णतया नष्ट किया। ऋग्वेद[2] में उल्लेख आता है कि बीस राजाओं ने मिलकर सुश्रवा राजा पर आक्रमण किया, किन्तु उसने इन्द्र की सहायता से उन सब को हरा दिया।

दाशराज्ञ युद्ध

यह युद्ध तृत्सुओं के राजा सुदास तथा अनु, द्रुह्यु, भरत, यदु, तुर्वश, पुरु, शिग्रु, अज, शिग्रु, यक्षु आदि दस राजाओं के मध्य

[1] १०।१०८

[2] १।५३।९-१०

हुआ था।[1] सुदास की ओर से परशु व पृथु[2] तथा अलीन, पक्थ भलानस, शिव, विषाणिन आदि राजा भी युद्ध मे सम्मिलित हुए थे। विश्वामित्र व वसिष्ठ के पारस्परिक मतभेदों के कारण यह युद्ध हुआ ऐसा इतिहास के विद्वान् मानते हैं।[3] वसिष्ठ से मत भेद होने के कारण विश्वामित्र सुदास का संरक्षण त्याग कर भरत राज्य में चले गये। उनके प्रयत्न से तृत्सु के विरुद्ध दस राजाओं का सङ्घ तैयार हुआ, जिसने अपने शत्रु पर आक्रमण की तैयारी की।

विश्वामित्र के नेतृत्व में पूर्व की ओर से दस राजाओं का सङ्घ आगे बढा तथा शुतुद्री व विपाश को पार कर परुष्णी के दक्षिण की ओर पहुँच गया। सुदास ने अपने साथियों सहित परुष्णी के उत्तरी तट पर शत्रुओं से सङ्घर्ष करने की तैयारी की थी। इस प्रकार सुदास व उसके शत्रुओं के बीच परुष्णी नदी थी। सुदास की सेना की एक टुकडी ने रात्रि के अन्धेरे में परुष्णी पार कर शत्रु की सेना पर पीछे से आक्रमण किया। दस राजाओं की सेना इस अनपेक्षित आक्रमण से घबरा गई और उसके सैनिक इधर उधर भागने लगे तथा कितने ही परुष्णी में डूब गये। श्रुत, कवप, द्रुह्यु आदि के वीर योद्धा नदी में डूब गये।[4] लगभग साठ हजार अनु व द्रुह्यु योद्धा युद्ध में मारे गये।[5] इन्द्र की कृपा से सुदास के शत्रुओं की सब सेनाएं नष्ट हो गईं व सुदास विजयी हुआ।[6] इसके पश्चात् सुदास ने शत्रुओं के प्रदेशों पर आक्रमण किया व उनके किले तथा नगरों को नष्ट किया।[7] उसने अनुराज्य को अपने राज्य में मिला लिया। तुर्वश, द्रुह्यु, भरत आदि राज्य पराजित किये गये। उसने अज, शिग्रु, यक्षु आदि के राजाओं को भी पराजित

---

[1] ऋ० ७।१८

[2] ऋ० ७।८३।१

[3] ए० सी० दास-ऋग्वेदिक कल्चर, पृ० ३५८–५९, ऋ० ३।५३।२४

[4] ऋ० ७।१८।१२,

[5] ऋ० ७।१८।१४

[6] ऋ० ७।१८।१५, १६,

[7] ऋ० ७।१८।१३

किया।[1] सुदास ने इन आक्रमणों में जो कुछ द्रव्य प्राप्त किया था वह सब ऋषियों में बाँट दिया।[2]

उपरोक्त वर्णन से सिद्ध होता है कि सुदास ऋग्वेदकालीन एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण राजा था, जिसने सप्तसिन्धु प्रदेश के बहुत से राज्यों को जीत कर अपने साम्राज्य का विकास किया था।

8

शासनपद्धति

वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक युग में शासनसम्बन्धी विभिन्न संविधान प्रचलित थे, जिनके द्वारा विभिन्न राज्यों का शासन-कार्य सम्पादित किया जाता था। ऋग्वेद में स्थान-स्थान पर राजतन्त्र से सम्बन्धित कितने ही पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख है। राजा, राज्य आदि शब्द बार-बार उल्लिखित किये गये हैं। समाज में राजपद का इतना महत्त्व था कि देवताओं के सामर्थ्य, सत्ता व शक्ति को समझाने के लिये उनकी तुलना राजा से की है। राजा के प्रजापालन, प्रजाहित के कार्य आदि से सम्बन्धित कर्तव्यों व आदर्शों को वरुण-सूक्तों से भली भाँति समझा जा सकता है। वैदिक युग के राजा के कर्तव्यों व आदर्शों का सुन्दर चित्रण वरुणसम्बन्धी मन्त्रों में किया गया है। वरुण को बहुधा राजा शब्द से सम्बोधित किया गया है।[3] इसी प्रकार युद्धों द्वारा अपने राज्य का विकास करना, शत्रुओं का दमन करके उनके राज्यों को जीत अपने राज्य को समृद्धिशील बनाने का प्रयत्न करना आदि से सम्बन्धित राजा के कर्तव्य व आदर्श इन्द्र-सूक्तों में चित्रित किये गये हैं। इसीलिये इन्द्र को आर्यों का राष्ट्रीय देवता भी माना जाता है। इस से स्पष्ट होता है कि वैदिक युग में राजतन्त्र बहुत लोकप्रिय था। इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्य में कितने ही राजाओं का तथा राजवंशों का भी

---

[1] ऋग्वेद ७।१८।१९;

[2] ऋग्वेद ७।१८।२२–२४

[3] ऋ० १।२४।८ १२

उल्लेख आता है, उन उल्लेखों से भी राजतन्त्र का महत्त्व स्पष्ट होता है।

ऋग्वेद आदि वैदिक साहित्य में साम्राज्य[1], सम्राट्[2] आदि शब्दों का भी उल्लेख कितने ही मन्त्रों में आता है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में विभिन्न राजाओं के मध्य युद्धों का जो वर्णन है, उससे भी साम्राज्य-विकास का स्पष्ट पता लगता है। सुदास ने विभिन्न राजाओं को पराजित कर सप्तसिन्धु में अपना साम्राज्य स्थापित किया था।

वैदिक युग का राजपद पूर्णतया निरङ्कुश नहीं था। सभा,[3] समिति[4] आदि संस्थाओं द्वारा राजपद को संचालित व नियन्त्रित किया जाता था। सभा व समिति ने एक प्रकार से जनतांत्रिक वातावरण निर्मित कर दिया था, जिसके परिणामस्वरूप जनतन्त्र-शासनप्रणाली का उदय हुआ। यजुर्वेद[5] म 'गण' व 'गणपति' शब्दों का जो उल्लेख है, उसे कदाचित् राजनैतिक अर्थ में लिया जा सकता है, क्योंकि उससे आगे के मन्त्रों में सेनानी, रथी, क्षत्ता आदि का उल्लेख और ये शब्द स्पष्टतया राजनैतिक जीवन से सम्बन्धित हैं। इसके अतिरिक्त यजुर्वेद में 'स्वराट्'[6] व 'विराट्'[7] शब्दों का उल्लेख आता है, स्वराट् को उत्तर से व विराट् को दक्षिण से सम्बन्धित किया गया है। विद्वानों का मत है कि स्वराट् व विराट् प्रजातन्त्रात्मक शासन प्रणाली से सम्बन्धित थे। इस प्रकार वैदिक युग में जनतान्त्रिक संविधान भी वर्तमान थे।

ऐतरेय ब्राह्मण में आठ प्रकार के संविधानों का वर्णन आता है। उसमें यह भी बताया गया है कि वे संविधान किन देशों में थे तथा उनके शासकों की पदवियाँ क्या थीं। ऐतरेय ब्राह्मण में

[1] ऋ० १।२५।१०,

[2] ऋ० ८।१६।१

[3] ऋ० ८।४।९, १०।७१।१०, ७।१।४, अथर्व० १९।५७।२,

[4] ऋ० १।९५।८, ९।९२।६, १०।९७।६

[5] १६।२५,

[6] यजु० १५।१३

[7] यजु० १५।११

[8] –।२।१४

वर्णन आता है कि पूर्व दिशा में जो प्राच्यों के शासक हैं वे साम्राज्य के लिये अभिषिक्त होते हैं; उनको अभिषिक्त होने पर सम्राट् कहा जाता है। दक्षिण दिशा में सत्वतों के जो शासक हैं वे भोज्य के लिये अभिषिक्त होते हैं; उन्हें अभिषिक्त होने पर भौज्य कहा जाता है। पश्चिम दिशा में जो नीच्यों व अपाच्यों के शासक हैं वे स्वाराज्य के लिये अभिषिक्त होते हैं; उन्हें अभिषिक्त होने पर स्वराट् कहा जाता है। उत्तर दिशा में हिमालय के निकट जो उत्तर कुरु, उत्तर-मद्र आदि देश हैं उनके शासक वैराज्य के लिये अभिषिक्त होते हैं; उन्हें अभिषिक्त होने पर विराट् कहा जाता है। मध्यमा प्रतिष्ठा (मध्य देश) में कुरु-पाञ्चाल, सवश, उशीनर आदि के राजा राज्य के लिये अभिषिक्त होते हैं; अभिषिक्त होने पर उन्हें राजा कहते हैं। ऊर्ध्व दिशा में जो मरुत अङ्गिरस् आदि देवता हैं, वे पारमेष्ठ्य, माहाराज्य, आधिपत्य, स्वावश्य आदि के लिये अभिषिक्त होते हैं। इसी प्रकरण में आगे समुद्रपर्यन्त पृथ्वी पर शासन करने वाले सार्वभौम एकराट् शासक का भी उल्लेख आता है।[1] इस प्रकार उपरोक्त वर्णन में आठ प्रकार के संविधान उल्लिखित हैं यथा—साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, राज्य, पारमेष्ठ्य, माहाराज्य, आधिपत्य, और ये संविधान भारत के विभिन्न भागों में वर्तमान थे। इनके अतिरिक्त समुद्रपर्यन्त सार्वभौम शासक का भी उल्लेख है।

उपरोक्त शासन-संविधानों की शासन-सम्बन्धी क्या विशेषताएँ थीं, इस पर विस्ताररूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। किन्तु इन्हें दो विभागों में विभाजित किया जा सकता है, यथा प्रजातन्त्र व राजतन्त्र। भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य आदि प्रजातन्त्रात्मक, तथा राज्य, पारमेष्ठ्य, माहाराज्य, आधिपत्य, साम्राज्य आदि राजतंत्रात्मक प्रतीत होते हैं। यदि इन संविधानों पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाय तो कहा जा सकता है कि उनमें से तीन, स्वाराज्य, साम्राज्य व भौज्य की पुष्टि इतिहास द्वारा होती है। प्राचीन काल में बड़े २ साम्राज्यों का सूत्रपात पूर्व में ही हुआ था, जैसे जरासन्ध व शिशुपाल का साम्राज्य तथा नन्द, मौर्य, गुप्त आदि के साम्राज्य[2]। इसी प्रकार पश्चिम में प्रजासत्तात्मक राज्यों का

---

[1] ऐतरेय ब्राह्मण, ८।४।१५,

[2] स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया (चौथी आवृत्ति), पृ० १२१—१२८, ३१८—३४५, ३४८—३७२

येन्य रहा है, जैसे मालव, क्षुद्रक, आर्जुनायन[1] आदि। दक्षिण
गेज्य के बारे में बौद्ध साहित्य, पुराण, अशोक के धर्मलेख आदि
ता चलता है।[2]

५

तन्त्र

वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि
क युग के राजनैतिक जीवन में राजतन्त्र का महत्त्वपूर्ण स्थान था।
ालीन भारत में विभिन्न राज्य वर्तमान थे, जिनका शासन साधारण-
राजाओं द्वारा होता था। उस युग में राजा के जो आदर्श, कर्तव्य,
रदायित्व आदि थे, उनका परोक्षरूप से उल्लेख वैदिक साहित्य
त्र-तत्र किया गया है। वैदिक काल के राजा के कर्तव्यों व
रदायित्वों को साधारणतया दो भागों में विभाजित किया जा
ता है, यथा (१) राज्य की आन्तरिक व्यवस्था, प्रजाहित-
न आदि से सम्बन्धित कर्तव्य, (२) राज्य की वैदेशिक नीति
सम्बन्धित कर्तव्य। इन दोनों प्रकार के कर्तव्यों का सुन्दर विवे-
ऋग्वेद के वरुण व इन्द्र से सम्बन्धित सूक्तों में किया गया है।
ण देवता की कल्पना के समय वैदिक ऋषियों के मन में तत्का-
न आदर्श राजा की घरेलू नीति का चित्र था, तथा इन्द्र की
पना के समय उसकी वैदेशिक नीति का चित्र।

ऋग्वेद में वरुण को नैतिकता का देवता माना गया है। उसका
सूर्य के समान चमकता है। अपने प्रासाद में बैठकर वह
ष्यों के कर्मों का निरीक्षण करता है। उसके गुप्तचर दोनों
कों का अवलोकन करते हैं। सूर्य उसका सोने के पंखवाला
है। वह राजा है, विश्व का सम्राट् है। उसकी शक्ति, माया
उसके दिव्य साम्राज्य का उल्लेख वैदिक साहित्य में कितनी ही
र किया गया है। वह भौतिक व नैतिक व्यवस्था का संचालक

[1] का० प्र० जायस्वाल—हिन्दु पॉलिटी, भा० १, पृ० ९१–९२

[2] अङ्गुत्तर निकाय, ३।७६; चट्टान पर खुदे हुए अशोक के चौदह धर्मलेख—गिरनार लेख सं० ५, शाहबाजगढी लें० सं० १३

है। उसके नैतिक नियमों को ऋत कहा गया है, जिसका पालन देवताओं को भी करना पड़ता है। उसके तीन पाश (बन्धन) हैं, उत्तर, मध्यम व अधर जिन्हें ऋत द्वारा ही तोड़ा जा सकता है। उसकी शक्ति इतनी बड़ी है कि उसके साम्राज्य के छोर तक न तो आकाश में उड़ने वाले पक्षी और न भूमिपर बहने वाली नदियाँ ही पहुँच सकती हैं।

इन्द्र के बारे में ऋग्वेद में कहा गया है कि त्वष्ण द्वारा बनाये हुए वज्र को धारण कर व कभी कभी धनुष बाण लेकर वह असुरों का मर्दन करता है। सोम पीकर मरुतों को साथ लेकर वह वृत्र या अहि पर आक्रमण करता है। जब घनघोर युद्ध होता है, तब पृथ्वी व आकाश काँपने लगते हैं। परिणामतः वज्र द्वारा वृत्र के टुकड़े टुकड़े होते हैं, तथा रुका हुआ पानी स्वतन्त्र की गई गायों के समान दौड़ निकलता है। इस प्रकार इन्द्र वृत्रघ्न कहलाता है। इस युद्ध में मरुत हमेशा उसके साथ रहते हैं तथा अग्नि, सोम, व विष्णु भी उसे बहुत सहायता देते हैं।

इस प्रकार वरुण व इन्द्रसम्बन्धी सूक्तों से वेदकालीन राजाओं की शासन-व्यवस्था, उनकी युद्ध नीति आदि पर प्रकाश पड़ता है। वरुण के ऋत में तत्कालीन लोकहितकारी सुदृढ़ व सुव्यवस्थित शासन प्रणाली के दर्शन होते हैं, जिसमें गुप्तचर, दूत आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान था। इन्द्र के रथ में बैठ कर मरुतादि देवताओं की सहायता से वृत्र को पराजित करने के कार्य में तत्कालीन राजाओं द्वारा दस्युओं से किये गये युद्धों का भास होता है। इन्द्र-वृत्र युद्ध को, जिसका अन्त इन्द्र की विजय में हुआ, आर्य दस्यु युद्ध की प्रतिच्छाया कह सकते हैं।

वैदिक साहित्य में राजा व उसके कार्यों से सम्बन्धित कितनी ही महत्त्वपूर्ण बातों का उल्लेख है। राजदरबार में राजन्य या राजन् रहते थे, जो कि राजकुल से सम्बन्धित थे। वे लोग राजा का प्रबल समर्थन करते थे। राजपुरोहित का स्थान भी महत्त्वपूर्ण था, जो राजा की धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता था। ग्रामों का मुखिया ग्रामणी भी युद्ध आदि के अवसर पर राजा को सहायता देता था। सूत राजा का रथ हाँकनेवाला था, जो सर्वदा राजा के साथ रहता था तथा युद्धक्षेत्र में उसके रथ का संचालित करता था। राजा के सेनापति को सेनानी कहा जाता था, जो कि सेना

का सर्वोपरि अध्यक्ष था।[1] युद्ध का सञ्चालन, व्यवस्था आदि का सम्पादन उसी के द्वारा किया जाता था। इनके अतिरिक्त राजा को शासन-कार्य में सहायता प्रदान करने के लिये अन्य कर्मचारी भी थे, जैसे मध्यमशी, जो न्यायाधीश था, क्षत्ता,[2] जो कि अच्छी २ वस्तुओं का वितरण करता था। शतपथ ब्राह्मण[3] में उसे "अन्तःपुराध्यक्ष" कहा गया है। राजा के कोषाध्यक्ष को संग्रहीता, तथा कर वसूल करने वाले को भागदुघ कहा जाता था।

राजा एक बड़े महल में रहता था, जो सुरक्षित रहता था और जिसमें बहुत से द्वार तथा स्तम्भ रहते थे। ऋग्वेद[4] में राजा वरुण के महल का जो वर्णन किया गया है, उस पर से तत्कालीन राजमहल की कल्पना की जा सकती है। राजा सुन्दर व बहुमूल्य वस्त्र तथा आभूषण धारण करके जनता के सम्मुख उपस्थित होता था।[5] वह सोने का मुकुट धारण करता था व हाथी की सवारी करता था। इस प्रकार राजा को अपने कर्मचारियों की सहायता से राज्य की बाह्य व आन्तरिक नीति का संचालन करना पड़ता था।

प्राचीन भारत में राजा दो प्रकार के रहते थे, वंशक्रमागत व निर्वाचित। वेद, ब्राह्मण, महाभारत, पुराण आदि प्राचीन ग्रन्थों में, जिन्होंने कितनी ही प्राचीन अनुश्रुतियों को सुरक्षित रखा है, राजाओं के वंशक्रम का उल्लेख है, तथा महाभारत, पुराण आदि में उनकी वंशावलियाँ दी हैं, जिनसे पता चलता है कि राजाओं के अधिकार बहुधा वंशक्रमागत ही रहते थे। किन्तु ऋग्वेद, अथर्ववेद आदि में राजा के निर्वाचन का उल्लेख भी आता है।[6] वैदिक काल में प्रजा के प्रतिनिधियों की एक समिति रहती थी, जिसके द्वारा राजा का निर्वाचन होता था।[7]

प्राचीन साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल

---

[1] ऋग्वेद ७।२०।५; ८।६९।१; १०।८४।२

[2] ऋग्वेद ६।१३।२

[3] ५।३।१।७

[4] ऋग्वेद २।४१।५; ७।८८।५

[5] ऋग्वेद १०।७८।१; १।८५।८, ८।५।५८

[6] ऋग्वेद १०।१७३।१; अथर्ववेद ६।८७।१; ३।४।२;

[7] ऋग्वेद ९।९२।६; अथर्ववेद ५।१९।१५; ६।८८।३

ही समाज म राजा की आवश्यकता का अनुभव किया गया था। माज में यह भावना थी कि यदि राजा न रहा तो कोई नियन्त्रण रहेगा तथा मात्स्यन्याय के अनुसार सशक्त अशक्त का नाश रेगा। इस परिस्थिति को दूर करने के लिये ही राजा की आव श्यकता हुई[1]। जिस प्रकार शासनोत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न सिद्धान्त वर्तमान थे, उसी प्रकार राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी थे। पहिला सिद्धान्त रूसो के सिद्धान्त से मिलता जुलता था। राजा प्रजा की रक्षा करने के लिये निर्मित किया गया था, जिस कार्य के बदले में उसे खेत की उपज का छठवां भाग व व्यापार की आमदनी का दसवा भाग करके रूप में दिया जाता था। यह एक प्रकार से प्रजारक्षण के कार्य्य के लिये उसका वेतन था। उसे विशेष प्रजा का रञ्जन करना पड़ता था, जिससे उसका राजा नाम सार्थक हो जाय। महाभारत आदि ग्रन्थों में राजा शब्द के व्युत्पत्त्यर्थ का सम्यक् निरूपण किया गया है,[2] जिसमें समझाया गया है कि प्रजा का रञ्जन करना, उसे सुख समृद्धिशील बना कर प्रसन्न करना ही राजा का मुख्य कर्तव्य है।

राजपद की उत्पत्ति के सम्बन्ध म भी प्राचीन काल में विभिन्न मन्तव्य उपस्थित किये जाते थे। इनमें मात्स्यन्याय का सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण था। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रारम्भिक अवस्था में मानव समाज परस्पर लड़ता झगड़ता था। जिस प्रकार जल में बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को निगल जाती है, उसी प्रकार अराजक समाज में सशक्त अशक्त को निगल जाते हैं। कुछ समय के पश्चात् लोगों न ऐसी परिस्थिति का घ्पद्रायच समझ तथा शान्ति स्थापित करने के लिये अपने को शासन के सूत्र में बाँध लिया। ऐतरेय ब्राह्मण आदि प्राचीन साहित्य में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। पाश्चात्य राजनीतिशास्त्र विशारद हॉब्स ने भी इसीका प्रतिपादन

---

[1] बौधायन धर्मसूत्र १।१०।१, वाल्मीकि रामायण अयोध्या० ६७।३१, मनुस्मृति ७।३, १३–२१

[2] महाभारत शान्ति० ५९ १२५ रञ्जिता प्रजा सर्वास्तेन राजेति शब्द्यते।'

किया है।[1] ऐतरेय ब्राह्मण[2] में वर्णन आता है कि देव व असुरों का युद्ध हुआ। असुरों ने देवताओं को सब दिशाओं में हराया। देवताओं ने सोचा कि राजा न रहने से असुर हमें हराते हैं। इसलिये किसी को राजा बनाना चाहिये। फिर उन्होंने सोम को राजा बनाया, जिसने सब दिशाओं में असुरों को पराजित किया। मनुस्मृति[3] में लिखा है कि इस अराजक लोक में जहाँ चहुँओर भय ही भय था, सब की रक्षा के लिये परमात्मा ने राजा को उत्पन्न किया। यदि लोक में दण्ड न हो तो यह सब प्रजा नष्ट हो जायगी। अधिक बलवान् दुर्बलों को जल में मछलियों के समान (सशक्त मछली दुर्बल मछली को खा जाती है) खा जायेंगे। बौद्ध जातक में भी इसी सिद्धान्त का अनुसरण कर एक कथा वर्णित की गई है।[4] उसमें लिखा है कि इस कल्प का सर्वप्रथम राजा सुमेध था। प्रारम्भिक अराजकता को दूर करने के लिये वह राजा बनाया गया था। उसने समस्त अराजकता को दूर कर मानव-समाज में पुन व्यवस्था व संगठन स्थापित किये। इसी अराजकता का वर्णन अर्थशास्त्र[5], शुक्रनीति[6] व कामन्दकनीति[7]सार में आता है।

प्राचीन काल में राजोत्पत्ति से सम्बन्धित एक और सिद्धान्त प्रचलित था, जो कि रूसो के "सामाजिक समझौते" (Social Contract) के सिद्धान्त से मिलता जुलता था। इस सिद्धान्त के अनुसार

---

[1] लीकॉक-पोलिटिकल साइन्स, अ० १,

[2] १।१४, देवासुरा वा एषु लोकेषु समयतन्त तास्ततोऽसुरा अजयन् देवा अब्रुवन्नराजतया वै नो जयन्ति राजानं करवामहा इति तथेति ।,"

[3] ७।३ अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात् । रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभु ॥ ७।२०, दडश्चेन भवेल्लोके विनश्येयुरिमा प्रजा । जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन् दुर्बलान् बलवत्तरा ॥'

[4] जातक १।३९९,

[5] अर्थशास्त्र १।१४ "मात्स्यन्यायाभिभूता प्रजा मनु, वैवस्वत राजानं चक्रिरे । धान्यषड्भाग पण्यदशभाग हिरण्य चास्य भागधेय प्रकल्पयामासु । तेन भृता राजान प्रजाना योगक्षेमवहा ।",

[6] १।७१,

[7] १।१०

प्रारम्भिक अवस्था में मानव-समाज सत्ययुग में था। किसी प्रकार का भी पाप नहीं था। सब लोग आनन्द में रहते थे। इस कृतयुग में सर्वप्रथम राज्य, राजा, दण्ड, दाण्डिक आदि कुछ भी नहीं थे। सब लोग धर्म से ही परस्पर रक्षा करते थे। किन्तु वे धीरे-धीरे मोहाभिभूत हुए, तथा सन्मार्ग से बिछुड़ने लगे। इस प्रकार उन्हें कष्ट हुआ। वे आपस में लड़ने लगे व समाज में अशान्ति फैलने लगी। इस मात्स्यन्याय से सताये जाने पर उन्होंने मनुवैवस्वत को अपना राजा बनाया तथा उसे धान्यषड्भाग व पण्यदशभाग देने लगे। उसका कर्तव्य जनता की रक्षा करना था और जनता का कर्तव्य उसके आधिपत्य में रहना था। महाभारत,[1] अर्थशास्त्र[2] आदि में इस सिद्धान्त का स्पष्ट उल्लेख है।

शासनोत्पत्ति के विषय में विद्वानों द्वारा एक और सिद्धान्त प्रतिपादित किया जाता है, जिसे "पितृपक्षप्राधान्य सिद्धान्त" (Patriarchal theory) कहते हैं। इस सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि शासन का सूत्रपात परिवार से प्रारम्भ होता है। परिवार में पिता सर्वोपरि रहता है तथा सब पर शासन करने वाला होता है। ज्यों २ मानव-समाज विकसित होने लगा, त्यों २ पारिवारिक शासन के समान राजकीय शासन का भी विकास हुआ। प्राचीन आर्य्यों में सम्भवतः शासन का प्रारम्भ इसी प्रकार हुआ होगा। तुलनात्मक भाषा-शास्त्र के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार शासन का विकास केवल भारतीय आर्यों में ही नहीं हुआ, किन्तु यूरोप के आर्य्यों में भी हुआ। वैदिक काल के 'राजा' 'विशपति' 'जन' 'विश' आदि शब्दों के अपभ्रष्ट रूप यूरोप की मुख्य मुख्य भाषाओं में पाये जाते हैं,[3] जिससे स्पष्ट है कि प्राचीन काल के समस्त आर्य भिन्न-भिन्न विभागों में विभक्त थे जिनका मूल 'कुल' था। उन सब विभागों के नाम भी वैदिक भाषा के तदर्थक शब्दों से ही लिये गये हैं। सर हेनरी मेन इस सिद्धान्त का समर्थन करते हुए लिखते हैं कि सोलहवीं व सत्रहवीं शताब्दि में रूस में लगभग दो सौ या तीन सौ ऐसे परिवार थे जो एक ही गृहपति द्वारा सञ्चालित व

---

[1] शान्तिपर्व, अ० ६६,

[2] १।८४

[3] ग्रिसवोल्ड–दी रिलीजन ऑफ दि ऋग्वेद, पृ० ३, ४

शासित किये जाते थे। इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन अथर्ववेद[1] में किया गया है, जहाँ कहा गया है कि विराट् सर्वप्रथम वर्तमान था। उसने गार्हपत्य, आहवनीय व दक्षिणाग्नि में प्रवेश किया। उसने सभा, समिति आदि में भी प्रवेश किया।

राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक और सिद्धान्त वैदिक युग में प्रचलित था। इसके अनुसार राजा परमात्मा का अंश माना जाता था। इस सिद्धान्त का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण[2] में आता है, जहाँ राजा को प्रजापति कहा गया है, क्योंकि उसके अधीन कितने ही व्यक्ति रहते हैं। उक्त ग्रंथ में 'चक्रवर्तिन्' शब्द के चक्र को विष्णु के चक्र से सम्बन्धित किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण[3] में राज्याभिषेक के मन्त्रों में अग्नि, गायत्री, स्वस्ति, बृहस्पति आदि देवताओं से राजा के शरीर में प्रवेश करने की प्रार्थना की गई है। महाभारत[4] के शान्तिपर्व में वर्णन आता है कि नारायण ने अपने तेज से एक पुत्र उत्पन्न किया, व पृथु वैन्य का सातवां वंशज राजा बनाया गया। विष्णु भगवान् ने उसके शरीर में प्रवेश किया। इसीलिये समस्त विश्व ने उसे परमात्मा समझ उसका आधिपत्य स्वीकार किया। देव व नरदेव में कोई अन्तर नहीं है। मनुजी[5] ने भी कहा है कि राजा नररूप में देवता ही है। राजा को देवता का अंश मानने का यह मतलब कदापि नहीं था कि वह जो चाहे सो कर सकता था। जो राजा प्रजापालन आदि कर्तव्यों को अच्छी तरह निबाहता था, उसी को देवता कहलाने का अधिकार प्राप्त था, अन्य को नहीं। जो राजा प्रजा को सताता था उसे तो महाभारत[6] ने कुत्ते के समान मार डालने का आदेश दिया है, जैसा कि वेन, नहुष आदि वैदिक युग के राजाओं का हाल हुआ।

राज्याभिषेक

वैदिक युग में राजपद के विकास में यज्ञादि धार्मिक कृत्यों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। राजपद के विकास में राजसूय, वाजपेय,

---

[1] ८।१०।१–३
[2] ५।१५।१४;
[3] ८।२।६;
[4] शान्तिपर्व, अ० ५९;
[5] मनुस्मृति ७।८;
[6] अनुशासनपर्व, ६१।३२ ३३.

अश्वमेध, सर्वमेध आदि यज्ञ भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं थे। राजाओं को इन सब यज्ञों के द्वारा अपने वीरता, त्याग व तप का परिचय देना पड़ता था, तब कहीं उन्हें 'मूर्धाभिषिक्त' या चक्रवर्ती की पदवी से विभूषित किया जाता था। शतपथ ब्राह्मण[1] में कहा गया है कि राजसूय यज्ञ राजा का ही है। राजसूय यज्ञ करने पर ही राजा यथार्थ में राजा बनता है। ऐतरेय ब्राह्मण[2] में ऐन्द्रमहाभिषेक के प्रकरण में दर्शाया गया है कि क्षत्रिय राजा अभिषिक्त होने पर तथा अपने पुरोहित को समुचित आदर प्रदान कर सुकृत, आयु, प्रजा, इष्टापूर्त आदि को सफलतापूर्वक प्राप्त होता है।

शतपथ, ऐतरेयादि ब्राह्मणों के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि राजा के जीवन में राज्याभिषेक संस्कार अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण था। प्रत्येक राजा को राज्यसिंहासन पर बैठने के पश्चात् अपने पुरोहितों द्वारा राज्याभिषेक करवाना पड़ता था। उसके पश्चात् वह 'मूर्धाभिषिक्त' राजा कहलाता था। विभिन्न तीर्थों के जल से राजा का अभिषेक किया जाता था, तथा उसे रत्नहविष् प्रदान करने पड़ते थे। इस प्रकरण के वर्णन में शतपथब्राह्मण[3] ने ग्यारह रत्नियों का उल्लेख किया है, जिनका शासनतन्त्र में महत्त्वपूर्ण स्थान था। ये रत्नी इस प्रकार हैं :—सेनानी, पुरोहित, क्षत्र (राजसत्ता का प्रतिनिधि), महिषी, सूत, ग्रामणी, क्षत्तृ (अन्त पुराध्यक्ष), संग्रहीतृ (कोषाध्यक्ष), भागदुह (कर आदि से सम्बन्धित विभाग का अध्यक्ष), अक्षावाप (आय व्यय लेखाध्यक्ष) और गोविकर्तृ (वनाध्यक्ष)। ये रत्नी, जिनका उल्लेख यजुर्वेद तथा पञ्चविंश आदि ब्राह्मण में भी आता है, वैदिककालीन शासन-व्यवस्था में अवश्य ही महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व का निर्वाह करते होंगे। वे कदाचित् मंत्रि-

---

[1] ५।१।१।१२ "राज्ञ एव राजसूयम्। राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति ..।";

[2] ८।१५' एतेनैन्द्रेण महाभिषेकेण क्षत्रिय शापयित्वाभिषिचेद्या च रात्रीमजायेथा या च प्रेतासि तदुभयमन्तरेणेष्टापूर्तं ते लोक सुकृतमायु प्रजा वृञ्जीयदिमे द्रुह्येरिति स य इच्छेदेवविरक्षत्रियोह सर्वाजितीर्जयेयमह सर्वाल्लोकान्विदेयमहं सर्वेषां राज्ञां श्रैष्ठ्यमतिष्ठा परमता गच्छेयं साम्राज्य भौज्य स्वाराज्य वैराज्य पारमेष्ठ्य राज्य माहाराज्यमाधिपत्य...... . ....
यदि ते द्रुह्येयमिति।

[3] ५।३।१

मण्डल के सदस्य हों या राज्य के उच्च कर्मचारी हों। उनके बारे में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। साधारणतया इन रत्नियों में राजा के सम्बन्धी, मन्त्री, विभागाध्यक्ष, रानी व पुरोहित का समावेश होता था। राज्याभिषेक के अवसर पर इनको जो महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया था, उससे स्पष्ट होता है कि राज्य-व्यवस्था में उनका स्थान अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण था। नये राजा के मानस पर राज्याभिषेक के अवसर पर यही तथ्य अङ्कित किया जाता था। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग में के रत्नियों में जिन राज्य-कर्मचारियों का समावेश होता था वे राज्य के सुदृढ़ स्तम्भ माने जाते थे। कदाचित् उनकी नियुक्ति तत्कालीन समिति के सदस्यों में से की जाती होगी। समय के प्रवाह में वैदिक यज्ञों के लुप्त होने पर रत्नी-संस्था भी लुप्त होगई व उसका स्थान मन्त्री, अमात्य या सचिव-परिषद् ने ग्रहण किया।

६

राजनैतिक वातावरण

वैदिक युग में सामाजिक जीवन की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अनुरूप ही राजनैतिक जीवन का विकास हुआ था। सांस्कृतिक जागृति ने राजनैतिक जागृति को जन्म दिया था। राजपदादि विभिन्न राजनैतिक संस्थाएँ वैदिक काल से ही लोक-कल्याण की दृष्टि से विकसित की गई थीं। कदाचित् सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्था में वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षा, वैयक्तिक स्वार्थ, पाशविक बल आदि की प्रेरणा से राजनैतिक जीवन का प्रारम्भ हुआ हो, किन्तु वैदिक युग में तो परिस्थिति बिलकुल ही बदल चुकी थी। वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन के प्रत्येक पहलू को सांस्कृतिक आधारशिला पर आश्रित किया गया था। वैदिक युग के राजा को जनहित का पूरा विचार करना पड़ता था। जनता अपने राजनैतिक अधिकारों के लिये पूर्ण रूप से जागरूक थी। सांस्कृतिक विकास व दार्शनिक मनोवृत्ति के कारण समाज में इतना मनोबल विकसित हो गया था कि वह किसी भी अत्याचार व शोषण का सफल विरोध कर सकता था।

राजसंस्था

वैदिक युग में राजसंस्था सांस्कृतिक व दार्शनिक पृष्ठभूमि पर विकसित हुई थी। साधारणतया राजा वंश क्रमागत रहा करते थे, किन्तु वैदिक साहित्य में उनके निर्वाचन का उल्लेख भी आता है। इस सम्बन्ध में मैकडॉनेल,[1] जिम्मर,[2] गेल्डनर,[3] वेबर[4] प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों ने स्पष्टतया कहा है कि वैदिक युग का राजा साधारणतया वंश क्रमागत था, किन्तु वह निरंकुश नहीं था। उसकी सत्ता समिति में दर्शाई गई जनता की इच्छा द्वारा नियन्त्रित रहती थी। वैदिक युग में सभा समिति आदि द्वारा प्रजा राजा पर नियन्त्रण रखती थी।

वैदिक युग में वंशक्रमागत राजाओं के अतिरिक्त प्रजा के प्रतिनिधियों द्वारा निर्वाचित राजा भी रहते थे। ऋग्वेद[5] तथा अथर्ववेद[6] में समिति द्वारा राजा के चुनाव का उल्लेख है, जहाँ समिति के द्वारा राजपद के लिये चुने जाने के पश्चात् राजा को समस्त राष्ट्र का भार वहन करने के लिये कहा गया है। उसे दृढतापूर्वक अपने कर्तव्यों का निर्वाह कर राष्ट्र की सेवा करने का आदेश दिया गया है। पर्वत व इन्द्र के समान दृढ बनकर अपने मार्ग से विचलित न हो उसे दृढतापूर्वक शत्रु का नाश करना चाहिये। राजा के पदच्युत किये जाने के पश्चात् पुन निर्वाचित होने का उल्लेख भी वैदिक[7] साहित्य म आता है। उक्त प्रकरण में राजा को सम्बोधित करके कहा गया है—"तुम्हें जनता राजपद के लिये चुने, ये दिशाएँ तुम्हें चुनें। तुम राष्ट्र के कंधे पर बैठो व उस स्थान से भौतिक समृद्धि का विकास करो।"[8] इस प्रकार वैदिक प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है कि वैदिक काल में प्रजा के द्वारा राजा का चुनाव

[1] हिस्ट्री ऑफ सस्कृत लिटरैचर पृ० १५८

[2] Altindiches Leben, 162 ff

[3] Vedische Studien II, 303

[4] Indische Studien, XVII, 88

[5] १०।१७३।१

[6] ६।८७।१, ६।८८।३

[7] अथर्ववेद, ३।४।२, ३।३।४, ३।४।६

[8] अथर्ववेद ३।४।२

होता था। उसे प्रजा की भौतिक समृद्धि की ओर विशेष ध्यान देना पड़ता था। यदि वह अपने कर्तव्यों के निर्वाह में असफल होता तो उसे पदच्युत भी किया जाता था; किन्तु क्षमा याचना करने पर पुनः पदारूढ़ कर दिया जाता था।[1] उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग का राजतन्त्र प्रजातान्त्रिक था, तथा जनता अपने अधिकारों के लिये जागरूक रहती थी।

७

सभा व समिति

वैदिक युग के राजनैतिक जीवन में सभा व समिति का महत्त्वपूर्ण स्थान था। इनका उल्लेख वैदिक साहित्य[2] में कितने ही स्थलों पर आता है। अथर्ववेद[3] में भी ये उल्लिखित हैं। उसमें लिखा है कि सभा व समिति प्रजापति की दो विदुषी पुत्रियाँ हैं, जिनमें अच्छे अच्छे सदस्य एकत्रित होकर उत्तम प्रकार से बोलने की इच्छा प्रकट करते हैं। समिति में अच्छे अच्छे भाषण दिये जाते थे तथा प्रत्येक सदस्य की यह महत्त्वाकांक्षा रहती थी कि वह अच्छा वक्ता बने।[4]

समिति में राजा को भी उपस्थित रहना पड़ता था। वेदों में कितने ही स्थलों पर राजा के समिति में जाने का उल्लेख है।[5] उसमें विचारैक्य का रहना व मतभेद का न रहना बहुत ही आवश्यकीय समझा जाता था।[6] वैदिक साहित्य में राजा के लिये स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि जनता ने उसे चुना है तथा वह राष्ट्र के

[1] अथर्ववेद ३।४।६,७

[2] ऋग्वेद ९।९२।६,

[3] अथर्ववेद ६।८८,३; ६।६४।२, ५।१९।१५

[4] ७।१२।१, २ : "सभा च सा समितिश्चावता प्रजापतेर्दुहितरौ सविदाने। येना सगच्छ उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः सङ्गतेषु। विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि। ये ते के च समासदस्ते मे सन्तु सवाचस ॥";

[5] ऋग्वेद ९।९२।६: "राजा न सत्यः समितीरियानः।";

[6] ऋ० १०।१९१।३

सर्वोच्चस्थान पर बैठ कर अपने कर्तव्यों का पालन करे तथा ऐश्वर्य्य का भागी बने।

सभा का उल्लेख वैदिक साहित्य में आता है, जहाँ उसका अर्थ किसी उद्देश से एकत्रित जनता के किसी समुदाय या सम्मेलन का होता है। पाश्चात्य विद्वान् हिलीब्रेन्ड के मतानुसार सभा का तात्पर्य्य उस भवन से है, जहाँ समिति का अधिवेशन हुआ करता था। ज़िम्मर के मतानुसार सभा से ग्राम पञ्चायत का बोध होता था जैसा कि यजुर्वेद[1] के कुछ उल्लेखों से उनके मतानुसार ज्ञात होता है। किन्तु वैदिक साहित्य में आये हुए सभा के उल्लेखों पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि सभा एक स्वतंत्र राजनैतिक संस्था थी, जैसा कि अथर्ववेद[2] में स्पष्टतया समझाया गया है। इसी प्रकार यजुर्वेद[3] में सभा का एक स्वतन्त्र रूप में उल्लेख है, जहाँ ग्राम, अरण्य, सभा आदि में किये गये पाप के परिमार्जन का निर्देश है।

ऋग्वेद[4] मे कितने ही स्थलों पर सभा के सदस्यों का उल्लेख आता है, जिससे सिद्ध होता है कि समाज मे उनका स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण था। 'सभेय' शब्द ऋग्वेद[5] में आदरसूचक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। धनाढ्य व्यक्तियों के सभा में जाने का भी उल्लेख[6] है। अथर्ववेद[7] में राजाओं के सभा में जाने का उल्लेख है, तथा सभा, सभ्य, सभासद् आदि की रक्षा की प्रार्थना की गई है।[8] इन उल्लेखों के अतिरिक्त ब्राह्मण, उपनिषद् आदि ग्रन्थों मे सभा का राजा से घनिष्ठ सम्बन्ध दर्शाया गया[9] है। उपरोक्त उद्धरणों पर आलोच-

---

[1] ३।४५ : "यद्ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये।" २०।१७

[2] ७।१२।१, २

[3] ३।४५, २०।१७

[4] ८।४।९, १०।७१।१०, ७।१।४

[5] १।९१।२०. "सादन्य विदथ्य सभेय पितृश्रवण यो ददाशदस्मै।"

[6] ८।४।९

[7] १९।५७।२

[8] अथर्ववेद १९।५५।५

[9] शतपथ ब्राह्मण ३।३।४।१४, छान्दोग्योप० ५।३।६, ८।१४।१

नात्मक दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग में मनोरञ्जनादि निमित्त स्थानीय सभाओं के अतिरिक्त एक राजनैतिक संस्था भी थी, जिसका सम्बन्ध राजा से था। राजा उससे विचार-विनिमय किये बिना कुछ नहीं कर सकता था।[1] सभा का मुख्य कर्तव्य राजा को सलाह देना था तथा कभी-कभी उसे न्यायाधिकरण का कार्य्य भी करना पड़ता था।[2] कुछ विद्वानों के मतानुसार सभा राजा की मन्त्री-परिषद् मात्र थी।

ऋग्वेद, अथर्ववेद आदि में समिति का उल्लेख भी कितने ही स्थानों पर आया है, जिसके आलोचनात्मक अध्ययन से समिति के स्वरूप, कर्तव्य आदि का पता लगता है। ऋग्वेद[3] में समिति को राजा से सम्बन्धित किया गया है, तथा उसके राष्ट्रीय महत्त्व को भी समझाया गया है।[4] अथर्ववेद[5] में समिति को प्रजापति की पुत्री कहा गया है तथा उसके सदस्यों द्वारा किये जाने वाले वाद-विवाद, मन्त्रणा आदि का उल्लेख है। उसमें यह भी दर्शाया गया है कि उसके निर्णयों का समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान था। इन उल्लेखों से पता चलता है कि समिति का सम्बन्ध पूरे समाज से था, और वह राष्ट्र की एक महत्त्वपूर्ण संस्था थी व राजा से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध भी था। उसमें राष्ट्र से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार किया जाता था। कदाचित् राजा का चुनाव भी उसमें होता था व अयोग्य राजा को पदच्युत भी किया जाता था। राजा को समिति में नियमपूर्वक उपस्थित रहना पड़ता था।

इस प्रकार वैदिक युग के राजनैतिक जीवन में सभा व समिति का महत्त्वपूर्ण स्थान था।

---

[1] अथर्ववेद ७।१२

[2] ऋ० १०।७१।१०; अथर्व० ३।२९।१; यजु० ३०।६; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।४।२।१

[3] १।९५।८, ९।९२।६, १०।९७।६

[4] ऋग्वेद १०।१६६।४, १०।१९१।३

[5] ७।१२।१–४; ८।१०।१०, ११; १२।१।५६, ६।८८।३; ५।१९।१५

८

जनतांत्रिक वातावरण व प्रजातन्त्र

वैदिक काल में राजपद का विकास जनतांत्रिक ढङ्ग पर हुआ था, जैसा कि 'राजा' शब्द के व्युत्पत्त्यर्थ से स्पष्ट हो जाता है। समाज के कल्याण द्वारा प्रजा को सुखी बनाना राजा का परम पुनीत कर्तव्य माना गया था। इस कार्य्य के बदले में उसे कृषि की उपज का छठा भाग व वाणिज्य की आय का दसवाँ भाग प्राप्त होता था, जो कि उसके वेतन के समान था। इस प्रकार राजतन्त्र के विकास के इतिहास से स्पष्ट होता है कि समाज के प्रति राजा का महान् उत्तरदायित्व था व समाज सभा, समिति आदि संस्थाओं द्वारा उस पर नियन्त्रण रखता था।

पूर्व वैदिक युग में कदाचित् विशुद्ध रूप में गणतन्त्र का अस्तित्व न रहा हो किन्तु राजतन्त्र के रहते हुए भी राजनैतिक वातावरण पूर्णतया जनतान्त्रिक था। ऐसे ही जनतांत्रिक वातावरण में गणतन्त्र-संविधान पल्लवित व पुष्पित हो सकता है। यदि प्राचीन भारत के गणतन्त्रों के इतिहास पर विचार किया जाय तो पता लगेगा कि कदाचित् राजतन्त्र से ही गणतन्त्र का प्रारम्भ हुआ होगा। सभा, समिति आदि द्वारा राजा पर जो नियन्त्रण रखा जाता था, उससे तत्कालीन जनता की राजनैतिक जागरूकता का पता चलता है। इसी जागरूकता के परिणामस्वरूप जनतान्त्रिक वातावरण का निर्माण होने लगा व धीरे धीरे गणतन्त्रों का भी प्रादुर्भाव हुआ।

ऐतिहासिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत में उत्तर वैदिक काल में गणतन्त्र-शासनप्रणाली का प्रादुर्भाव हो गया था। यजुर्वेद[1] में 'गण' व 'गणपति'[2] शब्दों का उल्लेख आता है। किन्तु 'गण' शब्द किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है यह कहना सरल नहीं है। कुछ विद्वानों का मत है कि यजुर्वेद में 'गण' शब्द अर्धसभ्य जातियों का द्योतक है, और 'गणपति' याने उन अर्धसभ्य

[1] यजुर्वेद १६।२५, 'नमो गणेभ्यो गणपतिभ्य, २३।१९ : गणाना त्वा गणपति ७ हवामहे।"

[2] यजु० १६।२५

जातियों के देवताविशेष। पौराणिक देवता गणपति को उसी देवता से सम्बन्धित किया जाता है। यजुर्वेद के सोलहवें अध्याय के पचीसवें मन्त्र में 'गण' व 'गणपति' शब्दों का जो उल्लेख है, उसे कदाचित् राजनैतिक अर्थ में लिया जा सकता है, क्योंकि उसके आगे के मन्त्रों में सेनानी, रथी, क्षत्ता, संग्रहीता आदि का उल्लेख है और ये शब्द स्पष्टरूप से राजनैतिक जीवन से सम्बन्धित हैं। फिर भी इस सम्बन्ध में स्पष्टरूप से कुछ भी कहना कठिन है।

काशीप्रसाद जायसवाल प्रभृति विद्वानों के मतानुसार जनतांत्रिक शासनप्रणाली के यथार्थ दर्शन वैदिक साहित्य में उल्लिखित 'स्वराट्'[1] व 'विराट्'[2] शब्दों में होते हैं। यजुर्वेद में 'स्वराट्' व विराट्' का उल्लेख आता है। स्वराट् को उत्तर से सम्बन्धित किया गया है व विराट को दक्षिण से। ऐतरेय ब्राह्मण[3] में जिन आठ प्रकार के संविधानों का वर्णन है, उनमें स्वाराज्य व वैराज्य भी सम्मिलित किये गये हैं। स्वाराज्य संविधान को पश्चिम भारत से सम्बन्धित किया गया है व उसके शासक को 'स्वराट्' कहा गया है।[4] तैत्तिरीय ब्राह्मण[5] में 'स्वाराज्य' के अर्थ को समझाते हुए कहा गया है कि जो विद्वान् वाजपेय यज्ञ करता है वह स्वाराज्य को प्राप्त होता है तथा अपने से समान लोगों में श्रेष्ठ बन जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण[6] ने वैराज्य संविधान को उत्तर भारत से सम्बन्धित किया है व उसके शासक को विराट् कहा है। स्वाराज्य व वैराज्य शब्द, जैसा कि उनके शाब्दिक अर्थ से स्पष्ट है, गणतांत्रिक शासनप्रणाली के द्योतक हैं।

---

[1] यजु० १५।१३· "स्वराडस्युदीचिदिङ्मरुतस्तेदेवा:

[2] यजुर्वेद १५।११ : "विराडसि दक्षिणादिग्रुदास्ते देवा :······ ।"

[3] ८।१४

[4] ऐतरेय ब्राह्मण ८।१४. "एतस्या प्रतीच्या दिशि ये के च नीच्याना राजनो येऽपाच्याना स्वाराज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते स्वराडित्येनानभिषिक्ताना-चक्षत।"

[5] १।३।२।२; रेपसन—एन्शन्ट, इन्डिया १९१४, पृ० ५५

[6] ८।१४ : "एतस्यामुदीच्या दिशि ये के च परेण हिमवन्त जनपदा उत्तर कुरव: उत्तरमद्रा इति वैराज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते। विराडित्येनानभिषिक्तानाचक्षत······।"

उपरोक्त उल्लेखों के आधार पर कहा जा सकता है कि उत्तर वैदिक युग में गणतांत्रिक शासन-प्रणाली का विकास हुआ। स्वाराज्य, वैराज्य आदि शब्द इस शासनप्रणाली के द्योतक हैं। यजुर्वेद के समय[1] स्वाराज्य शासनप्रणाली कदाचित् उत्तर भारत में थी तथा वैराज्य शासनप्रणाली दक्षिण भारत में, किन्तु ऐतरेय ब्राह्मण के समय[2] में वैराज्य शासन प्रणाली उत्तर भारत व हिमालय-प्रदेशों में तथा स्वाराज्य शासनप्रणाली पश्चिम भारत में प्राप्त थी। स्वाराज्य, वैराज्य आदि संविधानों में बाह्य व आन्तरिक भेद क्या थे, इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। उनके बारे में इतना तो अवश्य कह सकते हैं कि वे दोनों संविधान गणतांत्रिक थे, उनमें निरङ्कुश शासन के लिये कोई स्थान नहीं था। कदाचित् ये संविधान बहुत लोकप्रिय हो गये थे, इसीलिये दार्शनिक तत्त्व आदि को समझाने के लिये विराट् आदि शब्द प्रयुक्त किये जाते थे तथा वैदिक छन्दों के नाम भी स्वराट्, विराट् आदि दिये गये थे। ऋग्वेदादि संहिता के कितने ही मन्त्र इन छन्दों में हैं।

यदि ऐतिहासिक दृष्टि से वेदकालीन गणतांत्रिक शासन-प्रणाली पर विचार किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि पूर्व वैदिक युग (लगभग ई० पू० १५००-१२००) में राजतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली वर्तमान थी। विभिन्न प्रदेश राजा द्वारा शासित किये जाते थे, किन्तु तत्कालीन राजनैतिक तन्त्र में राजा ही सर्वेसर्वा नहीं था; उसी की निरङ्कुश इच्छा पर समाज आश्रित नहीं था। समाज का आधारस्तम्भ उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि थी, तथा समाज के सर्वाङ्गीण जीवन का सञ्चालन नैतिक व आध्यात्मिक तत्त्वों द्वारा होता था, जिन्हें वैदिक साहित्य में 'ऋत' 'धर्म' आदि शब्दों से सम्बोधित किया गया है। राजनियमों से अधिक शक्तिशाली वरुण के ऋत का अधिकार समाज पर था। ऐसे वातावरण में राजपद निरङ्कुशवाद की ओर कदम नहीं बढ़ा सका, क्योंकि वह जनतन्त्रात्मक था। अतएव उत्तर वैदिक युग (लगभग ई० पू० १२००-८००) में इसी राजतन्त्र में से गणतन्त्रात्मक शासनप्रणालियों

[1] लगभग ई० पू० १२००–१०००,

[2] लगभग ई० पू० ८००

का विकास हुआ, जिसका स्पष्ट उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण में आता है।

कुछ इतिहासकारों का मत है कि प्राचीन भारत के गणतन्त्रात्मक शासन प्रणाली का प्रारम्भ जातिगत भावनाओं से होता है। उनके मतानुसार जब आर्य लोग भारत में आये तब वे विभिन्न कबीलों मे विभाजित थे, जिनका सामाजिक, राजनैतिक आदि जीवन स्वतंत्ररूप से विकसित होता था, तथा जन्म के सिद्धान्त पर अधिकार के पद प्राप्त होते थे। इन विद्वानों के मतानुसार वेदकालीन सभा, समिति आदि विभिन्न कबीलों के अपने सञ्चालन के लिये जन्म के सिद्धान्त पर आश्रित विभिन्न संस्थाएँ थीं। यदि वैदिक साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट होगा कि पूर्व वैदिक युग में भी सुसंस्कृत सामाजिक जीवन विकसित हो चुका था व जनता में कबीलों की भावना का लोप हो गया था। उस समय समस्त मानव-समाज दो विभागों मे बांटा गया था—(१) आर्य अथवा सभ्य सुसंस्कृत, (२) दस्यु या दास अथवा असभ्य, जंगली। इन दोनों समुदायों मे भी सांस्कृतिक आदान-प्रदान प्रारम्भ हो गया था। कितने ही दस्यु आर्य सिद्धान्तों व जीवन को अपनाकर आर्यों के सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन में घुल मिल गये थे। ऐसी परिस्थिति में यह मानना कि वेदकालीन समाज विभिन्न कबीलों में विभाजित था पूर्णतया असङ्गत है।

६

उपसंहार

वेदकालीन राजनैतिक विकास के बारे में ऊपर जो कुछ लिखा है उससे स्पष्ट होता है कि वैदिक युग में राजनैतिक जीवन न केवल जनतांत्रिक सिद्धान्तों पर आश्रित था, किन्तु उसकी आधारशिला सांस्कृतिक विकास के मूलभूत सिद्धान्तों पर निहित थी। तत्कालीन राजनैतिक विकास सांस्कृतिक विकास का ही एक पहलू था और उस विकास में मानव मात्र के लिये समुचित स्थान था, और उसमें नागरिकता के ऊँचे से-ऊँचे आदर्शों व सिद्धान्तों को पोषित किया जाता था। यही कारण है कि वेदकालीन राजनैतिक व्यवस्था

में व्यक्ति के आत्मविकास के लिये सम्पूर्ण अवसर प्राप्त था। यह कहना न होगा कि तत्कालीन विभिन्न राजनैतिक संस्थाओं में गणतन्त्र की भावना ओत प्रोत थी।

वेदकालीन राजतन्त्र, सभा, समिति आदि द्वारा वेदकालीन समाज शान्ति व सुव्यवस्था की स्थापना द्वारा सांस्कृतिक विकास के मार्ग में अग्रसर होता था। इन संस्थाओं द्वारा समाज में नागरिकता के ऊँचे-ऊँचे आदर्श विकसित होते थे। किन्तु हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि व्यावहारिक जीवन में उन आदर्शों के सफलतापूर्वक अपनाये जाने में पर्याप्त कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। विभिन्न आर्य राजा तथा दस्यु, दास आदि अपनी अपनी राजनैतिक महत्त्वाकांक्षा की तृप्ति के लिये युद्धरत भी रहा करते थे, जिससे धनजन की कितनी ही हानि होती थी। इतना होने पर भी समाज अपने राजनैतिक व नागरिक आदर्शों को नहीं भुलाता था। यही कारण है कि व्यावहारिक कठिनाइयों के होते हुए भी समाज में जनतांत्रिक वातावरण विकसित हो सका।

यह सचमुच में वेदकालीन राजनैतिक जीवन की विशेषता है कि उस युग में आठ प्रकार के संविधान विकसित हुए थे, जिनके अन्तर्गत राजतन्त्र, गणतन्त्र आदि का समावेश हो जाता था। तत्कालीन राजनैतिक जीवन के ऊँचे-ऊँचे आदर्श, जिनका समावेश वरुण व इन्द्र सूक्तों में तथा सभा समिति आदि के वर्णन में हुआ है, अवश्य किसी भी देश के लिये गौरव की बात हो सकते हैं। इस युग में कदाचित् राजनीति के विभिन्न सिद्धान्तों का विकास भी प्रारम्भ हो गया था। राजपद की उत्पत्ति से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्त आधुनिक राजनैतिक सिद्धान्तों की याद दिलाते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदकालीन राजनैतिक विकास प्रगतिशील था।

अध्याय—७

१

आर्थिक विकास

आर्थिक विकास का महत्त्व

वेदों के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय समाज पर्य्याप्तरूप से विकसित हो चुका था। उसका आर्थिक जीवन उत्तम प्रकार से व्यवस्थित व सञ्चालित किया गया था, जैसा कि किसी भी सभ्य व प्रगतिशील समाज में पाया जाता है। प्राचीन भारत में वर्गचतुष्टय धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति मानव जीवन का ध्येय था। प्राचीन भारतीय जीवनक्रम में आर्थिक विकास मात्र ही सब कुछ नहीं था, उसमें धर्म का सर्व-प्रथम स्थान था। आध्यात्मिकता के मार्ग में प्रवृत्त होने की तैयारी करना व उसी को जीवन का आधार बनाना धर्म कहाता था। इसी धर्म की भूमिका पर आर्थिक विकास किया जाता था। कृषि, वाणिज्य, व्यवसाय आदि द्वारा द्रव्योपार्जन कर ऐहिक उन्नति करना ही 'अर्थ' का तात्पर्य्य था।

प्राचीन भारत की वर्णाश्रमव्यवस्था धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि वर्गचतुष्टय की प्राप्ति में सहायक बनती थी। वर्णव्यवस्था में वैश्य वर्ग आर्थिक विकास से सम्बन्धित था, क्योंकि वेदाध्ययन के अतिरिक्त उसका मुख्य कर्तव्य कृषि, वाणिज्य आदि द्वारा आर्थिक विकास के मार्ग में अग्रसर होना था। इसलिये समाज के आर्थिक विकास का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व वैश्यों पर था। आश्रम-व्यवस्था में गृहस्थाश्रम को आर्थिक विकास से सम्बन्धित कर सकते हैं। ब्रह्मचर्य्य, वानप्रस्थ, सन्यास आदि तीन आश्रमों का तो मार्ग ही निराला था। उनकी झुकावट आध्यात्मिकता की ओर रहती थी। केवल गृहस्थाश्रम ही ऐसा था, जिस पर दो प्रकार की जिम्मेवा-रियाँ रहती थीं, आध्यात्मिक उन्नति व आर्थिक उन्नति की। उसमें

मानव-जीवन के सच्चे उद्देश को ध्यान में रख कर आर्थिक उन्नति करनी पड़ती थी। यही कारण है कि प्राचीन भारत के गृहस्थी विशेष कर वैश्य धन कमा कर एकत्रित करने को ही अपना जीवन-सर्वस्व नहीं समझते थे। आर्थिक विकास समाज को उन्नत बनाने के लिये था। इस प्रकार हमें प्राचीन भारत के आर्थिक विकास की भूमिका का ज्ञान होता है।

समाज का आर्थिक जीवन अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों पर स्थित था। उपभोग, उत्पादन, आदान, प्रदान आदि के बहुत से साधन वर्तमान थे। श्रमविभाग के सिद्धान्त के आधार पर समाज के चार विभाग किये गये थे, जिसका स्पष्ट विवेचन पुरुषसूक्त[1] में किया गया है।

प्राचीन भारत ने यह भली भाँति समझ लिया था कि संसार की अनेकों सम्पत्तियों की निधि पृथ्वी है। इसीलिये उसको 'वसुधा'[2] या 'वसुन्धरा' कहा गया, जिसका अर्थ होता है 'द्रव्य धारण करने वाली'। वैज्ञानिक दृष्टि से भी यह शब्द कितना अर्थपूर्ण है यह तो स्पष्ट ही है। पृथ्वी माता की ही कृपा से हमें अन्न, वस्त्र, जल आदि प्राप्त होते हैं। उसी के गर्भ से सोना, चांदी, तांबा, लोहा, कोयला आदि मिलते हैं। यही कारण है कि ऋग्वेद के कितने ही मन्त्र पृथ्वी की स्तुति में लिखे गये हैं।[3] वैदिक ऋषि उसके महत्त्व को भली भाँति समझ गये थे। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदकालीन भारत की आर्थिक व्यवस्था में पृथ्वी के महत्त्व को भली भाँति माना गया था।

पृथ्वीसूक्त

अथर्व वेद[4] में जो पृथ्वी सूक्त है उसमें वेदकालीन सांस्कृतिक जीवन में पृथ्वी के महत्त्व को बहुत ही सुन्दर शब्दों में समझाया

---

[1] ऋग्वेद १०।९०।११, १२: "यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्। मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते॥ ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥",

[2] यास्क—निघण्टु २।१० "... वसु। राध। भोजन। तना। नृम्ण। बन्धु।...... द्रविण।......। वृतमित्यष्टाविंशतिरेव धननामानि॥"

[3] ऋग्वेद ५।३२।१०; ५।४२।१३; १०।४।३, ५।५८।७, ८।१८।६; ७।४०।४

[4] १२।१।१–६३;

गया है। कुछ विद्वान तो इस पृथ्वीसूक्त को वैदिक भारत का राष्ट्र गीत मानते हैं।[1] हमें यहाँ उसके आर्थिक पहलू पर विचार करना है। उक्त सूक्त में सर्वप्रथम कहा गया है कि "बृहत्, सत्य, उग्र, ऋत, तप, ब्रह्म व यज्ञ पृथिवी को धारण करते हैं। हमारे भूत व भविष्य की परिरक्षिका यह पृथ्वी हमारे लोक को प्रशस्त बनावे। जो पृथ्वी विभिन्न शक्तियों वाली ओषधि (वनस्पति) धारण करती है, वह हमारे लिये विस्तृत व वैभवशाली बने[2]। जिस पर समुद्र, नदी, जल, अन्न, जनता आदि उत्पन्न हुए हैं,[3] जिस पर प्राणीमात्र जीवन धारण करते हैं, वह भूमि हमें अन्न प्रदान करे। जो सब का भरण पोषण करने वाली (विश्वंभरा) है, जो नाना प्रकार के द्रव्य धारण करने वाली (वसुधानी) है, जिसने उन्नत व प्रगतिशील प्रदेश (प्रतिष्ठा) विकसित किये हैं, जिसके अन्तर में सुवर्ण (हिरण्यवक्षसा) है, जो जंगम प्राणियों को धारण करने वाली है, जो वैश्वानर अग्नि को धारण करती है, वह भूमि हमें इन्द्र (वर्षा ?), ऋषभ (सांड) व द्रविण (धन) प्रदान करे।[4] देवता लोग प्रमादरहित होकर जिस पृथिवी की रक्षा करते हैं, उससे हम प्रिय मधु दुहें। जिस भूमि पर दिनरात समान रूप से बिना प्रमाद जलवर्षा हुआ करती है, उस भूमि से हम 'भूरिधारा पय' (बहुत सी धाराओं वाला जल अथवा दूध) दुहें। वह भूमि मेरे लिये पय (जल) प्रदान करे, जिस प्रकार माता अपने पुत्र को पय (दूध) प्रदान करती है।[5] हे पृथ्वी, तुम्हारी पहाड़ियाँ तुम्हारे वर्फ से ढके हुए पर्वत, तुम्हारे जंगल ये सब आनन्ददायी बनें। मैं इस भूरी, काली, लाल, अनेक रूप वाली, ध्रुव, विस्तृत व इन्द्र (वर्षा) द्वारा रक्षित भूमि पर अजेय, अहत व अक्षत होकर

---

[1] वैदिक एज (भारतीय विद्याभवन) पृ० ४१०

[2] अथर्व० १२।१।२ नानवीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी न प्रथतां राध्यतां न ॥'

[3] अथर्व० १२।१।३ 'यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः सं बभूवुः। यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥'

[4] १२।१।६ विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी। वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु ॥

[5] अथर्व० १२।१।१० 'सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः ॥

वसा हूँ।[1] हे पृथ्वी, जो तुम्हारा मध्य है, जो तुम्हारा नाभिस्थल है, और जो पोषक पदार्थ तुम्हारे शरीरमें से उत्पन्न होते हैं, वे सब हमें प्रदान करो, हम पर कृपा करो। भूमि मेरी माता है और मैं पृथिवी का पुत्र हूँ। पर्जन्य (मेघ) हमारा पिता है। वह हमारा पोषण करे।[2] सब ओषधियों की माता दृढ, धर्म द्वारा धारण की हुई, कल्याणकारी व आनन्ददायिनी इस विस्तृत भूमि पर हम सदैव विचरण करते रहें। जिस भूमि पर शिला, अश्मा व पांसु (धूलि) है और जो दृढ है, पृथिवी के उस सुवर्णयुक्त वक्षस्थल को नमस्कार है। हे भूमि, तुम्हारे लिये ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर व वसन्त ऋतुयें, दिन रात आदि निर्धारित किये गये हैं, हे पृथ्वी तुम हमारे लिये दुही जाओ। हम जिस धन की कामना करते हैं, वह धन भूमि हमें प्राप्त करावे।[3] जिस भूमि में अन्न, व्रीहि, यव आदि प्राप्त होते हैं, जहाँ पर ये पञ्चजन हैं, उस पर्जन्यपत्नी भूमि को नमस्कार है।[4] नाना प्रकार की निधि को धारण करनेवाली पृथिवी मुझे धन, मणि व सुवर्ण प्रदान करे।[5] यह पृथ्वी मेरे लिये अच्छी गाय के समान द्रविण की सहस्र धारा दुहावे। इस भूमि पर जो ग्राम हैं, जो वन हैं तथा जो संग्राम, समिति आदि हैं, उनमें हे पृथ्वी, हम तुम्हारी कीर्ति का गान करें।"[7]

[1] अथर्व० १२।१।११ गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोरण्यं ते पृथिवि स्योन मस्तु। बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्। अजीतो हतो अक्षतोध्यष्ठां पृथिवीमहम्॥

[2] अथर्व० १२।१।१२ यत् ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्त न्वः संबभूवुः। तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः। पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु॥

[3] अथर्व० १२।१ ४० सा नो भूमिरा दिशतु यद्धनं कामयामहे।

[4] अथर्व १२।१।४२ यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पञ्च कृष्टयः। भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोस्तु वर्षमेदसे॥

[5] अथर्व० १२।१।४४ निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे। वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना॥

[6] अथर्व० १२।१।४५ सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरन पस्फुरन्ती॥

[7] अथर्व० १२।१।५६ ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम्। ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते॥'

"वाय"[1] कहा जाता था। प्रत्येक परिवार में स्त्रियां भी कातने व बुनने का कार्य करती थीं।[2] बढ़ई[3] (त्वष्टा, तक्ष), जो रथ, चाक, नाव, लकड़ी के बर्तन (द्रोण)[4] आदि बनाते थे, लुहार[5] (कर्मार), जो कृषि के औजार व युद्ध के हथियार आदि बनाते थे, कुम्हार[6], माला बनाने[7] वाले, चमड़ा पकानेवाले, नाई[8], वैद्य[9], सुनार[10], जो निष्क आदि सुवर्ण के आभूषण बनाते थे, आदि का गाँव की आर्थिक व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थान था।

कुछ विद्वान् मानते हैं कि वेदकालीन संस्कृति ग्रामीण थी, उस समय नगरों के जीवन का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था।[11] किन्तु ऋग्वेद के आलोचनात्मक अध्ययन से इस कथन का खोखलापन स्पष्ट हो जाता है। ऋग्वेद[13] में सभा, पुर आदि का उल्लेख आता है, कितने ही स्थलों पर सुवर्ण[14] उल्लिखित है व धनपति बनने की इच्छा दर्शाई गई है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में सद्म[15], प्रसद्म,[16] दीर्घ प्रसद्म[17] आदि का उल्लेख आता है, जिससे बड़े बड़े प्रासाद तुल्य

---

[1] ऋ० १०।२६।६, १०।१०६।१,

[2] ऋ० २।३।६, २।३८।४, ५।४७।६, अथर्व० १०।७।४२, १४।२५।१,

[3] ऋ० १०।११९।५, ९।११२।१,

[4] ऋ० ९।६५।६,

[5] ऋ० ९।११२।२, १०।७२।२,

[6] ऋ० १०।८९।७,

[7] ऋ० ८।४७।१५,

[8] ऋ० ८।५।३८,

[9] ऋ० १०।१४२।४,

[10] ऋ० ९।११२।१, ३,

[11] ऋ० ८।४७।१५, ८।७८।३

[12] भारतीय अनुशीलन, वि० १, सिंधुसंस्कृति पर कीथ का लेख, पृ० ६५ और आगे।

[13] ६।२८।६, ७।४।९, ८।३४।६,

[14] ऋग्वेद १।४३।५, ३।३४।९, ४।१०।६, ४।१७।११, १।११७।५, ६।४७।२३, ८।७८।९

[15] ऋ० ७।८।२२,

[16] ऋ० ८।१०।१,

[17] ऋ० ८।१०।११

भवनों के अस्तित्व का पता लगता है। यह कहना न होगा कि ऐसे भवन नगरों में ही पाये जा सकते हैं। यजुर्वेद में वर्णित उद्योग-धन्दों से भी विकसित नागरिक जीवन का पता चलता है। एक बड़े मानव समुदाय के एकत्रित रहने पर उसकी दैनिक आवश्यकता की पूर्ति के साधन भी ढूँढे जाते हैं, यहीं से वाणिज्य या व्यापार का प्रारम्भ होता है। गाँवों में उसके विकास की विशेष गुंजाइश नहीं रहती। वाणिज्य और नगर का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में जो वर्णव्यवस्था का उल्लेख है, उसमें वैश्यों को उरु से सम्बन्धित किया गया है। मनु आदि स्मृतिकार कहते हैं कि कृषि, वाणिज्य आदि वैश्य का स्वाभाविक कर्म है।[1] इस पर से यह कहा जा सकता है कि वैदिक काल में भी उसका यही काम था। इसीलिये पुरुषसूक्त में उसको समाज रूपी पुरुष की जङ्घाओं से सम्बन्धित किया गया है। इसमें यत्किञ्चित् भी सन्देह नहीं कि भारत के व्यापारिक व व्यावसायिक इतिहास का प्रारम्भ वैदिक काल से ही होता है। इस व्यापार के केन्द्र नगर ही थे, जिनको वैदिक साहित्य में 'पुर्' कहा गया है।

पुर्

वैदिक साहित्य मे पुरों का भी उल्लेख आता है।[2] पुरों के तात्पर्य के सम्बन्ध में वैदिक साहित्य के विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि पुरों से वेदकालीन किलेबन्दी या किलों का बोध होता है, जो गाँवों की रक्षा के लिये रहते थे तथा मिट्टी या पत्थर के बने रहते थे।[3] अन्य विद्वान्[4] पुरों को सुरक्षित नगरों के रूप में मानते है। यदि पुरों के विभिन्न उल्लेखों को आलोचनात्मक दृष्टि से पढ़ें तो स्पष्ट होगा कि वैदिक साहित्य म

---

[1] मनुस्मृति १।९०

[2] ऋग्वेद १।५३।७, १।५८।८, १।१३१।४, १।१६६।८ ३।१५।४ ४।२७।१,

[3] वैदिक एज (भारतीय विद्याभवन) पृ० ३५६ ३९८ मैकडानल्ड हिस्ट्री ऑफ सस्कृत लिटरैचर, पृ० १५८,

[4] ए० सी० दास—ऋग्वदिक कल्चर, पृ० ४५

'पुर' शब्द दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। अथर्ववेद[1] में पुरुष के व्युत्पत्त्यर्थ को ('पुरि शेते') समझाते हुए अयोध्या नगरी का उल्लेख किया गया है, जो कि इस प्रकार है—'आठ परिखा व नवद्वारवाली देवनगरी अयोध्या है। उसमें स्वर्ग तुल्य सुवर्ण का भण्डार है, जो ज्योति से ढका हुआ है। उस सुवर्ण भण्डार में तीन प्रकार से सुरक्षा की व्यवस्था है। उसमें जो यक्ष आत्मा के रूप में बैठा है, उसे ब्रह्मविद् जानते हैं।" इस प्रकार समृद्धिशील अयोध्या नगरी के आधार पर जीवात्मा से युक्त मानव-शरीर का वर्णन किया गया है, जैसा कि कठोपनिषद्[2] में रथ का रूपक बाँध कर मानव शरीर का वर्णन किया गया है। अयोध्या नगरी के वर्णन से वहाँ के आध्यात्मिक विकास, आर्थिक समृद्धि, नगर-रक्षा की सुन्दर व्यवस्था आदि का बोध होता है। इस उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग में बड़े-बड़े समृद्धिशाली नगर वर्तमान थे।

वेदकालीन बड़े-बड़े नगर साधारणतया राजनैतिक सत्ता के केन्द्र रहते थे, जहाँ सभा, समिति आदि संस्थाएँ स्थापित थीं, व जो धर्माभिषिक्त राजाओं द्वारा शासित किये जाते थे। प्रजा का योगक्षेम उन राजाओं के जीवन का उद्देश रहता था। उनकी छत्रच्छाया में धर्म, अध्यात्मवाद, साहित्य, कला आदि का विकास होता था, जिसके परिणामस्वरूप नगर सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि प्रवृत्तियों के केन्द्र बन जाते थे।

वेदकालीन नगर वाणिज्य, व्यवसाय, उद्योगधन्दे आदि के केन्द्र थे। तत्कालीन समाज का आर्थिक जीवन अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों पर स्थित था। उपभोग, उत्पादन, वितरण, विनिमय आदि के बहुत से साधन वर्तमान थे। वैदिक साहित्य में विभिन्न उद्योग धन्दों का उल्लेख आता है, जिससे तत्कालीन आर्थिक विकास का बोध होता है। ऋग्वेद में कपड़ा बुनने वाले को 'वय' कहा गया है।[3] पूषा

---

[1] १०।२।३१-३२ : "अष्टचक्रा नवद्वारा देवाना पूरयोध्या। तस्या हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥ तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते। तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः॥;

[2] १।३।३-४;

[3] ऋग्वेद २।३।६;

को ऊन का कपड़ा बुनने वाला कहा गया[1] है। इसके अतिरिक्त रथ बनाने के लिये विभिन्न धातुओं को गलाने, गहने बनाने, हथियार बनाने, घर बनाने, नाव, जहाज आदि बनाने तथा ऐसे अन्य कितने ही उद्योगधन्धों का अप्रत्यक्ष उल्लेख ऋग्वेद में आता है। यजुर्वेद में तो इन सब उद्योगधन्धों को करनेवालों के नाम दिये गये है,[2] यथा रथकार, तक्षा, कौलाल, कर्मार, मणिकार, इषुकार, धनुष्कार, रज्जुसर्ज, हस्तिप, अश्वप, सुराकार, हिरण्यकार, वणिक् आदि। यह कहना न होगा कि इन उद्योगधन्धों के विकास के केन्द्र बड़े-बड़े नगर ही थे।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि वैदिक युग की आर्थिक व्यवस्था में ग्राम और नगर दोनों का महत्वपूर्ण स्थान था। सम्पूर्ण देश में गाँव इधर-उधर बिखरे हुए थे, कुछ एक दूसरे के निकट थे, व कुछ दूरी पर थे। ये गाँव सड़कों द्वारा सम्बन्धित थे।[3] ये सड़कें बड़ी-बड़ी थीं, जिन पर माल से लदी हुई बड़ी बड़ी गाड़ियाँ चल सकती थीं, वैदिक युग के आर्य आवागमन के लिये बड़ी बड़ी गाड़ियों का उपयोग करते थे। ग्रामणी, बड़े-बड़े सामन्त व धनाढ्य व्यापारी अश्वों से 'युक्त' रथों का उपयोग करते थे। इस प्रकार विभिन्न ग्राम सड़कों (रथ्या) द्वारा नगरों से सम्बन्धित थे। गाँवों की कृषि आदि की उपज, फल, फूल, शाक भाजी तथा अन्य वन्य पदार्थ गाँवों से सड़कों द्वारा नगरों में ले जाये जाते थे, जहाँ बड़े-बड़े बाजारों में उनको बेचा जाता था। ये नगर वैदेशिक व्यापार के भी केन्द्र थे।

२

आर्थिक विकास के मुख्य अङ्ग

वेदकालीन आर्थिक विकास पर यदि आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि उसके मुख्य अङ्ग कृषि, गोपालन, वाणिज्य, व्यवसाय, उद्योगधन्धे आदि थे। कृषि, गोपालन

[1] १०।२६।६,

[2] यजुर्वेद ३०।६, ७, ११, १७, २०

[3] मैकडॉनेल व कीथ—वदिक इन्डेक्स, भा० १, पृ० २११

व लघु उद्योगधन्दों का सम्बन्ध गाँवों से था, जहाँ पर उनका विकास किया जाता था। वाणिज्य, वैदेशिक व्यापार, बड़े बड़े उद्योगधन्दे आदि का सम्बन्ध नगरों से था, जो सुसंस्कृत समाज की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के केन्द्र थे।

कृषि

भूमि से सम्पत्ति उत्पन्न करने का सबसे प्राचीन व सरल तरीका कृषि है। *भारत की भौगोलिक परिस्थिति के कारण यहाँ* पहिले से ही कृषिकर्म सम्पत्ति के उत्पादन का मुख्य साधन रहा है। वेदों से पता लगता है कि वैदिक युग में कृषि कर्म अत्यन्त ही पवित्र माना जाता था। ऋग्वेद में कितने ही स्थलों पर खेत जोतने का, हल चलाने का व फसलों से हरे-भरे खेतों का उल्लेख है।[1] वर्षा से सम्बन्धित देवता इन्द्र की स्तुति कितने ही मन्त्रों में की गई है।[2] पृथ्वी को 'गो' नाम से सम्बोधित कर पूजनीय माना गया है।[3] ऋग्वेद में इन्द्रवृत्र-युद्ध[4] के वर्णन में समझाया गया है कि कृषिप्रधान भारत में वृष्टि की कितनी आवश्यकता रहती थी, तथा अनावृष्टि से कितनी हानि होती थी।

ऋग्वेद में कितने ही स्थलों पर खेत व तत्सम्बन्धी कितनी ही वस्तुओं का उल्लेख आता है। कृष्ट व अकृष्ट भूमि के लिये विभिन्न शब्द प्रयुक्त किये गये हैं, यथा उर्वरा, क्षेत्र, फर्वर आदि।[5] इसी प्रकार खेती के औजारों का भी निर्देश किया गया है, जैसे स्तेग, फल, लाङ्गल, सीता, सीर, अस्र आदि।[6]

वैदिक युग में उपजाऊ (उर्वरा) भूमि को बराबर नपे हुए खेतों (क्षेत्र) में बाँट दिया जाता था।[7] प्रत्येक परिवार के पास

---

[1] बसु–इन्डो आर्यन पालिटी, पृ० ७७ ८१

[2] ऋग्वेद १।३२, २।१२, ७।८३

[3] ऋग्वेद ५।५९।३, यजुर्वेद ३।६,

[4] मैकडानिल-हीम्स फ्राम दी ऋग्वेद, पृ० ४३-४७

[5] बसु–इन्डो आर्यन पॉलिटी, पृ० ८२–८५,

[6] बसु–इन्डो आर्यन पालिटी, पृ० ८६

[7] ऋग्वद १।११०।५, "क्षेत्रमिव वि ममुस्तेजनेन।"

वस्तु से खेत रहते थे। अथर्ववेद[1] में वर्णन आता है कि पृथी (पृथु) वैन्य ने सर्वप्रथम मनुष्यों के लिये कृषिकर्म द्वारा फसल पैदा की और इस प्रकार मानव जाति के लिये कृषि का मार्ग प्रशस्त किया। ऋग्वेद[2] में वर्णन आता है कि अश्विन देवताओं ने मनु को बीज बोने की कला सिखाई तथा आर्यों को हल की सहायता से खेती करना सिखाया।[3] हल को ऋग्वेद में 'सीर'[4] 'लाङ्गल'[5] आदि कहा गया है। हल चलाने वाले को 'कीनाश'[6] कहते थे। हल चलाने से खेत में जो मिट्टी खुद जाती थी तथा उसकी कतार बनती जाती थी, उसे सीता[7] कहते थे। साधारणतया हल में दो बैल जोते जाते थे, किन्तु कभी कभी छ[8], आठ, बारह[9] या चौबीस[10] भी जोते जाते थे।

खेती का कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व खेत के देवता क्षेत्रपति की पूजा व स्तुति की जाती थी। ऋग्वेद[11] में क्षेत्रपति की स्तुति इन शब्दों में की गई है—"हम मित्र के समान क्षेत्रपति की सहायता से विजय को प्राप्त होवें। वह हमारे गाय व घोड़े का पोषण करे व हम पर कृपा करे।[12] हे क्षेत्रपति, जिस प्रकार गाय मीठे दूध (पय) को धारा प्रदान करती है, उस प्रकार आप हमें मीठे घृत

---

[1] ८।१०(४)११, १२ ता पृथी वैन्योधोक् ता कृषिं च सस्यं चाधोक्। ते कृषिं च सस्यं मनुष्या उपजीवन्ति कृष्टराधिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद॥"

[2] १।११२।१६,

[3] ऋ० १।११७।२१,

[4] ऋ० ४।५७।८, १०।१०१।३ ४,

[5] ऋ० ४।५७।४

[6] ऋ० ४।५७।८,

[7] ऋ० ४।५७।६,७

[8] अथर्व० ६।९१।१,

[9] तैत्तिरीय स० १।८।७।१

[10] काठक स० १५।२

[11] ४।५७ १ ८,

[12] ऋ० ४।५७।१ "क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेनेव जयामसि। गामश्वं पोषयित्न्वा स नो मृळातीदृशे॥",

के समान पवित्र व मधुर जल (पय) की धारा प्रदान कीजिये।[1] अमृत के पति हम पर कृपा करें। हमारे लिये वनस्पतियां, आकाश, जल व अन्तरिक्ष मधुर बनें। क्षेत्रपति हमारे लिये मधुर बनें। हम अवाधित रूप से उनका अनुकरण करें। हमारे बैल व पुरुष आनन्दपूर्वक कार्य करें; हल अच्छी तरह जोतने का काम करें।[2] बैलों को जुएँ से बाँधने की रस्सी (वस्त्रा) अच्छी तरह बाँधी जावे तथा कोड़े का अच्छा उपयोग किया जावे। हे शुन व सीर, हमारी प्रार्थना सुनिये, स्वर्ग में जिस पय (जल) को आपने उत्पन्न किया है, उससे मेरा सेचन कीजिये। हे सौभाग्यशाली सीता, हमारे समीप आओ। हम तुम्हारी वंदना करते हैं, जिससे तुम हमें सौभाग्य व समृद्धि प्रदान करो।[3] इन्द्र सीता को नीचे दबावे, तथा पूषा उसे सुव्यवस्थित करे। वह पयस्वती (जलयुक्त) होकर प्रतिवर्ष हमारे लिये दुही जावे। हमारे हल (उनके मुख पर लगे हुए 'फाल') अच्छी तरह से भूमि को जोतें; हमारे हल जोतने वाले बैलों के साथ अपने कार्य के लिये आनन्दपूर्वक जावें। मेघ हमें मधु व पय (जल) से सुखी करें; शुन व सीर[4] हमारा कल्याण करें।"

ऋग्वेद में एक और स्थल पर कृषि कार्य्य का उल्लेख है[5], जो इस प्रकार है—"हलों में बैल जोतो, अब हल से भूमि तैयार की गई है, उसमें बीजारोपण करो। हमारी स्तुति के कारण पर्याप्त अन्न प्राप्त होवे। अनाज की फसल अच्छी तरह पके।"

उपरोक्त मन्त्र कदाचित् खेत बोने के समय उच्चारित किया

---

[1] ऋ० ४।५७।२ : "क्षेत्रपते मधुमन्तभूर्मि धेनुरिव पयो अस्मासु धुक्ष्व। मधुश्चत घृतीमव सुपूतमृतस्य न पतयो मृलयन्तु ॥"

[2] ऋ० ४।५७।४ : "शुन वाहा शुन नरः शुन कृषतु लाङ्गलम् ॥"

[3] ऋ० ४।५७।६ : "अर्वाची सुभगे भव सीते वन्दामह त्वा। यथा न. सुभगाससि यथा न सुफलाससि ॥"

[4] शुन व सीर कृषि से सम्बन्धित दो वस्तुएँ प्रतीत होती हैं, जिन्हें देवता के रूप में माना गया है। यास्क शुन को वायु से व सीर को आदित्य या सूर्य से सम्बन्धित करते हैं।

[5] ऋग्वेद १०।१०१।३ : "युनक्त सीरा वि युवा तनुध्व कृते योनौ वपतेह बीजम्। गिरा च श्रुष्टि सभरा असन्नो नेदीय। इत्सृण्यः पक्वमेयात् ॥"

जाता था, जब कि हल से जोतकर व खाद डाल कर उसे तैयार कर लिया गया था।

वैदिक युग में खेतों में गोबर आदि का खाद भी डाला जाता था। ऋग्वेद में 'शकृत' शब्द गोबर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[1] शतपथ ब्राह्मण[2] में गाय के सूखे हुए गोबर के अर्थ में 'करीष' शब्द प्रयुक्त हुआ है। अथर्ववेद[3] से ज्ञात होता है कि वैदिक युग में खेतों के लिये मवेशियों के खाद का महत्त्व समझ लिया गया था।[4] जब खेतों में अनाज आदि की फसल पक जाती थी, तब उसे हँसिये ('सृणी',[5] 'दात्र'[6]) से काटा जाता था व गट्ठों ('पर्ष')[7] में बाँधा जाता था। उसके पश्चात् अनाज खलिहान में साफ किया जाता था।[8] अनाज को साफ करनेवाला 'धान्यकृत्'[9] कहलाता था। अनाज के साफ किये जाने पर उसे भण्डारों[10] में भरा जाता था।

यव व धान्य

यव व धान्य वैदिक युग की खास फसलें मालूम होती हैं। ऋग्वेद[11] में यव का उल्लेख कितने ही स्थलों पर आता है। यव की खेती नियमपूर्वक होती थी। वर्षा होने पर जब भूमि आर्द्र हो जाती है, तब यव की फसल बहुत अच्छी होती है, इस प्रकार का उल्लेख ऋग्वेद में आता[12] है। धान्य, जिसका अर्थ चांवल होता है,

---

[1] ऋ० १।१६१।१०,

[2] २।१।१।७,

[3] ३।१४।३, ४, १९।३१।३,

[4] मैक्डानल व कीथ—वैदिक इंडेक्स १।१३९ २।३४८,

[5] ऋ० १।५८।४, १०।१०१।३, १०।१०६।६,

[6] ऋ० ८।७८।१०,

[7] ऋ० १०।४८।७

[8] ऋ० १०।४८।७ १०।७१।२,

[9] ऋ० १०।९४।१३

[10] ऋ० १०।६८।३,

[11] १।२३।१५, १।१३५।८, २।५।६, २।१४।११, ५।८५।३,

[12] ऋ० २।५।६, ५।८५।३,

ऋग्वेद[1] में वार वार उल्लिखित है। 'धाना' शब्द भी उसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, व उसका उल्लेख भी ऋग्वेद में आता है।[2] यह सम्भव है कि ऋग्वेदिक युग में अन्य प्रकार के अनाज भी अस्तित्व में हों, जिनको यव व धान्य के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया हो। धान्य (चांवल) की उपज के लिये ही नियमितरूप से वर्षा की आवश्यकता होती थी। नियमित वर्षा प्राप्ति के लिये ही वर्षा के देवता इन्द्र की स्तुति की जाती थी, और नाना प्रकार के वार्षिक त्रैमासिक आदि यज्ञ किये जाते थे। इन्द्र-वृत्र युद्ध का भी यही उद्देश था। इन्द्र दुष्काल के राक्षस वृत्र को मार डालता था, तथा उसके शरीर में अवरुद्ध मेघ मुक्त हो जाते थे, जिसके परिणामस्वरूप खूब वर्षा होती थी। इन्द्र का इस कार्य में सहायता पहुँचाने के लिये एक वर्ष तक के यज्ञ किये जाते थे। वृत्र का दूसरा नाम 'शुष्ण' भी था, जो कितनी ही वार वर्षा को रोक देता था, जब कि कृषि के लिये उसकी अत्यन्त आवश्यकता रहती थी। इन्द्र अपने वज्र से व अन्य देवताओं की सहायता से 'शुष्ण' या 'वृत्र' को मार कर घनघोर वर्षा करता था, जिसकी चांवल की फसल के लिये अत्यन्त आवश्यकता रहती थी। इन्द्र वृत्र युद्ध में इन्द्र को जिन देवताओं से सहायता प्राप्त होती थी वे इस प्रकार थे—विष्णु,[3] मरुत, पर्जन्य, बृहस्पति[4] आदि। सरस्वती नदी भी इन्द्र के समान 'वृत्रघ्नी' कहाती थी।[5]

गोधूम, व्रीहि आदि

गोधूम (गेहूँ)), व्रीहि (एक प्रकार का चांवल) आदि का उल्लेख ऋग्वेद में नहीं आता, किन्तु यजुर्वेद[6], शतपथ ब्राह्मण[7]

---

[1] ऋ० ५।५३।१३, ६।१३।४, १०।९४।१३,

[2] ऋ० १।१६।२, ३।५३।२, ३।५२।५, ६।२९।४

[3] ऋ० ८।७७।१०,

[4] ऋ० ४।५०।५,

[5] ऋग्वेद ६।६१।३ ७,

[6] यजुर्वेद (वाज० स०) १८।१२, १९।२२, ८९, यजुर्वेद (मैत्रायणीय स०) १।२।८,

[7] १२।७।१।२, १२।७।२।९,

आदि में आता है। यजुर्वेद[1] में गोधूम व व्रीहि के अतिरिक्त अन्य अनाज का भी उल्लेख है—व्रीहि, यव, माष (उड़द), तिल (तिल्ली), मुद्ग (मुँग), खल्व, प्रियङ्गु, अणु, श्यामाक (साँवा), नीवार, गोधूम (गेहूँ) व मसूर। इन विभिन्न प्रकार के धान्यों का उपयोग भोजनादि की सामग्री के रूप में होता था।

सिंचाई

वेदकालीन आर्य वर्षा के अतिरिक्त सिंचाई पर भी अपने कृषि-कार्य्य के लिये निर्भर रहते थे। सिंचाई का काम कुओं व नहरों के द्वारा किया जाता था। ऋग्वेद में उल्लेख आता है कि किसान अपने खेतों की सिंचाई करते थे व आवाज करके बोये हुए धान्य के बीजों को खानेवाले पक्षियों को उड़ाते थे।[2] 'कूप' शब्द कुएँ के अर्थ में ऋग्वेद[3] में उल्लिखित है। 'अवत' भी ऋग्वेद[4] में कुएँ के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। इन कुओं के लिये कहा गया है कि उनमें पानी कभी कमी नहीं होता था व हमेशा पानी से भरे रहते थे।[5] पानी पत्थर के चक्र से खींचा जाता था, जिससे रस्सी द्वारा बाल्टी (कोश) बन्धी रहती थी। यह बड़ी-बड़ी नालियों द्वारा विभिन्न खेतों में पहुँचाया जाता था।[6] ऋग्वेद[7] में "खनित्रिमा आप:" (खोद के निकाला हुआ पानी) का उल्लेख आता जिससे सिंचाई के लिये उपयुक्त पानी की नहरों का बोध होता है। इससे स्पष्ट

---

[1] १८।१२ : 'व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥"

[2] ऋग्वेद १०।६८।१;

[3] ऋ० १।१०५।१७;

[4] ऋ० १।५५।८, १।८५।१०, ११; १।११६।९, २२, ४।१७।१६; ८।४९।६, ८।६२।६, १०।२५।४

[5] ऋ० १०।१०१।६;

[6] ऋ० ८।६९।१२,

[7] ७।४९।२;

है कि वैदिक युग में कृत्रिम नहरों द्वारा खेतों की सिंचाई की जाती थी।[1]

३

गोपालन

वैदिक युग के आर्थिक विकास में मवेशियों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। उन्हें धन के रूप म माना जाता था। वैदिक काल से ही गाय के उपकार को समझ उसे पूजनीय माना गया था। वदिक ऋषियों ने उसे "अघ्न्या हि गो"[2] कह कर सम्बोधित किया। गाय पालना प्राचीन आर्यों का पवित्र कर्तव्य समझा जाता था। गायें प्राचीन आर्यो का विशेष सम्पत्ति थीं। खेती के लिये बछडे, शरीर मजबूत बनाने के लिये घी व दूध, देहातों के छोटे छोटे घर लीपने व पोतने के लिये गोबर, जलाने क लिये कण्डे आदि सब गाय से ही प्राप्त होते थे। आर्थिक दृष्टि से समाज में गाय का इतना अधिक महत्व था तथा उससे लोग अपने को इतना सुखी मानते थे कि जब स्वर्ग के देवताओं क निवासस्थान की कल्पना की जाती थी, तब उसमें बडे बडे सींगवाली गायें विशेषरूप से रहती थीं, जसा कि ऋग्वेद[3] में विष्णुलोक के सम्बन्ध मे कहा गया है।

ऋग्वेद में कितने ही मन्त्रों म गाय का उल्लेख है, जहाँ गाय प्राप्ति की इच्छा दर्शाई गई है। पूषा से प्रार्थना की गई है कि 'हे पूषा, हमारी गायों के पीछे चलो व उनकी रक्षा करो'।[4] एक स्थान

---

[1] मैकडॉनल व कीथ—वन्कि इडेक्स १।२१४

[2] ऋग्वेद १।१६४।२७ ४० ४।१।६ ५।८३।८ ८।६९।२१ १०।८७। १६ यास्क—निरुक्त ११।४३। अघ्न्या अहन्तव्या भवति अघघ्नी इति वा

[3] १ १५४।६ ता वा वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयास । अत्राह तदुरुगायस्य वृष्ण परम पद अवभाति भूरि ॥

[4] ऋ० ६।५४।६ पूष तनु प्र गा इहि यजमानस्य सुन्वत अस्माक स्तुवतामुत ।

पर कहा गया है कि "हे पूषा, गायों को प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले इस गण को आगे बढ़ाओ तुम्हारी कीर्ति दूर तक फैली है।"[1] इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि वेदकालीन समाज के आर्थिक जीवन में गाय को महत्त्वपूर्ण माना गया था। गाय को विनिमय के साधन के रूप में भी प्रयुक्त किया जाता था। प्रत्येक परिवार के पास बहुत सी गायें रहती थीं, जिनके विनिमय से जीवन की बहुत सी आवश्यकताएँ प्राप्त की जाती थीं। सोम का पौधा गायों के द्वारा खरीदा जाता था। अन्न सामग्री, वस्त्र आदि को भी गायों द्वारा प्राप्त किया जाता था। कभी-कभी पत्नी भी गायें देकर प्राप्त की जाती थी, जैसा कि 'आर्ष विवाह' में हुआ करता था।[2] इसी प्रकार अजीगर्ति ने अपने पुत्र शुन शेप को सौ गायें लेकर बेच दिया था। जब शुन.शेप की बलि दी जाने वाली थी, उस समय भी अजीगर्ति सौ गायें लेकर शुन शेप को यूप से बाँधने के लिये तथा और सौ लेकर मारने के लिये तैयार हो गया था।[3] इस कथानक से स्पष्ट होता है कि वैदिक काल में गायों का प्रयोग विनिमय के साधन के रूप में भी होता था। राजाओं व धनाढ्य व्यक्तियों द्वारा ऋषियों को कितनी ही गायें दान में दी जाती थीं। ऋग्वेद के दानस्तुति मन्त्रों में इसका स्पष्ट उल्लेख है।

ऋग्वेद[4] में एक स्थान पर गाय के महत्त्व को सुन्दर शब्दों में समझाया गया है :—

"गायें आई हैं; उन्होंने हमारा कल्याण किया है। वे गोष्ठ (मवेशी बाँधने का अहाता) में आराम करें, और हमें सुखी बनावें। यहाँ वे 'प्रजावती' (बहुत से बछड़ों को जन्म देने वाली) व पुरुरूपा (नाना रूपवाली) बनकर इन्द्र के लिये प्रातःकाल दूध देवें। उनका (गायों का) नाश नहीं होता, कोई चोर उन्हें हानि नहीं पहुँचा सकता। कोई शत्रु उन्हें कष्ट नहीं देता। गोपति उन गायों

[1] ऋ० ६।५६।५ "इम च नो गवेषण सातये सीषधो गणम्। आरात्पूषन्नसि श्रुत."

[2] मनुस्मृति ३।२९ : "एक गोमिथुन द्वे वा वरादादाय धर्मत.। कन्या प्रदान विधिवदार्षो धर्म स उच्यते ॥"

[3] ऐतरेय ब्राह्मण, ७।१३-१६

[4] ६।२८।१-८,

के साथ रहता है व उनसे देवताओं की पूजा करता है। घोड़ा उनकी बराबरी नहीं कर सकता। वे यज्ञ करने वाले के पीछे निर्भीक रूप से दूर दूर तक विचरण करती हैं। मुझे गायें भग प्रतीत होती हैं, गायें इन्द्र प्रतीत होती हैं, ये पवित्र गायें प्रथम सोम के भक्ष (रस?) के समान हैं। हे मनुष्यों, ये जो गायें हैं वे इन्द्र हैं। मैं अपने मन व हृदय से इन्द्र को चाहता हूँ। हे गायों, तुम दुबले मनुष्य को बलवान बना देती हो, कुरूप को सुन्दर बना देती हो। हमारे गृह को कल्याणकारी बनाओ, हमारी सभाओं में तुम्हारी प्रशंसा होती है। अच्छी घास खाकर व सुप्रपाणों (मवेशियों के पानी पीने का स्थान) में शुद्ध जल पीकर प्रजावती बनो। कोई चोर या पापी तुम्हारा स्वामी न बने, रुद्र के बाणों से तुम्हारी रक्षा होवे।"

ऋग्वेद[1] में एक और स्थान पर गाय का महत्त्व समझाते हुए उसकी प्रशंसा की गई है, जो कि इस प्रकार है—"यह जीवनप्रद वायु गायों पर बहे वे शक्तिशाली वनस्पतियों को खावें व शक्ति वर्धक जल पियें। इस कल्याणकारी गाय पर रुद्र कृपा करें। हे पर्जन्य, इन गायों का महान् कल्याण करो, जो सरूपा, विरूपा व एकरूपा हैं, जिनके नाम अग्नि यज्ञ के द्वारा जानता है और जिनको अङ्गिरसों ने तप से उत्पन्न किया है। हे इन्द्र, जो गायें देवताओं को अपना शरीर प्रदान करती हैं, जिनके सब रूपों को सोम जानता है और जो हम दूध से पुष्ट करती हैं, उन्हें 'गोष्ठ' (गायें बाँधने का आहाता) में ले आओ। प्रजापति विश्वेदेवा व पितरों के साथ सम्मत होकर मुझे ये गायें प्रदान करें व इन कल्याणकारी गायों को हमारे 'गोष्ठ' में ले आवें। हमें उन गायों की प्रजा प्राप्त होवे।"

उपरोक्त मन्त्रों में गाय का महत्त्व, उसकी उपयोगिता व उसका पावित्र्य बहुत ही सुन्दर शब्दों में समझाया गया है। गाय को पालना, उसकी पूजा करना तथा उससे घी, दूध, मक्खन, दही आदि प्राप्त करना वैदिक आर्यों का परम कर्तव्य था। उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक व आर्थिक जीवन में गाय का स्थान अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण था।

[1] १०।१६९।१४,

वैदिक युग मे गाय के अतिरिक्त बैल का भी बहुत महत्त्व था। हल आदि जोतने, गाड़ियाँ खींचने तथा खलियान मे अनाज तैयार करने में बैलों का उपयोग होता था। ऋग्वेद में कितने ही स्थानों पर वृषभ[1] वृष[2], वृषण[3] आदि शब्द सांड अथवा बैल के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।

भेड़ बकरी आदि

वैदिक साहित्य से पता चलता है कि गाय बैल, सांड आदि के अतिरिक्त भेड़, बकरी आदि भी पाली जाती थीं[4]। ऋग्वेद में मेष व मेषी का उल्लेख कितने ही स्थलों पर आया है। 'उर्णवती' शब्द से पता लगता है कि भेड़ों से ऊन निकालने का व्यवसाय भी उस समय ज्ञात था। ऊन के कपड़े भी बनाये जाते थे, जिनका उपयोग जाड़े में आवश्यकीय हो जाता था। अज व अजा का भी कितनी ही बार उल्लेख आता है। बकरी का दूध पिया जाता था। वैदिक काल से लेकर आजतक भी कितने ही लोग भारत के विभिन्न भागों में भेड़, बकरी आदि पाल कर अपना उदर-निर्वाह करते हैं। यजुर्वेद[5] में विभिन्न व्यवसाय करने वालों के वर्णन के अवसर पर 'गोपाल' 'अजपाल', 'अविपाल' आदि का भी उल्लेख है। "गोपाल" का तात्पर्य्य ग्वाले से है, जो गायों को पालता था तथा दूध, दही आदि का व्यवसाय करता था। 'अजपाल' से बकरी पालनेवाले का तात्पर्य्य है, तथा 'अविपाल' से भेड़ पालनेवाले का अर्थ होता है। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि वैदिक युग में कुछ लोगों का व्यवसाय भेड़ व बकरी पालना था, जिससे वे अपना उदरनिर्वाह करते थे।

घोड़ा

वेदकालीन आर्यों के जीवन में घोड़े का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। तैत्तिरीय[6] संहिता में कहा गया है कि प्रजापति ने सर्वप्रथम

---

[1] ऋग्वेद ६।२८। ८, १०।१०२।९ : "इमं त पश्य वृषभस्य युञ्ज काष्ठाया मध्ये द्रुघणं शयानम् ।", १०।१०२।५,६, १०।१०३।६, ८।९३।१

[2] ऋ० १०।१०२।१२, ८।९३।७

[3] ऋ० ६।२९।२, १०।१०२।१२

[4] बसु—इन्डो-आर्यन पॉलिटी, पृ० ९५-९६

[5] यजुर्वेद ३०।११

[6] ७।१।१।४-६

मनुष्यों मे ब्राह्मण और पशुओं मे बकरी उत्पन्न की। उसके पश्चात् उसने क्षत्रिय व भेड़ उत्पन्न किये। तत्पश्चात् वैश्य व गायें उत्पन्न किये गये और अन्त में शूद्र व घोड़े उत्पन्न किये गये। जिस क्रम से इन पशुओं की उत्पत्ति का उल्लेख है उससे कदाचित् यह कहा जा सकता है कि उक्त क्रम से प्रारम्भिक आर्यों ने उन पशुओं को जंगली अवस्था से पालतू बनाया। घोड़ा अपनी तीव्र गति के कारण प्राचीनकाल में बहुत लोकप्रिय बन गया था। घोड़े व रथ ने प्राचीन आर्यों के जीवन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये थे, जिनके कारण उनका सांस्कृतिक विकास भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। घोड़ों से जुते हुए रथों में बैठ कर प्राचीन आर्य राजा समस्त भारत में फैल गये थे, तथा भारत के बाहिर पश्चिमोत्तर की घाटियों से होकर एशिया मायनर, आफ्रिका व यूरोप तक भी पहुँच गये थे। यातायात के साधनों मे आजकल जो स्थान रेल, जहाज आदि का है, वही स्थान वैदिक काल में रथ व घोड़ों का था। रथ व घोड़े इतने प्रिय थे कि उन पर से राजाओं के नाम भी रखे जाते थे, जैसे दशरथ, नवरथ, अप्रतिरथ, कृशाश्व, बृहदश्व, रोहिताश्व आदि।

घोडा एक ईमानदार, सुन्दर, तेज गतिवाला, अदम्य उत्साहयुक्त साहस व सर्वश्रेष्ठ पशु माना जाता था। इसलिये उपरोक्त गुणों की तुलना के लिये उपमान के रूप में उसका प्रयोग किया जाता था। सूर्य, अग्नि, अश्विनौ, मरुत आदि की तुलना घोड़े से की गई है। अश्विनौ नाम ही अश्व से बना है। सूर्य को वायुमण्डल का घोडा कहा गया है। अग्नि लाल घोड़े के समान तीव्र गति से आगे बढ़ता है। मरुत तेज दौड़ते हुए घोड़ों पर चढ़कर आते हैं। इन्द्र के पास दो घोड़े थे, जिन पर वह सवारी करता था। घोड़े को कभी-कभी हल जोतने के काम मे भी लाया जाता था। किन्तु अधिकांश उसका उपयोग सवारी, रथ खींचने व माल ढोने के लिये किया जाता था। ऋग्वेद मे घोड़े की सवारी का (विशेष कर युद्ध के अवसर पर) उल्लेख कितने ही स्थलों पर आता है। ऋग्वेद[1] में कहा गया है कि "देवता उसका जिसने सर्वप्रथम घोड़े पर सवारी की है हवि भक्षण करने के लिये आये हैं।" एक और स्थान पर

[1] १।१६३।९ 'देवा इदस्य हविरद्यमायन्यो अर्वन्त प्रथमो अध्यतिष्ठत् ॥'

कहा गया है[1] कि "तुम्हारे घोड़े कहाँ हैं, घोड़े की लगाम कहाँ है, तुम किस प्रकार आये"? "पीठ पर बैठा व नाक लगाम थी। जंघाओं ने एड़ का काम लिया।" इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि वैदिक काल में घोड़े की सवारी बहुत लोकप्रिय थी।

ऋग्वेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि देवताओं को भी घोड़े की सवारी बहुत प्रिय थी। अश्विन देवता घोड़ों पर बैठ कर आते थे[2]। एक मन्त्र में इन्द्र की स्तुति इस प्रकार की गई है[3]—'हे इन्द्र, दूर के प्रदेश से श्रेष्ठ सुन्दर घोड़ों पर बैठ कर हमारे पास आओ और सोम का पान करो।" इसी प्रकार आदित्य,[4] मरुत[5], मित्र व[6] वरुण, अग्नि[7] आदि भी घोड़े की सवारी करते थे। ऋग्वेद में घुड़सवार (अश्वी) का भी उल्लेख है। एक स्थान पर "अश्वपर्णा नर" (अर्थात् घोड़ेरूपी पंख वाले व्यक्ति अर्थात् घुड़सवार) का उल्लेख आता है।[8] ऋग्वेद में कितने ही स्थलों पर ऐसा उल्लेख है, जिससे सिद्ध होता है कि युद्ध में भी घोड़ों का उपयोग किया जाता था।[10] ऋग्वेद[11] में देवताओं के युद्ध में प्रयुक्त किये जाने वाले घोड़े दधिक्रा का विशद वर्णन आता है, जिसमें कहा गया है कि वह वायु के वेग से युद्धभूमि में इधर उधर दौड़ता था।[12]

ऋग्वेद के एक सूक्त[13] में बहुत ही सुन्दर शब्दों में घोड़े का स्तुत्यात्मक वर्णन किया गया है, जिससे स्पष्ट होता है कि वेद

---

[1] ऋग्वेद ५।६१।२, ३
ऋग्वेद ८।५।७ ८
[3] ऋग्वेद ८।६।३६
[4] ऋ० ७।४७।२२
[5] ऋ० ५।६१।११, ८।२३।३ ५।३४।३
[6] ऋ० ८।६४।७
[7] ऋ० ७।१।६
[8] ऋग्वेद ७।४७।२२
[9] ऋ० ६।४७।३१
[10] ऋ० ६।८६।१३, १८ ९।३७।५ ९।८८।३ ९।१०८।२, १०।६।६
[11] ४।३८ ४।३९, ४।४०
[12] ऋग्वेद ४।३८।२ १०
[13] १।१६३।१ १३

कालीन समाज में घोड़े का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान था। उस सूक्त में कहा गया है—"हे घोड़े तुम्हें श्येन के पङ्ख व हरिण की भुजाएँ हैं। इस भूमि पर तुम्हारा जन्म स्तुत्य है। तुम्हारे तीन बन्धन स्वर्ग में हैं, तीन जल में हैं व तीन समुद्र के अन्तर में हैं। तुम आकाश में सूर्य के समान प्रतीत होते हो, जब तुम तीव्रगति से दौड़ते हो। अच्छे मार्गों पर तुम्हारे सिर को धूलधूसरित पक्षी के समान मैंने देखा। यहाँ तुम्हारे उत्तम रूप को मैंने देखा। हे घोड़े रथ, मनुष्य, गाय, भग आदि तुम्हारा अनुसरण करते हैं, देवताओं ने तुम्हारे वीर्य को नापा है। यह घोड़ा हिरण्यश्रृङ्ग है, उसके पैर 'मनोजव' (मन के समान तीव्रगति वाले) हैं।"

उपरोक्त कथन से स्पष्ट होता है कि वैदिक युग की आर्थिक व्यवस्था में पशुपालन का भी अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण स्थान था। गायों व बैलों द्वारा कृषिप्रधान भारत वैदिक युग में आश्चर्यजनक विकास कर सका, भेड़, बकरी आदि के व्यवसाय का विकास कर अर्ध सभ्य व पहाड़ी जातियाँ अपना उदर निर्वाह करती थीं। इन सब पशुओं में घोड़ा अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ, क्योंकि उसने आर्यों के सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन में क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी। यातायात की व्यवस्था में भी इन पशुओं का विशेष स्थान था। वेदकालीन आर्य अपने पशुओं का भी विशेष ख्याल रखते थे व प्रार्थना करते थे कि "हमारे द्विपद (मनुष्य) व चतुष्पद (पशु, चौपाये) आदि सब रोगरहित रहें।"[1]

8

वाणिज्य, व्यापार आदि

कृषि व गोपालन के अतिरिक्त वैदिक काल में साम्पत्तिक विकास का एक और साधन था, जिसे वाणिज्य कहा जाता था। कृषि, पशुपालन आदि का सम्बन्ध देहातों से था, जो कि प्राचीन काल में आर्थिक उत्पादन के केन्द्र थे। दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ

---

[1] ऋग्वेद १०।९७।२० द्विपच्चतुष्पदस्माकं सर्वमस्त्वनातुरम् ॥

अधिकांश देहातों में उत्पन्न की जाती थीं। आजकल के समान प्राचीन काल में बड़े बड़े यन्त्र नहीं थे, जिनके लिये बड़े बड़े नगरों की आवश्यकता होती। फिर भी राजकीय, आर्थिक व धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के केन्द्र अवश्य थे, जो विकसित होकर नगर बन गये।

वैदिक साहित्य में कितने ही स्थलों पर सुवर्ण[1] उल्लिखित है व धनपति बनने की इच्छा दर्शाई गई है[2]। यजुर्वेद[3] में वर्णित उद्योग-धन्धों से भी विकसित नागरिक जीवन का पता चलता है। अधिकांश लोगों का विशेषकर धनाढ्यों का किसी सत्ता की छत्रछाया में एकत्रित रहना नगरों के अस्तित्व से सूचित होता है। एक बड़े मानव समुदाय के एकत्रित रहने पर उसकी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन भी ढूँढे जाते हैं, यहीं से वाणिज्य या व्यापार का प्रारम्भ होता है। 'वाणिज्य' शब्द 'वणिक्' शब्द से बनता है, जिसका अर्थ होता है, बनिया या व्यापारी। यजुर्वेद[4] में 'वाणिज्' को तुला (तराजू) से सम्बन्धित किया गया है। इस प्रकार वैदिक युग में व्यापार का प्रारम्भ हो गया था। इसमें यत्किञ्चित् भी सन्देह नहीं कि भारत के व्यापारिक व व्यावसायिक इतिहास का प्रारम्भ वैदिक युग से ही होता है। कृषि की ऊपज, घी, दूध, वस्त्र तथा दैनिक जीवन से सम्बन्धित अन्य वस्तुओं द्वारा व्यापार किया जाता था।

वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज आर्थिक दृष्टि से बहुत समृद्धिशाली था। ऋग्वेद[5] में सिन्धु नदी की आर्थिक समृद्धि का सुन्दर चित्रण किया गया है। "सिन्धु नदी अश्व, रथ, वस्त्र, सुवर्ण के आभूषण, अन्न,

[1] ऋग्वेद १।४३।५, ३।३४।९, ४।१०।६, ४।१७।११, ११।१७।५, ६।४७।२३, ८।७८।९,

[2] ऋग्वेद १०।१२१।१०, "यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥"

[3] ३०।६, ७, ११, १७, २०,

[4] ३०।१७ "तुलायै वाणिज" ", अथर्ववेद ३।१५।१ : "इन्द्रमहं वणिज चोदयामि ।"

[5] ऋग्वेद १०।७५।८

ऊन आदि से परिपूर्ण रहती है तथा मधुयुक्त पुष्पों को धारण करती है।" इस वर्णन से सिद्ध होता है कि सिन्धु नदी के प्रदेश में उत्तम घोड़े, मवेशी रथ आदि थे। पञ्जाब की उपजाऊ भूमि अच्छी-अच्छी फसलें उत्पन्न करती थी, जिनसे लोगों का उदर-निर्वाह होता था। ऊन भी बहुत अधिक मात्रा में तैयार किया जाता था, जिससे अच्छे-अच्छे कपड़े, कम्बल, शाल आदि बनाये जाते थे। उपरोक्त वर्णन व्यग्र औद्योगिक जीवन तथा राष्ट्रीय सम्पत्ति व समृद्धि का चित्र उपस्थित करता है। इस साम्पत्तिक समृद्धि से यह भी स्पष्ट होता है कि तत्कालीन व्यापार बहुत चढ़ा-बढ़ा था। वैदिक काल में व्यापार के दो प्रकार थे-(१) आन्तरिक व्यापार[१], व (२) बाह्य व्यापार। आन्तरिक व्यापार से उस व्यापार का तात्पर्य्य है, जो तत्कालीन भारत के विभिन्न प्रदेशों के मध्य होता था। बाह्य व्यापार से उस व्यापार का बोध होता है, जो विदेशों से नाव, जहाज आदि द्वारा किया जाता था। वैदिक काल में दोनों प्रकार का व्यापार अपनी विकसित अवस्था में था।

आन्तरिक व्यापार

वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि खेती की उपज व उद्योगधन्दों द्वारा उत्पादित वस्तुएँ आवश्यकतानुसार एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजी जाती थीं। यह कार्य व्यापारियों के दलों द्वारा सम्पादित किया जाता था, जो माल ढोने के लिये बैल[१], घोड़े, ऊँट, कुत्ते[२] तथा गधों[३] का उपयोग करते थे। इस कार्य्य के लिये भैंस (महिष) का भी उपयोग किया जाता था, जिसका उल्लेख ऋग्वेद[४] में आता है। इस प्रकार माल से लदे हुए पशुओं के साथ व्यापारियों के झुन्ड एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते थे तथा माल बेचते व खरीदते थे। कुछ विद्वानों[५] का मत है कि ये व्यापारी अधिकांश में पणि थे, जिनका उल्लेख ऋग्वेद में आता है। इस पर आगे जाकर विस्तारपूर्वक विचार किया जायगा।

---

[१] ऋग्वेद ८।४६।३०,

[२] ऋ० ८।४६।२८,

[३] ऋ० ८।५६।३;

[४] ८।१२।८, ९।३३।१

[५] ए० सी० दास—ऋग्वेदिक कल्चर, पृ० १४३

इन घूमने-फिरने वाले व्यापारियों के अतिरिक्त स्थायी व्यापारी भी रहते थे जो बड़े-बड़े नगरों में स्थायी रूप से रहते थे और जहाँ बड़े-बड़े बाजार रहते थे, जिन्हें अथर्ववेद[1] में 'प्रपण' कहा गया है। वैदिक साहित्य में यत्र तत्र क्रय-विक्रय का उल्लेख भी आता है। ऋग्वेद[2] में वर्णन आता है कि एक व्यक्ति को बहुमूल्य वस्तु के लिये कम कीमत प्राप्त हुई। वह खरीदने वाले के पास जाकर उस वस्तु को माँगता है। किन्तु खरीददार तैयार नहीं होता। अतएव उसे कम मूल्य ही स्वीकार करना पड़ता है। इसी प्रकरण में आगे कहा गया[3] है कि "कौन मेरे इस इन्द्र को दस गायों में खरीदता है? जब वह वृत्र को मार डाले तब उसे (इन्द्र को) पुन. लौटा दिया जाय।" इस पर से विल्सन, ग्रिफिथ, मैकडॉनेल, कीथ आदि विद्वान् यह[4] मानते हैं कि वैदिककाल मे इन्द्रादि देवताओं की मूर्तियों का विक्रय होता था और लोग उन्हें खरीदते थे। मैकडॉनेल व कीथ इसको क्रय का स्पष्ट उदाहरण मान कर कहते[5] हैं कि दस गायें इन्द्र की मूर्ति का बिलकुल ठीक मूल्य है। यह वर्णन आलंकारिक नहीं है। जहाँ आलङ्कारिक वर्णन है, वहाँ कहा गया है[6] कि "हे इन्द्र मैं तुम्हें बड़ी से बड़ी कीमत में भी नहीं बेचूंगा, न हजार में, न दस हजार में और न सौ में।" इस सम्बन्ध में सायण ने जो कुछ कहा है वही उपादेय प्रतीत होता है। उसके कथनानुसार वैदिक ऋषि भक्तिभाव से आप्लावित होकर क्रय-विक्रय की भाषा में इन्द्र के प्रति अपनी भक्ति का वर्णन करते हैं। भक्त-शिरोमणि मीरा ने भी यही किया जब उसने अपने भजन में कहा कि "माई मैंने गोविन्द लीन्हो मोल। ना ये सस्ता, ना ये महँगा, लियो तराजू तोल॥"

---

[1] ३।१५।५· "येन धनन प्रपण चरामि... ।"

[2] ४।२४।९,

[3] ऋ० ४।२४।१० · "क इम दशभिर्ममेन्द्र क्रीणाति धेनुभि । यदा वृत्राणि जङ्घनदथैन मे पुनर्ददत् ॥",

[4] ए० सी० दास–ऋग्वेदिक कल्चर, पृ० १४३-१४५

[5] ए० सी० दास–ऋग्वेदिक कल्चर, पृ० १४५

[6] ऋ० ८।१।५ "महे चन त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम्। न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ।"

ऊन आदि से परिपूर्ण रहती है तथा मधुयुक्त पुष्पों को धारण करती है।" इस वर्णन से सिद्ध होता है कि सिन्धु नदी के प्रदेश में उत्तम घोड़े, मवेशी रथ आदि थे। पञ्जाब की उपजाऊ भूमि अच्छी-अच्छी फसलें उत्पन्न करती थी, जिनसे लोगों का उदर-निर्वाह होता था। ऊन भी बहुत अधिक मात्रा में तैयार किया जाता था, जिससे अच्छे-अच्छे कपड़े, कम्बल, शाल आदि बनाये जाते थे। उपरोक्त वर्णन व्यग्र औद्योगिक जीवन तथा राष्ट्रीय सम्पत्ति व समृद्धि का चित्र उपस्थित करता है। इस साम्पत्तिक समृद्धि से यह भी स्पष्ट होता है कि तत्कालीन व्यापार बहुत चढ़ा-बढ़ा था। वैदिक काल में व्यापार के दो प्रकार थे-(१) आन्तरिक व्यापार, व (२) वाह्य व्यापार। आन्तरिक व्यापार से उस व्यापार का तात्पर्य्य है, जो तत्कालीन भारत के विभिन्न प्रदेशों के मध्य होता था। वाह्य व्यापार से उस व्यापार का बोध होता है, जो विदे[illegible] से नाव, जहाज आदि द्वारा किया जाता था। वैदिक काल में [illegible] प्रकार का व्यापार अपनी विकसित अवस्था में था।

आन्तरिक व्यापार

वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात [illegible] कि खेती की उपज व उद्योगधन्धों द्वारा उत्पादित वस्तुएँ [illegible] कतानुसार एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजी जाती थीं। य[illegible] व्यापारियों के दलों द्वारा सम्पादित किया जाता था, जो मार[illegible] के लिये बैले[1], घोड़े, ऊँट, कुत्ते[2] तथा गधों[3] का उपयोग करते [illegible] इस कार्य्य के लिये भैंस (महिष) का भी उपयोग किया ज[illegible] जिसका उल्लेख ऋग्वेद[4] में आता है। इस प्रकार माल से पशुओं के साथ व्यापारियों के झुन्ड एक स्थान से दूर[illegible] को जाते थे तथा माल वेचते व खरीदते थे। कुछ विद्वानों[5] [illegible] है कि ये व्यापारी अधिकांश में पणि थे, जिनका उल्लेख ऋग्वे[illegible] आता है। इस पर आगे जाकर विस्तारपूर्वक विचार किया जाय

[1] ऋग्वेद ८।४६।३०,

[2] ऋ० ८।४६।२८,

[3] ऋ० ८।५६।३,

[4] ८।१२।८, ९।३३।१

[5] ए० सी० दास—ऋग्वेदिक कल्चर, पृ० १४३

उपरोक्त सूक्त में अप्रत्यक्षरूप से वेदकालीन वाणिज्य पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। इन्द्र को व्यापारी कह कर उससे धन की माग की गई है। इससे यह ध्वनित होता है कि उस समय बड़े बड़े धनाढ्य व्यापारी रहते थे, जो परोपकार में अपने धन का उपयोग करते थे। पृथ्वी व आकाश के मध्य स्थित जो बहुत से मार्गों का उल्लेख है व जिनको घी-दूध से सम्बन्धित किया गया है, उनसे हम तत्कालीन यातायात के विभिन्न मार्गों की कल्पना कर सकते हैं, जो देश के विभिन्न भागों में बिखरे हुए थे। उन मार्गों का घी दूध से युक्त होने का तात्पर्य्य है कि उन मार्गों द्वारा तत्कालीन व्यापारी दूर-दूर के गाँवों तक पहुँचते थे व वहाँ से घी-दूध खरीद कर उनके द्वारा बहुत सा धन कमाते थे। इसके अतिरिक्त उक्त सूक्त म व्यापार से सम्बन्धित कुछ पारिभाषिक शब्द भी प्रयुक्त किये गये हैं, जैसे 'प्रपण', 'विक्रय' 'प्रतिपण' आदि। इन सब बातों से हमें वेदकालीन भारत के आन्तरिक व्यापार की उन्नत अवस्था का पता चलता है।

बाह्य व्यापार

वैदिक युग में आन्तरिक व्यापार के समान बाह्य व्यापार भी उन्नत अवस्था में था। ऋग्वेद में समुद्र में चलने वाली नावों (जहाजों) का उल्लेख कितने ही स्थलों पर आता है।[1] एक स्थान पर सौ मस्तूल वाले जहाज का भी उल्लेख आता है[2], जिसमें बैठ कर भुज्यु नाम का नाविक समुद्र में बहुत दूर तक चला गया था व रास्ता भूल गया। अश्विन् की स्तुति करने पर वह वापिस लौट आया।[3] धन प्राप्त करने के इच्छुक अपने जहाजों को समुद्र म भेजते थे।[4] द्रव्य लाभ की इच्छा से बहुत से व्यापारी जहाजों में एक साथ समुद्र-यात्रा करते थे।[5] समुद्र-यात्रा प्रारम्भ करने के

[1] ऋग्वेद १।२५।७ वेद नाव समुद्रिय'॥ १।४८।३, १।५६।२, १।११६।३ २।४८।३ ७।८८।३४

[2] ऋग्वेद १।११६।५ यदश्विना ऊहथुर्भुज्युमस्तं शतारित्रां नावमातस्थिवासम् ॥

[3] ऋ० १।११६।३-८

[4] ऋ० १।४८।३

[5] ऋ० १।५६।२

ऋग्वेद के उपरोक्त उल्लेखों से तत्कालीन क्रय-विक्रय क विधि का ज्ञान होता है। एकबार सौदा हो जाने पर पुनः उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता था। क्रेता व विक्रेता दोनों को पूर्व निश्चित सौदे के अनुसार ही व्यवहार करना पड़ता था।

सोमविक्रय

वेदकालीन आर्य्यों को सोम के पौधे की बड़ी भारी आवश्यकता होती थी; क्योंकि यज्ञ के समय उसका रस दूध में मिला कर पिया जाता था, उसकी आहुति यज्ञ में डाली जाती थी, तथा वह इन्द्रादि देवताओं को भी बहुत प्रिय था। यह पौधा काश्मीर के पर्वतीय प्रदेश में ऊगता था। असभ्य जातियों के लोग उसे वहाँ से लाकर आर्यों को बेचते थे। साधारणतया सोम पौधे को गायें लेकर बेचा जाता था।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक काल में सोम पौधे का व्यापार पूर्णतया विकसित था व बेचनेवाले बहुत अधिक मूल्य वसूल करते थे।

अथर्ववेद व व्यापार

अथर्ववेद में वाणिज्य के विकास का उल्लेख अप्रत्यक्षरूप से आता है। उसमें[2] कहा गया है कि "मैं वणिक् (व्यापारी) इन्द्र को प्रेरित करता हूँ। उसकी कृपा से ये पुर् (नगर) हमें प्राप्त होवें। वह हमारे शत्रुओं को मार कर मुझे धन प्रदान करे। द्यावा-पृथिवी के मध्य देवताओं के विचरण करने के लिये जो बहुत से मार्ग हैं, वे मेरे लिये दूध व घी से युक्त हो जावें, जिससे उन्हें खरीद कर धन प्राप्त करूँ।[3] हे अग्नि, हमारा कल्याण होवे; मेरे लिये प्रपण (बाजार), विक्रय व प्रतिपण (बाजार में माल आदि बेचना ?) सफल बनाओ। जिस धन से मैं बाजार में विचरण करता हूँ, जिस धन से देवता भी धन की इच्छा करते हैं, उसके प्रति इन्द्र, प्रजापति, सोम व अग्नि रुचि धारण करें। इस प्रकार हम अपने धन की वृद्धि करें।"

---

[1] ऋग्वेद ८।३।२०;

[2] अथर्ववेद ३।१५।१-८

[3] अथर्व. ३।१५।२; "ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि ॥"

उपरोक्त सूक्त में अप्रत्यक्षरूप से वेदकालीन वाणिज्य पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। इन्द्र को व्यापारी कह कर उससे धन की माग की गई है। इससे यह ध्वनित होता है कि उस समय बड़े बड़े धनाढ्य व्यापारी रहते थे, जो परोपकार में अपने धन का उपयोग करते थे। पृथ्वी व आकाश के मध्य स्थित जो बहुत से मार्गों का उल्लेख है व जिनको घी दूध से सम्बन्धित किया गया है, उनसे हम तत्कालीन यातायात के विभिन्न मार्गों की कल्पना कर सकते हैं, जो देश के विभिन्न भागों में बिखरे हुए थे। उन मार्गों का घी दूध से युक्त होने का तात्पर्य्य है कि उन मार्गों द्वारा तत्कालीन व्यापारी दूर दूर के गाँवों तक पहुँचते थे व वहाँ से घी दूध खरीद कर उनके द्वारा बहुत सा धन कमाते थे। इसके अतिरिक्त उक्त सूक्त में व्यापार से सम्बन्धित कुछ पारिभाषिक शब्द भी प्रयुक्त किये गये हैं, जैसे 'प्रपण', 'विक्रय' 'प्रतिपण' आदि। इन सब बातों से हमें वेदकालीन भारत के आन्तरिक व्यापार की उन्नत अवस्था का पता चलता है।

बाह्य व्यापार

वैदिक युग में आन्तरिक व्यापार के समान बाह्य व्यापार भी उन्नत अवस्था में था। ऋग्वेद में समुद्र में चलने वाली नावों (जहाजों) का उल्लेख कितने ही स्थलों पर आता है।[1] एक स्थान पर सौ मस्तूल वाले जहाज का भी उल्लेख आता है[2], जिसमें बैठ कर भुज्यु नाम का नाविक समुद्र में बहुत दूर तक चला गया था व रास्ता भूल गया। अश्विन् की स्तुति करने पर वह वापिस लौट आया।[3] धन प्राप्त करने के इच्छुक अपने जहाजों को समुद्र में भेजते थे।[4] द्रव्य लाभ की इच्छा से बहुत से व्यापारी जहाजों में एक साथ समुद्र यात्रा करते थे।[5] समुद्र यात्रा प्रारम्भ करने के

[1] ऋग्वेद १।२५।७ वेद नाव समुद्रिय ॥ १।४८।३ १।५६।२ १।११६।३ २।४८।३ ७।८८।३४

[2] ऋग्वेद १।११६।५ यदश्विना ऊहथुर्भुज्युमस्त शतारित्रां नावमातस्थिवांसम् ॥

[3] ऋ० १।११६।३-५

[4] ऋ० १।४८।३

[5] ऋ० १।५६।२

पूर्ण देवताओं की प्रार्थना की जाती थी।[1] समुद्रों में स्थित द्वीपों का भी उल्लेख ऋग्वेद[2] में आता है। समुद्र का स्वामी वरुण जहाजों के मार्गों व वायु के मार्गों को जानता है, ऐसा उल्लेख ऋग्वेद में आता है।[3] इन उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद-कालीन आर्य समुद्र से पूर्णतया परिचित थे व उनके व्यापारी विदेशों में व्यापार करने के लिये समुद्रयात्रा करते थे। ऋग्वेद में चार समुद्रों का उल्लेख आता है,[4] जहाँ सोम से प्रार्थना की गई है कि "हे सोम हमें चारों समुद्रों का सम्पूर्ण धन प्रदान करो" तथा इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि "हे इन्द्र हमें धन धारण करने वाले चारों समुद्र प्रदान करो।" इन उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि वैदिक आर्य व्यापार के लिये दूर-दूर के विभिन्न समुद्रों की यात्रा करते थे व बहुत-सा द्रव्य प्राप्त करते थे। ऋग्वेद के एक सूक्त[5] में "अस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिन्दाः"[3] ("हमें अद्भुत व श्रेष्ठ धन प्रदान करो") शब्दों द्वारा बार-बार धनप्राप्ति के लिये इन्द्र से प्रार्थना की गई है। उसी प्रकरण में 'सहस्रिणं' व 'शतिनं' शब्दों का प्रयोग हुआ है।[7] अन्य स्थानों में भी इन शब्दों का प्रयोग किया गया है। जिस प्रकार आजकल 'लखपति' 'करोड़पति आदि शब्द धनाढ्यों के लिये प्रयुक्त किये जाते हैं, उसी प्रकार 'सहस्रिन्' 'शतिन' आदि शब्द वेदकालीन धनाढ्यों के लिये प्रयुक्त किये जाते होंगे।

पणि

ऋग्वेदकालीन व्यापार के बारे में विचार करते समय पणियों पर विचार किये बिना हम नहीं रह सकते। ऋग्वेदकालीन व्यापार में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान था। वे ऋग्वेद काल के महत्त्वपूर्ण व्यापारी

---

[1] ऋ० ४।५५।६;

[2] १।१६९।३; १०।१०।१,

[3] १।२५।७;

[4] ऋ० ९।३३।६ : "रायः समुद्रांश्चतुरोऽस्मभ्यं सोम विश्वतः। आ पवस्व सहस्रिण ॥"; १०।४७।२ : "चतु. समुद्रं[illegible] ३।";

[5] १०।४७;

[6] १०।४७।१, २, ३

[7] १०।४७।५

थे। ये लोग जनता में बहुत अप्रिय थे। वे भेड़ियों के समान लालची थे,[1] तथा अत्यन्त ही कंजूस व स्वार्थी थे[2]। ऋग्वेद में पूषा से प्रार्थना की गई है कि पणियों के हृदयों के टुकड़े टुकड़े कर दो।[3] उन्हें यज्ञ न करने वाले, दुष्ट वाणीयुक्त, असभ्य आदि शब्दों से सम्बन्धित किया गया है।[4] कभी-कभी अपना माल बेचते हुए जब वे देश के विभिन्न भागों में घूमते थे तब वे दूसरों की गायें भी चुरा लेते थे। इसके कारण उन्हें कितनी ही बार लड़ना भी पड़ता था। इसी प्रकार की एक लड़ाई में इन्द्र ने उन्हें बुरी तरह से पराजित व शासित किया था।[5] ऋग्वेद[6] में वर्णन आता है कि सरस्वती ने हमेशा पणियों को पराजित किया है। दिवोदास ने इसी नदी के किनारे पणियों से युद्ध किया था।[7] ऋग्वेद के एक सूक्त[8] में पणियों व सरमा का संवाद दिया गया है। पणियों ने इन्द्र की गायें चुरा कर एक किले में बन्द कर दी थीं। इन्द्र की ओर से सरमा उन गायों का पता लगाती है व पणियों को उन्हें लौटाने के लिये कहती है। किन्तु पणि उन गायों को नहीं लौटाते। इस संवाद से पणियों व आर्य्यों के पारस्परिक सम्बन्ध पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

पणि लोग कदाचित् जहाज, नाव आदि भी बनाते थे, जिनमें बैठ कर वे समुद्रयात्रा करते थे। बृबु उनका एक नेता था, जो गङ्गा के तट पर रहता था, व जिसने आर्य धर्म स्वीकार लिया था। उसकी दानशूरता का उल्लेख ऋग्वेद में आता है।[9]

पणि कौन थे इस सम्बन्ध में ऐतिहासिकों में मतैक्य नहीं है। ऋग्वेद में उन्हें असुर कहा गया है, वे आर्यों के शत्रु दास व दस्यु

---

[1] ऋग्वेद ६।५१।१४,

[2] ६।६१।१

[3] ऋ० ६।५३।७,

[4] ऋ० ७।६।३

[5] ऋ० ६।३९।२,

[6] ६।६१।१ "यास्वन्तमाचारवादावस पणिम् ।",

[7] ऋ० ६।६१।१ ३,

[8] १०।१०८,

[9] ऋ० ६।४५।३१–३३,

के साथ उल्लिखित हैं। यद्यपि वे बहुत धनवान् थे, तथापि आर्य देवताओं की स्तुति नहीं करते थे और आर्य ऋषियों को दान भी नहीं देते थे। वे व्यापारी तो अवश्य थे, किन्तु किस देश के निवासी थे, इस सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत मतभेद है। कुछ विद्वान् उन्हें भारत के आदिम निवासी अनार्यों से सम्बन्धित करते हैं और कुछ बेकनाट शब्द के आधार पर बेबिलोनिया के निवासियों से। कुछ विद्वान् उन्हें आर्य व्यापारी मानते हैं, जिन्होंने आर्य संस्कृति का प्रसार पश्चिम में किया।[1] कुछ ऐतिहासिकों का मत है कि पणियों को एशिया के पश्चिमी तटवर्ती प्राचीन देश फिनिशिया के निवासी फिनिशियन्स से सम्बन्धित किया जा सकता है[2]। वे मानते हैं कि फिनिशियन्स व पणि एक ही थे। फिनिशियन्स प्राचीन काल के जबरदस्त व्यापारी थे, जिनके व्यापार का केन्द्र भूमध्यसागर व उसके तटवर्ती देश थे।[3] इसलिये फिनिशिया व्यापारियों का राष्ट्र कहलाया। उन्होंने उत्तरीय आफ्रिका में अपना बड़ा साम्राज्य स्थापित किया था, जिसकी राजधानी कार्थेज नगर में थी। यदि वेदकालीन पणियों से इनका सम्बन्ध स्थापित हो जाय, तो प्राचीन भारत के व्यापारिक इतिहास का स्वरूप कुछ और ही हो जायगा।

डॉ० अ० स० अल्टेकर[4] ने पणियों के बारे में एक नया मत उपस्थित किया है। भारत में आर्यों के आगमन का समय ई० पू० २००० वर्ष के आसपास निश्चित कर तथा हरप्पा निवासियों व आर्यों का ई० पू० २०००-१५०० तक सह-अस्तित्व सिद्ध कर उन्होंने हरप्पा निवासियों को ऋग्वेद में उल्लिखित पणियों से सम्बन्धित किया है। पणि लोग व्यापारी थे, ब्याज खाने वाले व अत्यधिक धनवान् थे। इसी प्रकार हरप्पानिवासी भी व्यापारी थे व बहुत धनवान् थे। उनके व्यापारिक प्रतिनिधि बेबिलोनिया में

[1] वेदिक एज (भारतीय विद्या भवन), पृ० २४८–२४९

[2] क० मा० मुंशी–गुर्जरदेश जि० १, पृ० ५९–६१, ८७

[3] सिनोबस–एन्शन्ट सिह्विलिजेशन, पृ० ८०–८४

[4] इन्डियन हिस्ट्री काँग्रेस-प्रोसिडिंग्ज ऑफ दि ट्वेन्टीसेकन्ड सेशन, १९५९,

रहते थे। खुदाई के परिणाम-स्वरूप उनके जो चिह्न प्राप्त हुए हैं, उनसे ज्ञात होता है कि वे आर्थिक दृष्टि से बहुत ही सम्पन्न थे। घग्घर (प्राचीन सरस्वती) नदी के कछार में से हरप्पा-संस्कृति के बहुत से चिह्न खोद निकाले गये हैं। इससे सिद्ध होता है कि हरप्पानिवासी सरस्वती नदी के किनारे बसे थे। ऋग्वेद[1] में उल्लेख आता है कि सरस्वती नदी के किनारे पणियों को बहुत बार पराजित किया गया था। दिवोदास ने इसी नदी के किनारे पणियों से युद्ध किया था[2]। हरियूपीया में इन्द्र ने आर्यों के लिये जिन शत्रुओं का संहार किया था वे कदाचित् हरप्पानिवासी ही रहे होंगे।[3] इस प्रकार डॉ० अल्टेकर के मतानुसार ऋग्वेद में वर्णित पणि हरप्पा-संस्कृति के अनुयायी थे।

विनिमय के साधन

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि वैदिक युग मे वाह्य व आन्तरिक व्यापार बहुत विकसित अवस्था में था। अतएव वस्तुओं के क्रय विक्रय के लिये विनिमय के साधनों का भी विकास हुआ था। उस समय साधारणतया गाय विनिमय का मुख्य साधन थी, जिसके द्वारा वस्तुओं का क्रय-विक्रय किया जा सकता था। इसीलिये पणि लोग अपने साथ बहुत सी गायें रखते थे, व कभी-कभी वे आर्यों की गायें भी चुराते थे। गाय के अतिरिक्त सोने व चांदी के सिक्के[4] भी विनिमय के लिये प्रयुक्त किये जाते थे। निष्क सर्वप्रथम गले का एक सुवर्ण आभूषण था,[5] जिसका उल्लेख ऋग्वेद[6] में आता है। विनिमय के साधन के रूप में भी निष्क का उल्लेख ऋग्वेद मे आता है, जहाँ एक ऋषि को सौ निष्क व सौ

---

[1] ६।६१।१,

[2] ऋग्वेद ६।६१।१-३,

[3] ऋग्वेद ६।२७।५-६

[4] एस० सी० दास—ऋग्वेदिक कल्चर, पृ० १४०

[5] मैक्डनेल व कीथ—वेदिक इन्डेक्स १।४५४-५५

[6] २।३३।१०, ८।४७।१५, ५।१९।३ 'निष्कग्रीवो बृहदुक्थ एना मध्वा न वाजयु ॥''

घोड़े दान में दिये जाते हैं[1]। इसी प्रकार अथर्ववेद[2], शतपथब्राह्मण[3], गोपथब्राह्मण[4] आदि में भी विनिमय-मुद्रा के रूप में निष्कों का उल्लेख है। 'मना' भी वैदिक युग का एक सिक्का था, जिसे कदाचित् पणि लोग बेबिलोनिया व सिरिया ले गये थे, जहाँ उसे 'मिना' कहते थे। वहाँ से वह धीरे-धीरे प्राचीन यूनान की मुद्रा-व्यवस्था में सम्मिलित कर लिया गया और 'मना' कहलाने लगा।[5] इसका उल्लेख ऋग्वेद[6] में आता है, जहाँ इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि हमें सुवर्ण मना प्रदान करो। ऋग्वेद (२।१७३।२, ४।३३।२; १०।६।३) में और कितने ही स्थानों में 'मना' का उल्लेख है। चांदी की मुद्राएँ भी विनिमय के साधन के रूप में प्रयुक्त की जाती थीं। पञ्चविंश ब्राह्मण (१७।१।१४) में चांदी की निष्क का उल्लेख आता है। ऋग्वेद में "रयि" शब्द कितने ही वार प्रयुक्त हुआ है। एक सूक्त[7] में तो "चित्रं वृषणं रयिन्दाः" ("हमें अद्भुत व 'वृषण' रयि प्रदान करो") शब्द आठ वार प्रयुक्त किये गये हैं। इसी प्रकार "वयं स्याम पतयो रयीणां"[8] ("हम रयियों के पति बनें") आदि शब्दों से रयिओं के स्वामी बनने की इच्छा दर्शाई गई है। ऋग्वेद[9] मे अन्य स्थलों पर भी "रयिं दा : ('रयि देओ') शब्दों का प्रयोग किया गया है। इन उल्लेखों के आधार पर कुछ विद्वानों का मन्तव्य है कि "रयि" चांदी के सिक्के थे, जो साधारणतया दान में दिये जाते थे व जो विनिमय के साधन भी थे।[10] उत्तर वैदिक युग में "शतमान"

---

[1] ऋ० १।१२६।२,

[2] २०।१२७।३ : "एष इषाय मामहे शतं निष्कान् दश स्रजः। त्रीणि शतान्यर्वतां सहस्रा दश गोनाम् ॥",

[3] ११।४।१।१, ८,

[4] १।३।६; वेदिक इन्डेक्स १।४५४-४५५

[5] ए० सी० दास—ऋग्वेदिक कल्चर, पृ० १४०,

[6] ८।७८।२

[7] ऋग्वेद १०।४७,

[8] ऋ० १०।१२१।१०

[9] ऋग्वेद ५।३३।६ : "स न एनी वसवानो रयिदा. प्रार्य. स्तुषे तुविमघस्य दानम् ॥"

[10] ए० सी० दास—ऋग्वेदिक कल्चर पृ० १४१

भी एक सोने का सिक्का था, जिसका खूब प्रचलन था।[1] उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि वैदिक युग के आर्थिक विकास में मुद्रा-विनिमय का महत्त्वपूर्ण स्थान था।

५

उद्योग-धन्धे

प्राचीन भारत के आर्थिक विकास में विभिन्न उद्योग-धन्धों का भी विशिष्ट स्थान था, जिनका विकास साधारणतया नगरों से सम्बन्धित था। नागरिक जीवन के लिये आवश्यकीय वस्तुओं के उत्पादन की व्यवस्था नगरों में ही की गई थी। ऋग्वेद के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन नागरिक जीवन पूर्णतया विकसित था। नगरों में बड़े-बड़े भवनों का निर्माण किया जाता था, जिन्हें हर्म्य, प्रहर्म्य, सद्म, प्रसद्म, दीर्घ प्रसद्म आदि नामों से सम्बोधित किया जाता था। नगरों में पुर् (किले) भी रहा करते थे। ऋग्वेद में सरस्वती नदी को एक लोहे का किला कहा गया है[2], जिसका उपयोग पणियों के विरुद्ध युद्ध के अवसर पर किया गया था। इस समय बड़े-बड़े रथ भी बनाये जाते थे, जिनका उपयोग युद्ध में किया जाता था, तथा जो आवागमन के मुख्य साधन थे। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक काल के विकासित नागरिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये विभिन्न उद्योग-धन्धों को उन्नत किया गया था, और ये उद्योग-धन्धे आर्थिक विकास के मुख्य अङ्ग थे।

वैदिक काल का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उद्योग-धन्धा सूत कातना व कपड़ा बुनना था। ऋग्वेद में कितने ही स्थानों पर चरखे द्वारा सूत कातने व कपड़ा बुनने का उल्लेख आता है।[3] ऋग्वेद[4] में कपड़ा बुननेवाले को 'वय' कहा गया है। पूषा को ऊन का कपड़ा बुननेवाला कहा गया है। 'सिरि' शब्द भी कदाचित् उसी

---

[1] वैदिक एज (भारतीय विद्या भवन), पृ० ४६१

[2] ऋ० ७।९५।१ : "एषा सरस्वती धरुणमायसीपूः।"

[3] वसु—इन्डो आर्यन पॉलिटी, पृ० ११७

[4] २।३।६:

अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'तन्तु', 'तन्त्र', 'ओतु', 'तसर', 'मयूख' आदि शब्द, जिनका उल्लेख ऋग्वेद मे आता है, बुनने की कला से सम्बन्धित थे।[1] इसके अतिरिक्त रथ बनाने के लिये विभिन्न धातुओं को गलाने, आभूषण बनाने, हथियार बनाने व ऐसे अन्य कितने ही उद्योग-धन्धों का अप्रत्यक्ष उल्लेख ऋग्वेद में आता है। युद्ध के लिये रथ, यातायात व खेती के लिये गाड़ी बनाने की कला से सम्बन्धित बहुत सी उपमा व रूपक के प्रयोग से स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद-काल मे बढ़ई का उद्योग-धन्दा बहुत विकसित था। वह लकड़ी का सब प्रकार का काम करता था तथा कलापूर्ण कार्य के सम्पादन में भी वह सिद्धहस्त था।[2] धातुओं का काम करनेवाला भट्टी में कच्ची धातुओं को गलाकर उनसे बहुत सी आवश्यकीय वस्तुएँ बनाता था। घरेलू आवश्यकताओं के बर्तन आदि 'अयस्' धातु के बनाये जाते थे। 'अयस्' धातु के सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत मतभेद है। इसको कदाचित् ताम्बे, कांसे या लोहे से सम्बन्धित किया जा सकता है।[3] धातु के बर्तनों के अतिरिक्त लकड़ी व मिट्टी के बर्तन भी बनाये जाते थे, जिनका उपयोग भोजन आदि के लिये किया जाता था। चमड़े को कमाने व उससे विभिन्न वस्तुओं को बनाने का उद्योग भी विकसित हुआ था[4]। बैल के चमड़े से धनुष् की रस्सी, रथ को बाँधने की रस्सी, घोड़े की लगाम की रस्सी, कोड़े की रस्सी आदि अनेक वस्तुएँ बनाई जाती थीं।[5] बैल के चमड़े की थैलियाँ भी बनाई जाती थीं।[6] इसके अतिरिक्त इस युग में बहुत से घरेलू व कुटीर उद्योग भी विकसित हुए थे, जैसे कपड़े सीना, घास आदि से चटाई बनाना आदि।

ऋग्वेद काल में उपरोक्त उद्योग धन्धे विकासित किये गये थे, और इन धन्धों को करने की लोगों को पूरी स्वतन्त्रता थी। वे

---

[1] ऋग्वेद ६।९।२, ३ : "नाह तन्तुं न विजानाम्योतुं न य वयन्ति समरेऽतमानाः"; १०।७१।९; १०।१३०।२; ७।९९।३, १०।२६।६;

[2] ऋ० १।१६१।९; ३।६०।२; १०।८६।५;

[3] वैदिक एज (भारतीय विद्या भवन); पृ० ३९७

[4] ऋग्वेद ८।५।३८;

[5] ऋ० ६।७५।११; १।१२१।९; ६।४७।२६, ६।४६।१४, ६।५३।९;

[6] ऋ० १०।१०६।१०

अपनी इच्छानुसार किसी भी उद्योग-धन्धे को कर सकते थे। ऋग्वेद[1] में वर्णन आता है कि अलग-अलग लोगों की बुद्धि, विचार आदि अलग-अलग होते हैं। बढ़ई एक टूटी-फूटी वस्तु को चाहता है, वैद्य बीमार आदमी को चाहता है, पुरोहित बलि प्रदान करने वाले को चाहता है, लुहार सूखी लकड़ियों, पक्षियों के पङ्ख, धातु, अग्नि आदि द्वारा बहुत धनवान् मनुष्य को चाहता है। "मैं कवि हूँ, मेरे पिता वैद्य हैं, मेरी माता अनाज पीसनेवाली है।[2] हम नाना विचार वाले अपने-अपने ढङ्ग से द्रव्य प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं।" प्रत्येक कलापूर्ण कार्य्य की प्रशंसा की जाती थी व उसके कर्ता का आदरसत्कार किया जाता था। ऋभुओं ने त्वष्टा द्वारा बनाये हुए एक 'चमस' (यज्ञपात्र) के चार 'चमस' बना दिये थे, जिसके लिये उनका दैवी सत्कार किया गया था। वे रथ बनाने में भी सिद्धहस्त थे।[3] रथ बनाने की कला को इतना महत्त्व दिया गया था कि वेदमन्त्र बनाने के कौशल की तुलना रथ बनाने के कौशल से की जाती थी।[4]

यजुर्वेद[5] में वैदिक काल के विभिन्न उद्योग-धन्धों को करनेवालों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है, जैसे सूत, शैलूष, रथकार, तक्षा, कौलाल, कर्मार, मणिकार, इषुकार, धनुष्कार, ज्याकार, रज्जु सर्ज, मृगयु, श्वनी, भिषक्, हस्तिप, अश्वप, गोपाल, अविपाल, अजपाल, सुराकार, हिरण्यकार, वणिक्, ग्वाली आदि। ये सब मिला कर तेइस उद्योग धन्धे होते हैं। यदि इन पर आलोचनात्मक विचार किया जाय तो वेदकालीन आर्थिक व्यवस्था पर अच्छा प्रकाश पड़ेगा। इन उद्योग धन्धों में समाज के विभिन्न वर्ग प्रतिबिम्बित होते हैं, जिनको आर्थिक दृष्टि से विभिन्न श्रेणियों में रखा जा सकता है। इन उद्योग-धन्धों को निम्नाङ्कित विभागों में विभाजित किया जा सकता है :—

---

[1] ९।११२।१-४

[2] ऋ० ९।११२।३ : "कारुरह ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।",

[3] ऋग्वेद १।१६१।१-५,

[4] ऋ० १।६१।४१, १।६२।१३, १।१३०।६, १।१७१।२, २।१९।८, ४।१६। २०; ५।२९।१५; ६।३२।१,

[5] यजु० ३०।६, ७, ११, १७, २०

(१) मणिकार, हिरण्यकार, रथकार, हस्तिप व अश्वप।

(२) गोपाल, ग्वाली, तक्षा, धनुष्कार, इषुकार, ज्याकार, भिषक् व कर्मार।

(३) सूत, शैलूष, कौलाल, अविपाल, अजपाल व सुराकार।

(४) रज्जु सर्ज, मृगयु व श्वनी।

उपरोक्त चार विभागों में समाज के चार वर्ग प्रतिबिम्बित होते हैं, जैसे :—

(१) *अत्यन्त धनाढ्य वर्ग*—इस वर्ग में समाज के सब से अधिक धनाढ्य व्यक्तियों को सम्मिलित किया जा सकता है, जिनको जीवन के उपभोगों का आनन्द उठाने का अवसर प्राप्त था। बड़े-बड़े ऋषियों को भी इस वर्ग में रखा जा सकता है। यद्यपि वैदिक साहित्य पूर्णतया धार्मिक है, फिर भी ऋग्वेदादि ग्रन्थों में सुवर्ण कितने ही स्थलों पर उल्लिखित है। देवताओं से कितनी ही बार प्रार्थना की गई है कि 'हमें धन प्रदान कीजिये', 'हम धन के स्वामी बनें' आदि। जब राजा ऋषियों को दान देते थे, तब सहस्रों गायें व घोड़े दान में दिये जाते थे; गायों के सींग कभी-कभी सुवर्ण में भी मढे रहते थे। इन सब उल्लेखों से स्पष्ट है कि वेदकालीन समाज के पास सुवर्ण बहुत अधिक था। इसका वितरण किस प्रकार होता था, यह कहना तो कठिन है; किन्तु इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि एक वर्ग ऐसा था, जिसके पास सुवर्ण बहुत अधिक था। इस वर्ग में राजा, राजन्य, बड़े-बड़े राजकर्मचारी, बड़े बड़े व्यापारी, बड़े-बड़े ऋषि आदि सम्मिलित किये जा सकते हैं। इस वर्ग के अधिकांश लोग रत्नजटित सुन्दर आभूषण पहिन रथ, हाथी, घोड़े आदि की सवारी करते थे। इन्हीं लोगों की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये समाज में मणिकार (जड़िया), हिरण्यकार (सुनार), रथकार (रथ बनाने वाला), हस्तिप (हाथी पालने वाला), अश्वप (घोड़ा पालनेवाला) आदि के उद्योग धन्धे विकसित किये गये थे। इस वर्ग के लोग साधारणतया बड़े बड़े नगरों में रहते थे, जहाँ उनके लिये महर्म्य, प्रसद्म, दीर्घ-प्रसद्म आदि विशालकाय भवन बने हुए थे।

(२) *उच्च मध्यम वर्ग*—इस वर्ग के अन्तर्गत उन लोगों को सम्मिलित किया जा सकता है, जो प्रथम वर्ग के लोगों के समान

तो धनाढ्य नहीं थे, तो भी समाज के अन्य वर्गों से आर्थिक दृष्टया बहुत अच्छे थे। मध्यम वर्ग के राजकर्मचारी, व्यापारी, कवि, लेखक, साधारण कोटि के ऋषि आदि बुद्धिजीवी वर्ग के प्रतिनिधि तथा इसी श्रेणी के अन्य जन उच्च मध्यम वर्ग में रखे जा सकते हैं। योद्धाओं को भी इसमें सम्मिलित किया जा सकता है। ये साधारणतया छोटे छोटे नगरों में रहते थे। ये लोग हर्म्य, सद्म आदि साधारण घरों में रहते थे। इनकी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये गोपाल (गाय पालने वाला), ग्वाली (दूध बेचने वाला), तक्षा (बढ़ई), धनुष्कार (धनुष बनाने वाला), इषुकार (बाण बनाने वाला), ज्याकार (धनुष की रस्सी बनाने वाला), भिषक् (वैद्य), कर्मार (लुहार) आदि से सम्बन्धित विभिन्न उद्योग-धन्धे विकसित किये गये थे। इस वर्ग के लोगों को अपने दैनिक जीवन में घी, दूध, बर्तन, धनुषबाण, ओषधि आदि की आवश्यकता होती थी, व उन्हीं की पूर्ति गोपाल, तक्षा आदि द्वारा की जाती थी।

(३) *साधारण मध्यम वर्ग*—इस वर्ग में छोटे छोटे दूकानदार तथा व्यापारी, छोटे राजकर्मचारी व इसी श्रेणी के अन्य व्यक्तियों को सम्मिलित किया जा सकता है। ये लोग साधारणतया छोटे-छोटे नगरों व ग्रामों में रहते थे। ये लोग छोटे छोटे मकानों या झोपड़ियों में रहते थे। इनकी मिट्टी के बर्तनों की आवश्यकता कोलाल (कुम्हार) द्वारा पूरी की जाती थी। सूत (नाचनेवाले), शैलूष (गानेवाले) आदि अपने नाचने-गाने की कला द्वारा इस वर्ग की गरीब जनता का मनोरञ्जन करते थे। वे स्वत भी इसी वर्ग के थे। सुराकार (शराब बनानेवाले) के उल्लेख से पता लगता है कि लोगों को शराब पीने का भी शौक था। शराब बना कर बेचने वाले भी इसी वर्ग के सदस्य थे। अविपाल (भेड़ पालनेवाले), अजपाल (बकरी पालनेवाले) आदि बड़ी बड़ी संख्या में भेड़ व बकरी पालते थे व साधारणतया देहातों में रहते थे। ये लोग भी समाज के आर्थिक विकास में अपना हाथ बटाते थे।

(४) *अर्धसभ्य ग्रामीणों का वर्ग*—वैदिक युग में समाज का एक वर्ग एक ऐसा भी था, जो देहातों व जंगलों में रहता था,

तथा वन्य पशुओं का शिकार आदि करके उदरनिर्वाह एवं अर्थोपार्जन करना था; बहुत से शिकारी अपने शिकार के लिये शिकारी कुत्ते भी पालते थे। इनके अतिरिक्त देहातों में रस्सी बनाने वाले (रज्जुसर्ज) भी रहते थे। कृषिकार्य्य, बैलगाड़ी आदि के लिये रस्सी की बहुत आवश्यकता होती थी। बहुत से गरीब ग्रामीण रस्सी बनाने के उद्योग से अपना उदरपोषण करते थे।

इस प्रकार यजुर्वेद में उल्लिखित विभिन्न उद्योग-धन्दे वैदिक काल के समाज के आर्थिक ढाँचे का सुन्दर चित्र हमारे सामने उपस्थित करते हैं, जिसके आलोचनात्मक अध्ययन से हम वेदकालीन आर्थिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं को भली-भाँति समझ सकते हैं। ऊपर जो कुछ लिखा गया है उसके आधार पर कहा जा सकता है कि वैदिक युग के आर्थिक विकास में विभिन्न उद्योग-धन्दों का भी महत्त्वपूर्ण हाथ था।

संगठित आर्थिक जीवन

वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि वैदिक युग का समाज पूर्णतया संगठित था। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को संगठित रूप से विकसित किया गया था। इसी सिद्धान्त के अनुसार यह कहा जा सकता है कि वेदकालीन आर्थिक जीवन भी पूर्णतया संगठित था। यद्यपि इस सम्बन्ध में वैदिक साहित्य से कोई प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त नहीं होता, फिर भी अप्रत्यक्ष रूप से आर्थिक संगठन की पुष्टि में प्रमाण प्राप्त होते हैं। यजुर्वेद में विभिन्न उद्योग-धन्धों की जो सूचि दी गई है, तथा ऋग्वेदादि में भी विभिन्न उद्योग-धन्धों का जो उल्लेख आता है, उससे यह भास होता है कि वे उद्योग-धन्धे संगठित रूप में विकसित किये गये थे। किसी विशेष संगठन के बिना इतने अधिक उद्योग-धन्धे विकसित भी नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त बौद्धकाल (ई० पू० ६०० वर्ष) में यजुर्वेद में वर्णित सब उद्योग-धन्धों का संगठित स्वरूप वर्तमान था। अतएव यह संभव है कि वैदिक युग में भी व्यापार, व्यवसाय, उद्योग-धन्धे आदि संगठित रूप में विकसित किये गये थे।

डॉ० रमेशचन्द्र मुजुमदार के मतानुसार[1] पणि, श्रेष्ठिन्, गण आदि शब्द वैदिक साहित्य में उल्लिखित हैं, जिनसे तत्कालीन

[1] रमेशचन्द्र मुजुमदार—कारपोरेट लाइफ इन एन्शन्ट इण्डिया, अ० १

संगठित आर्थिक जीवन का बोध होता है और यह स्पष्ट होता है कि आर्थिक संगठन वेदकालीन सामाजिक व्यवस्था की विशेषता थी।

६

उपसंहार

वेदकालीन आर्थिक विकास के सम्बन्ध में ऊपर जो कुछ लिखा गया है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि आर्थिक दृष्टि से समाज बहुत सम्पन्न था; उसने आर्थिक जीवन के विभिन्न पहलुओं का सुचारु रूप से विकास किया था। वैदिक युग का आर्थिक विकास सांस्कृतिक विकासरूपी शृङ्खला की एक कड़ी मात्र था। जीवन के चार महान् उद्देशों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) में अर्थ भी एक था। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि अर्थ ही सब कुछ नहीं था। अर्थ का विकास धर्म की भूमिका पर किया जाता था। वेदकालीन आर्यों की जीवन के प्रति धार्मिक तथा दार्शनिक वृत्ति रहने के कारण उन्होंने अपने आर्थिक विकास पर धर्म का नियन्त्रण रखा था, जिसके कारण स्वार्थ, अहंकार, ईर्षा, द्वेष आदि पनपने नहीं पाते थे। परिणामतः, समाज को आर्थिक विषमताओं के कारण आपत्ति व संकट का सामना नहीं करना पड़ता था। वेदकालीन आर्थिक विकास मानव को जीवन के अन्तिम ध्येय मोक्ष की ओर ले जाता था। प्रवृत्ति व निवृत्ति मार्ग के सुन्दर सामञ्जस्य द्वारा यह सब सिद्ध किया जाता था।

वेदकालीन आर्थिक विकास की एक और विशेषता थी। भारत की नैसर्गिक परिस्थितियों के अनुसार ही वेदकालीन आर्थिक व्यवस्था नियमित की गई थी। भारत प्राचीन काल से ही कृषि-प्रधान देश रहा है व यहाँ की कृषि नियमित वर्षा के ऊपर आश्रित रहती है। इसीलिये वैदिक युग की आर्थिक व्यवस्था में कृषि का प्रमुख स्थान था। ऋग्वेद में इन्द्र को वर्षा का देवता माना गया है, तथा इन्द्र-वृत्र युद्ध द्वारा वर्षा का महत्त्व समझाया गया है। कृषि के अतिरिक्त आन्तरिक व बाह्य व्यापार तथा विभिन्न उद्योग-धन्दों का भी वेदकालीन भारत के आर्थिक विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान

था। इस विकास मे ग्रामीण व नागरिक जीवन के मध्य भी सुन्दर सामञ्जस्य स्थापित किया गया था। वेदकालीन ग्राम उत्पादन के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। ग्रामों में उत्पादित वस्तुओं का वितरण नगरों में होता था, जहाँ पर बड़े-बड़े बाजार थे व जहाँ बड़े बड़े उद्योगकेन्द्र विकसित किये गये थे। इस युग का वैदेशिक व्यापार भी अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण था। वेदकालीन आर्य बड़ी-बड़ी नावों व जहाजों में समुद्रयात्रा कर विदेशों से व्यापार करते थे। ऋग्वेद के पणि इस कार्य में बहुत आगे बढे थे। इस प्रकार वेदकालीन आर्थिक विकास अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण था। उसमें प्राचीन भारत के आर्थिक गौरव के बीज थे।

अध्याय—८

१

धर्म व दर्शन

भूमिका

वैदिक साहित्य का निर्माण करनेवाले ऋषि धार्मिक व दार्शनिक वृत्ति से ओत-प्रोत थे तथा उन्होंने धार्मिक उद्देश से प्रेरित होकर ही उक्त साहित्य का निर्माण किया। अतएव वेदों में तत्कालीन धार्मिक व दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिबिम्बित होना स्वाभाविक ही है। वेदों के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि उनमें जिन देवताओं की स्तुति में बहुत से मन्त्र लिखे गये हैं, वे भौतिक शक्तियों के रूप में एक सर्वोपरि सत्ता का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतएव यह कहा जा सकता है कि प्रकृति पूजा वेदकालीन धार्मिक जीवन का आदि स्रोत है। प्राचीन विश्व के अन्य देशों में भी धर्म का प्रारम्भ प्रकृति पूजा से ही हुआ। जब मनुष्य ने अपनी सांस्कृतिक बाल्यावस्था में प्रकृति के दर्शन किये, तब वह उसके विभिन्न रूपों को देख कभी प्रसन्न हुआ, कभी भयभीत हुआ, कभी स्तम्भित हुआ। अपनी असहाय अवस्था के कारण अपनी प्राकृतिक आवश्यकताओं की सरलता से पूर्ति न कर सकने से मनुष्य ने प्रकृति में दैवी शक्ति की कल्पना की, जिसकी सहायता से उसने सोचा कि मैं अपने कष्टों को दूर कर सकूंगा व अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर जीवन को सुखी बना सकूंगा। यहीं से "बहुदेवतावाद" का प्रारंभ होता है। ऋग्वेद के इन्द्र, अग्नि, वरुण, पृथ्वी आदि देवताओं के वर्णन पर यदि आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करें तो उपरोक्त मन्तव्य का तथ्य स्पष्ट हो जायगा। वेद-कालीन ऋषि देवताओं से कहीं अपने कष्टों को दूर करने की प्रार्थना करते हैं तो कहीं धन-प्राप्ति की प्रार्थना करते हैं। धीरे-धीरे यही "बहुदेवतावाद" 'एकेश्वरवाद" में परिणत हो जाता है। प्राचीन आर्यों ने अपने सांस्कृतिक विकास के प्रारंभ से ही अनेकत्व में एकत्व के दर्शन किये। प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक विकास का

मूलमन्त्र भी यही है। इसी भाव से प्रेरित होकर वैदिक ऋषियों ने विभिन्न देवताओं की पृष्ठभूमि में एक सर्वोपरि व सर्वनियामक सत्ता की कल्पना की और उन्होंने "एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति" ('एक ईश्वर को विद्वान् नाना प्रकार से वर्णित करते हैं।') आदि द्वारा "एकेश्वरवाद" का सूत्रपात किया। दार्शनिक वृत्ति के ऋषियों ने धीरे धीरे इसी 'एकेश्वरवाद" के सिद्धान्त को "सर्वेश्वरवाद" का स्वरूप दिया, जिस का चरम विकास उपनिषदों के "अहं ब्रह्मास्मि", "सर्वं खलु इदं ब्रह्म", "तत्त्वमसि" आदि वचनों में हुआ, तथा उन्होंने जीव ब्रह्म की एकता के निरूपण द्वारा अनेकत्व में एकत्व के दर्शन किये। इस प्रकार वैदिक युग के धार्मिक व दार्शनिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं का स्पष्टीकरण किया जा सकता है।

वैदिक युग के धार्मिक जीवन में प्रारम्भ से ही दो धाराएँ दृष्टिगोचर होती हैं—(१) भक्ति की धारा व (२) यज्ञों के कर्मकाण्ड की धारा। वैदिक साहित्य में देवताओं की जो स्तुति की गई है, उसमें भक्ति की भावना स्पष्टतया झलकती है। राजा के प्रति जैसी भक्ति रखी जाती है तथा उस से संरक्षण आदि प्राप्त करने की इच्छा रखी जाती है, उसी प्रकार देवता के प्रति भी भक्ति धारण कर उससे ऐहिक सुख, समृद्धि आदि के लिये प्रार्थना की गई है। वरुण, इन्द्र, विष्णु आदि देवताओं से सम्बन्धित वेदमन्त्र इसी प्रकार की भक्ति के अमित भण्डार हैं, जहां से वैदिक युग के पश्चात् भक्तिमार्ग ने प्रेरणा प्राप्त की। विभिन्न देवताओं के प्रति अगाध श्रद्धा व भक्ति वैदिककाल के धार्मिक जीवन की प्रमुख विशेषता रही है। उस समय के धार्मिक जीवन में यज्ञों का भी कुछ कम महत्त्व नहीं था। बहुत-सी प्राचीन जातियों में यज्ञ की प्रथा किसी न किसी रूप में वर्तमान थी। वैदिक साहित्य में यज्ञ का जो स्वरूप वर्णित है, उसके अन्तर्गत अग्नि के माध्यम से अपने इष्ट देवता को प्रसन्न करने के लिये उसे जो वस्तुएँ इष्ट हैं उन्हें प्रदान करने का भाव निहित है। वैदिक आर्य यह मानते थे कि यज्ञों में विभिन्न देवता मंत्रों द्वारा बुलाये जाने पर उपस्थित होते हैं व हविष् ग्रहण करते हैं। ऋग्वेद के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन धार्मिक जीवन में यज्ञ का क्रियाकलाप कितना व्याप्त हो गया था। ऋग्वेद[1] का प्रारंभ ही यज्ञ की भाषा में

[1] १।१।१ "अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।"

होता है। मधुच्छंदाः ऋषि कहते हैं—"मैं अग्नि की स्तुति करता हूँ, जो पुरोहित हैं, यज्ञ के देव हैं, ऋत्विक् हैं, होता हैं, तथा रत्नों के भण्डार हैं।" यहाँ आलङ्कारिक भाषा में यज्ञ के महत्त्व को समझाया गया है। इस से यह भी सिद्ध होता है कि यज्ञ का क्रियाकलाप ऋग्वेद-युग में विकसित हो गया था। वैदिक युग में यज्ञ का विकास उत्तरोत्तर होता ही रहा व नाना प्रकार के यज्ञों का प्रादुर्भाव हुआ। यज्ञों के क्रियाकलाप को सम्पादित करानेवाले ब्राह्मणवर्ग ने भी समाज में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया। यज्ञ का प्रभाव राजशक्ति पर भी पड़े बिना नहीं रहा। राजाओं को भी राज्याभिषेक द्वारा 'मूर्धाभिषिक्त' होना पड़ता था, तथा अश्वमेध यज्ञ द्वारा 'चक्रवर्ती' की पदवी प्राप्त करनी पड़ती थी। इसके अतिरिक्त वाजपेय, सर्वमेध आदि यज्ञ भी राजाओं को करने पड़ते थे। इस युग में यज्ञों का इतना प्राबल्य हो गया था कि द्विजों के लिये कितने ही 'संस्कार' आवश्यकीय बन गये थे। जन्म से मृत्यु पर्यन्त द्विज का समस्त जीवन यज्ञमय हो गया था। यज्ञ को भवसागर को पार करानेवाली नाव माना जाता था। यज्ञों का महत्त्व इतना बढ़ा कि परमेश्वर व देवता भी उसके सामने कुछ नहीं माने जाते थे। इस सिद्धान्त ने 'पूर्वमीमांसा' या 'कर्ममीमांसा' को जन्म दिया, जिसका विवेचन कितने ही आचार्यों ने किया है।

वैदिक युग के धार्मिक जीवन में एक विशेषता और पाई जाती है, और वह है धर्म व दर्शन का सुन्दर मिलन। वैदिक साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्रकृति-पूजा ने 'बहुदेवतावाद'-सिद्धान्त को जन्म दिया। यह 'बहुदेवतावाद' धीरे धीरे दार्शनिक पुट द्वारा 'एकेश्वरवाद' में परिणत हुआ। 'एकेश्वरवाद' को धर्म व दर्शन को जोड़नेवाली कड़ी कहा जा सकता है। 'एकेश्वरवाद' ने दार्शनिक क्षेत्र में प्रवेश करके 'सर्वेश्वरवाद' को जन्म दिया, जिसमें से वेदान्त के बहुत से मन्तव्यों का जन्म हुआ। 'सर्वेश्वरवाद' ने दार्शनिक विकास को एक नया मोड़ प्रदान किया। जीव व ब्रह्म की एकता या तादात्म्य के सिद्धान्त ने आत्मनिरीक्षण व आत्मोन्नति की ओर समाज को प्रेरित किया। मनुष्य केवल एक सुखदुःख भोगनेवाला क्षणभंगुर जीव मात्र नहीं था, वह उस अमर ज्योति का ही अंश मात्र था, जिसमें से यह चराचर जगत् आविर्भूत हुआ है। कुछ विचारक तो और आगे बढ़े और उन्होंने जीव व ब्रह्म के तादा-

त्त्व का मन्तव्य उपस्थित किया। "मैं ही ब्रह्म हूँ" ('अहं ब्रह्मास्मि'), माया के परदे को हटा देने से विशुद्ध ब्रह्म का साक्षात्कार हो सकता है, यह महान् आदर्श विचारकों के सामने उपस्थित किया गया।

प्राचीन भारतीयों के दार्शनिक विकास का केवल सैद्धान्तिक रूप ही नहीं था, उसका व्यावहारिक रूप भी बहुत ही महत्त्वपूर्ण था। वरुण के 'ऋत' में हमें आर्यों के सर्वप्रथम नैतिक कार्यक्रम के दर्शन होते हैं, जिसके अनुसार जीवन को अनुशासित करना प्रत्येक का कर्तव्य था। जो ऐसा नहीं करता था, उसके लिये वरुण के तीन 'पाश' (बन्धन) सर्वदा तैयार रहते थे। वरुण के ऋत से ही प्रेरणा प्राप्त करके प्राचीन भारतीयों ने नैतिकता के नियमों को जन्म दिया था, जिन्हें हम यम[1], नियमादि[2] के रूप में देखते हैं। मनु का दशलक्षणयुक्त धर्म[3] भी उसी 'ऋत' के आधार पर विकसित हुआ था। ब्राह्मण, बौद्ध, जैन आदि विचारकों ने यमनियम, दाशलाक्षणिक धर्म आदि द्वारा प्रतिपादित नैतिक नियमों को अपनाया था तथा वे उन्हीं नियमों के अनुसार अपने जीवन को बनाते थे।

वेदकालीन विचारकों ने न केवल आन्तरिक जगत् को समझने की चेष्टा की, किन्तु बाह्य जगत् पर भी पूरी तरह से विचार किया। उन्होंने नाना प्रकार से प्रकृति के रहस्यों को समझने का प्रयत्न किया। दृश्य व अदृश्य विश्व को समझने का प्रयत्न भी उन्होंने किया। उसके अनादित्व व अनन्तत्व का अनुभव भी उन्होंने किया। सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई, उत्पत्ति के पूर्व की स्थिति क्या थी, इस सम्बन्ध में उन्होंने गम्भीरतापूर्वक विचार किया, जिसको 'नासदीय सूक्त'[4] में देखा जा सकता है। सृष्टि की उत्पत्ति के बारे में भिन्न भिन्न सिद्धान्त उपस्थित किये गये, जिनके दर्शन 'हिरण्यगर्भ

---

[1] पतञ्जलि—योगसूत्र, साधनपाद, सू० ३०: "तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।"

[2] पतञ्जलि—योगसूत्र, साधनपाद, सू० ३२: "शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः॥"

[3] मनुस्मृति ६।९२; "धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥"

[4] ऋग्वेद १०।१२९

सूक्त',[1] 'पुरुष सूक्त'[2] आदि में होते हैं। 'नासदीय सूक्त' में 'असत्' व 'सत्' के विवेचन द्वारा सृष्ट्युत्पत्ति के पूर्व की परिस्थिति तथा सृष्ट्युत्पत्ति की प्रणालिका को समझने का प्रयत्न किया गया है। 'पुरुष सूक्त' में मेध्य पुरुष से यज्ञ प्रणालिका द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। 'हिरण्यगर्भ-सूक्त' में हिरण्यगर्भ को प्रजापति नाम से सम्बोधित कर सृष्टि का उत्पादक, नियामक व सञ्चालक माना गया है। इस प्रकार वेदकालीन दार्शनिकों ने सृष्ट्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादित कर विश्व की पहेलियों को बूझने प्रयत्न किया था।

२

ऋग्वेद के देवता

ऋग्वेद एक धार्मिक ग्रन्थ है। इसमें साधारणतया विभिन्न देवताओं की स्तुति की गई है, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं—अग्नि, वायु, इन्द्र, मित्रावरुण, अश्विन्, वरुण, सविता, भग, प्रजापति, पूषा, विष्णु, आपः, विश्वेदेवा, सरस्वती, इळा, भारती, द्यावा-पृथिवी, इन्द्राणी, वरुणानी, अग्न्यानी आदि। इन स्तुतियों पर यदि गूढ़ विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि तत्कालीन धार्मिक सिद्धान्त कितने उदात्त थे। पाश्चात्य विद्वान् इन स्तुतियों को पढ़कर इस निष्कर्ष पर आते हैं कि ऋग्वेदकालीन आर्य्य अन्य प्राचीन जातियों के समान प्रकृति के उपासक थे[3]। प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों से भयभीत या आश्चर्यचकित होकर वे उनकी प्रार्थना करते थे। उनके मतानुसार उस समय धार्मिक विकास अपनी प्रारंभिक अवस्था में था। किन्तु यह मन्तव्य युक्तिसङ्गत प्रतीत नहीं होता। उस समय धर्म विकास की प्रारम्भिक या प्रौढ़ अवस्था में था, यह तो ऋग्वेद के मन्त्रों को निष्पक्षवृत्ति से पढ़ने पर स्पष्ट हो जाता है।

ऋग्वेद में वर्णित देवताओं को विश्व के तीन विभागों (स्वर्ग,

---

[1] ऋग्वेद १०।१२१।

[2] ऋग्वेद १०।९०।

[3] ग्रिस्वोल्ड—रिलीजन ऑफ दि ऋग्वेद, पृ० ८०-८६।

वायु, पृथ्वी) के अनुसार विभाजित किया जा सकता है[1]। ऋग्वेद[2] में देवताओं को तीन विभागों में विभक्त किया गया है व उनकी संख्या तैंतीस बताई गई है: ग्यारह देवता प्रत्येक विभाग से सम्बन्धित किये गये हैं। यास्क[3] ने भी ऋग्वेद के देवताओं को तीन विभागों में विभाजित किया है, यथा पृथिवी-स्थान, अन्तरिक्ष-स्थान या मध्यमस्थान, तथा द्युस्थान। इस विभाजन के अनुसार द्यौः, वरुण, मित्र, आदित्याः, सूर्य, सविता, पूपा, विष्णु, अश्विनौ, उपस्, रात्रि आदि स्वर्गीय देवता कहे जा सकते हैं। इन्द्र, रुद्र, मरुत्, वायु या वात, अपांनपात्, पर्जन्य, आपः आदि वायवीय तथा पृथ्वी, अग्नि, बृहस्पति, सोम आदि पार्थिव देवता कहे जा सकते हैं। इन देवताओं में कुछ नदियों को भी सम्मिलित किया गया है, जैसे सिन्धु, विपाश, असिक्नी, शुतुद्री, सरस्वती आदि। इन नदियों को साक्षात् देवी मान कर सम्बोधित किया गया है। धाता, त्वष्टा, प्रजापति, विश्वकर्म्मा, बृहस्पति आदि कभी कभी किसी देवता के विशेषण के रूप में व कभी कभी स्वतन्त्र रूप में वर्णित किये गये हैं। इसी श्रेणी में मन्यु, श्रद्धा, अदिति आदि को भी रखा जाता है। उनकी स्तुति में एक-एक दो-दो सूक्त ही हैं। ऋभु, वास्तोष्पति आदि साधारण देवता माने गये हैं।

ऋग्वेद मे देवियों का अधिक महत्त्व नहीं है। केवल उपः ही महत्त्वपूर्ण है। सरस्वती, वाच, पृथ्वी, रात्रि, अरण्यानी आदि से सम्बन्धित एक एक सूक्त हैं। इन्द्र, वरुण आदि की पत्नियों का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। ऋग्वेद में कभी कभी दो देवताओं की स्तुति एक साथ की गई है, जैसे मित्रावरुणा, द्यावापृथिवी आदि। कुछ देवताओं का आह्वान सामूहिक रूप से भी किया गया है, जैसे मरुतः, आदित्याः व उनकी माता अदिति, तथा विश्वेदेवाः। इन देवताओं के अतिरिक्त ऋग्वेद में कुछ राक्षसों को भी उल्लिखित किया

---

[1] मैकडॉनेल—हीम्स फ्रॉम दी ऋग्वेद, पृ० १०-१५।

[2] १।१३९।११; 'ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्या मध्येकादश स्थ। अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम् ॥"; १।३४।११; "आनासत्या त्रिभिरेकादशैरिह देवेभिर्यात मधुपेयमश्विना।" ३।६।९,

[3] निरुक्त ७।५

गया है, जो कि देवताओं से लड़ते हैं। इन्द्र वृत्र युद्ध तो बहुत ही प्रसिद्ध है। इसी प्रकार बल, अर्बुद, पणि, विश्वरूप आदि भी इन्द्र से युद्ध करते थे, तथा स्वर्भानु ने सूर्य्य को निगल लिया था।

अब कुछ महत्त्वपूर्ण देवताओं पर विस्तारपूर्वक विचार करना चाहिये।

इन्द्र

ऋग्वेद के लगभग एक चतुर्थांश सूक्तों में इन्द्र की स्तुति की गई है। इसलिये यूरोप के विद्वान् उसे वैदिक आर्यों का राष्ट्रीय देव कहते हैं। त्वष्टा द्वारा बनाये हुए वज्र को धारण कर या कभी कभी धनुष बाण लेकर वह असुरों का मर्दन करता है। उसका रथ सोने का बना हुआ है। उसे सोम बहुत ही प्रिय है। द्यौ या त्वष्टा उसका पिता है, अग्नि व पूषा उसके भाई हैं व इन्द्राणी उसकी पत्नी है। अग्नि, मरुत्, वरुण आदि देवता उसके साथी हैं। सोम पीकर मरुतों को साथ लेकर वह वृत्र या अहि पर आक्रमण करता है। जब घनघोर युद्ध होता है तब पृथ्वी व आकाश काँपने लगते हैं। परिणामत, वज्र द्वारा वृत्र के टुकड़े टुकड़े होते हैं, तथा रुका हुआ पानी स्वतन्त्र की गई गायों के समान दौड़ निकलता है। इस प्रकार इन्द्र "वृत्रघ्न" कहलाता है। इस युद्ध में मरुत सर्वदा उसके साथ रहते हैं, तथा अग्नि, सोम व विष्णु भी उसे बहुत सहायता देते हैं। अहि के मारे जाने पर प्रकाश का प्रादुर्भाव होता है व इन्द्र उप सूर्य आदि को उत्पन्न करता है। इन्द्र जगत की उत्पत्ति, प्रलय आदि का सञ्चालन भी करता है। उसने अस्थिर पर्वतों व मैदानों को स्थिर किया तथा द्यावापृथिवी का विस्तार किया। उसने एक ही क्षण में अव्यक्त को व्यक्त किया। वह अपनी स्तुति करनेवालों का रक्षक, सहायक, व मित्र है। वह उन्हें धन देता है तथा इतना उदार है कि "मघवन्" कहलाता है।

वरुण

ऋग्वेद में, इन्द्र को छोड़ कर वरुण ही सब से अधिक महत्त्वपूर्ण है, यद्यपि वरुण सूक्त[1] केवल बारह ही हैं, जब कि इन्द्र सूक्त ढाई सौ हैं। वरुण एक नैतिक देव है। सूर्य उसकी आँख है। यज्ञ के

---

[1] कुछ महत्त्वपूर्ण वरुण सूक्त ये हैं-ऋग्वेद १।२४।६-१५ १।२५।१-२१, ७।८६।१-८ ७।८७।१-७, ७।८८।१-७ ७।८९।१-५।

समय वह विकीर्ण दर्भ पर आकर बैठ जाता है। उसका रथ सूर्य के समान चमकता है। अपने प्रासाद में बैठकर वह मनुष्यों के कर्मों का निरीक्षण करता है। उसके गुप्तचर उसके आसपास बैठकर दोनों लोकों का अवलोकन करते हैं। सूर्य उसका सोनेके पंखवाला दूत है। वह राजा है, विश्व का सम्राट है। उसकी शक्ति, माया व उसका साम्राज्य ऋग्वेद में कितनी ही वार उल्लिखित है। वह भौतिक व नैतिक व्यवस्था का संचालक है। उसने द्यावा पृथिवी की स्थापना की, उसने आकाश में सूर्य को चमकाया तथा उसके लिये विस्तृत मार्ग बनाया। जल में, अग्नि में व चट्टान पर सोम उसी ने स्थापित किया। वायु उसी की श्वास है व चंद्र, तारे आदि उसी की आज्ञा मानते हैं। उसने नदियों को भी बहाया, जो कि एक दम जाकर समुद्र में गिरीं।

वरुण के नैतिक नियमों को "ऋत" कहा गया है, जिसका पालन देवताओं को भी करना पडता है। उसके तीन पाश हैं उत्तर, मध्यम व अवर, जिन्हें ऋत द्वारा ही तोडा जा सकता है। उसकी शक्ति इतनी बडी है कि उसके साम्राज्य के छोर तक न तो आकाश में उडनेवाले पक्षी और न भूमि पर बहने वाली नदियाँ ही पहुँच सकती है। वह सर्वज्ञ है। आकाश के पक्षियों की उडान, समुद्र के जहाजों के मार्ग, दूर तक बहनेवाली वायु का रास्ता आदि सब उसे ज्ञात हैं। वह सब रहस्य जानता है, जो हुआ है व जो होनेवाला है। मनुष्यों के सच व झूठ भी उससे छिपे नहीं रहते। कोई भी जीव उसके जाने विना पलक भी नहीं मार सकता। पाप से उसे क्रोध आता है, जिसके लिये वह कडा दण्ड देता है। किन्तु वह दयालु भी है पश्चात्ताप करनेवालों को अपने व अपने पूर्व पापों के लिये क्षमा भी कर देता है। प्रत्येक वरुण सूक्त में पापों की क्षमायाचना सम्बन्धी प्रार्थना है। वरुण अपने भक्तों के लिये मित्रवत् रहता है। पुण्यात्मा स्वर्ग में वरुण व यम के दर्शनों की आशा रखते हैं।

विष्णु

विष्णु की स्तुति केवल पाच या छ सूक्तों[1] में की गई है। वह एक विशाल काय युवक के रूप में वर्णित है। उसके तीन पदों का

[1] कुछ महत्वपूर्ण विष्णु-सूक्त ये हैं—ऋ० १।१५४।१–६ १।१५५।१–६ १।१५६।१–५

उल्लेख ऋग्वेद में आता है, जिनसे वह पृथ्वी व आकाश को नापता है। उसके दो पदों को मनुष्य अपनी आँखों से देख सकता है, किन्तु तीसरा पद पक्षियों की उड़ान के भी परे है। विष्णु के इन तीन पदों में पृथ्वी, वायु व आकाश में सूर्य्य की गति का उल्लेख है। वह अपने नन्हे घोड़ों (दिवसों) को गतिमान करता है। इस प्रकार विष्णु के नाम से सूर्य्य का ही वर्णन किया गया है। विष्णु ने मानो सम्पूर्ण पृथ्वी को नाप लिया हो। मनुष्य के अस्तित्व के लिये व पृथ्वी को निवास-योग्य बनाने के लिये ही विष्णु अपने कदम उठाता है। वह इन्द्र का भी मित्र है, जिसके साथ वह वृत्र से लड़ता है। इसलिये कहीं कहीं इन्द्र व विष्णु दोनों देवताओं की स्तुति एक साथ की गई है। वामन अवतार की कल्पना का प्रारंभ भी विष्णु के इन तीन पदों से होता है। विष्णु के प्रिय धाम में धर्मात्मा व्यक्ति ही जा सकते हैं, तथा आनंद का उपभोग ले सकते हैं, जहाँ मधु का एक बड़ा स्रोत है।

मित्र

मित्र[1] का वरुण के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह अकेला ऋग्वेद के केवल एक ही सूक्त में वर्णित है। वह महान् आदित्य है, जो अपनी निमेषरहित आँखों से खेत जोतनेवाले किसानों का निरीक्षण करता है। वह सूर्य्य की गति व विष्णु के पदों को नियन्त्रित करता है। प्रातः प्रज्वलित किया जाने वाला अग्नि भी मित्र का ही रूप है।

सविता

सविता की स्तुति लगभग ग्यारह सूक्तों[2] में की गई है। वह सोने के रथ में घूमता है। अपने सुवर्ण के हाथों से वह प्राणीमात्र को जागृत करता है तथा उन्हें आशीर्वाद देता है। उसका शक्ति-शाली सुवर्ण प्रकाश आकाश, वायु व पृथ्वी को प्रकाशित करता है। वह नीचे व ऊपर सब प्राणियों का निरीक्षण करते हुए अपने सुवर्ण-रथ में घूमता है। बुरे स्वप्न, पाप, राक्षस आदि को वह भगा देता है। वायु व जल उसी के अधीन व उसी के संचालन में रहते हैं।

---

[1] ऋग्वेद १।५९।१–९; १।१५१।१–९; १।१५२।१–७; १।१५३।१–४

[2] कुछ महत्वपूर्ण सविता-सूक्त इस प्रकार हैं—ऋ० ४।५३।१–७, ४।५४।१–६,

वह न केवल दिवस किन्तु रात्रि को भी प्रारंभ करता है, जब कि वह सब को विश्राम देता है।

पूषा

लगभग आठ सूक्तों में पूषा की स्तुति की गई है[1]। उसके पैर, दाहिने हाथ, जटा व डाढ़ी का उल्लेख है। वह सोने का भाला, चाबुक आदि रखता है उस के रथ में बकरे जुते रहते हैं। वह सब प्राणियों का निरीक्षण करता है, तथा द्यावापृथिवी में दूर दूर तक जाता है। उसका विवाह सूर्या से हुआ था। वह मृतों को पितृ मार्ग में प्रेरित करता है। वह मार्गों का रक्षक है व सब भयों को दूर करता है। वह मवेशियों की भी रक्षा करता है तथा खोये हुए मवेशियों को वापिस घर ले आता है।

अश्विन्

इन्द्र, अग्नि व सोम के पश्चात् अश्विन् नाम के देवता ऋग्वेद में अधिक महत्व के हैं। ये दो देवता हैं। उनकी स्तुति पचास व उससे भी अधिक सूक्तों में की गई है।[2] उष काल व सूर्योदय के बीच के समय में वे दिखाई देते हैं। उष उनको जागृत करती है। वे अन्धकार को दूर करते हैं तथा दुष्ट राक्षसों को भगा देते हैं। ऋभुओं के द्वारा बनाया हुआ उनका रथ सूर्य के समान प्रकाशयुक्त व सुवर्ण निर्मित है। उनके रथ में तीन चक्र हैं, व उसे घोड़े या पक्षी खींचते हैं। यह रथ एक ही दिन में द्यावापृथिवी का चक्कर लगाता है।

अश्विन् आकाश के पुत्र हैं। एक स्थान पर उन्हें विवस्वत् (सूर्य) व सरण्यु के पुत्र भी कहा गया है, तथा उष उनकी बहिन बताई गई है। उनका सम्बन्ध बहुधा सूर्य की पुत्री सूर्या के साथ जोड़ा गया है, जो उनके साथ रथ में बैठती है व उनकी पत्नी है। वे दो हैं, व कभी पृथक नहीं किये जा सकते। वे युवा होते हुए भी प्राचीन हैं। वे सुन्दर व सुवर्ण प्रकाश युक्त हैं, तथा सुवर्ण मार्ग

[1] कुछ महत्वपूर्ण पूषा सूक्त इस प्रकार हैं—ऋ० ६।५३।१–१० ६।५४।१–१० ६।५५।१–६ ६।५६।१–६ ६।५८।१–४

[2] कुछ महत्वपूर्ण अश्विन्–सूक्त इस प्रकार हैं—ऋ० ८।५।१–३९, ८।७३।१–१८, ६।२२।१–११, ६।६३।१–११

पर चलते हैं। मधु से उन्हें बहुत प्रेम है, जो कि वे खूब पीते हैं, ' उषः व सूर्या के साथ सोम भी पीते हैं। वे बहुत बुद्धिशाली हैं था आपत्तियों से सब की रक्षा करते हैं। वे दिव्य वैद्य भी हैं तथा ाण, पंगु आदि को ठीक कर देते हैं, वृद्ध को पुनः युवावस्था व ृष्टि प्रदान करते हैं। उन्होंने भुज्यु के जहाज को समुद्र में डूबने से चाया था, तथा इस प्रकार के और भी परोपकार के काम ये थे।

ः

(उषः उषःकाल की देवी है। ऋग्वेद में लगभग बीस सूक्तों[1] में सकी स्तुति की गई है। प्रकाशयुक्त व चमकीले वस्त्र धारण कर ह पूर्व दिशा में एक नर्तकी के समान दिखाई देती है। वह अन्धकार । भगाती है व रात्रि के काले वस्त्र को हटाती है। वह पुराणी रहने र भी युवती है, बार-बार उत्पन्न होती है तथा मर्त्यों के जीवन को तीत करती है। वह प्रकाश के द्वार खोल देती है। उसकी मकीली किरणें गायों के झुण्डों के समान प्रतीत होती हैं। वह ाशा के रथ में बैठती है, जिसे घोड़े या गायें खींचती हैं। वह ', स्वप्नों, पिशाचों व गर्हणीय अन्धकार को भगा देती है। जब वह ाना आलोक फैलाती है, तब पक्षी अपने घोंसलों से बाहिर उड़ने तथा मनुष्य पुष्टि को प्राप्त होते हैं। वह प्रति दिवस एक निश्चित ान पर दिखाई देती है तथा प्रकृति व देवताओं के नियमों का ल्लङ्घन कभी भी नहीं करती। वह हमेशा आकाश में उत्पन्न होती तथा प्रकाश की पुत्री कहलाती है। वह सूर्य्य से सम्बन्धित की ती है, जो कि उसका प्रेमी है। सूर्य उसके पीछे-पीछे जाता है, र कोई युवक किसी युवती का पीछा करता है। इस प्रकार वह धा सूर्य की पत्नी बन जाती है, किन्तु सूर्य्य के पहिले दिखाई के कारण कभी कभी उसे उसकी माता भी कहा गया है, तथा एक देदीप्यमान बालक को लेकर आती हुई वर्णित की गई है। । की अग्नि के प्रातःकाल प्रज्वलित किये जाने के कारण उसे उस ान से भी सम्बन्धित किया जाता है। स्तुति करने वालों को वह

---

[1] कुछ महत्त्वपूर्ण उष:सूक्त ये है—ऋ० ७।७५।१–८; ७।७६।१–७; ७।७७।१–६; ७।७८।१–५; ७।७९।१–५, ७।८०।१–३; ७।८१।१–६।

न केवल द्रव्य व सन्तान देती है, किन्तु दीर्घायु, कीर्ति, रक्षण आदि भी प्रदान करती है।)

अग्नि

ऋग्वेद में अग्नि यज्ञसम्बन्धी महत्त्वपूर्ण देवता है। लगभग दो सौ सूक्तों[1] में उसकी स्तुति की गई है। उसकी पीठ घृत की बनी है, बाल ज्वालाओं के व दाँत सुवर्ण के हैं। अन्य देवता उसकी जिह्वा से हविष् ग्रहण करते हैं। उसे बछड़ा, घोड़ा आदि कितने ही पशुओं के समान बताया गया है। लकड़ी या घी उसका भोजन है। वह दिन में तीन बार भोजन करता है। ऋग्वेद में कितने ही स्थलों पर उसके प्रकाश का वर्णन किया गया है। उसका प्रकाश उषः व सूर्य की किरणों के समान है। उसका आलोक रात्रि के समय भी देदीप्यमान होता है तथा अन्धकार को दूर करता है। जब वह जंगलों पर आक्रमण करता है तथा डाढ़ी बनाने वाले नाई के समान पृथ्वी की हजामत करता है, तब उसका मार्ग काला रहता है। वह चमकनेवाले विद्युत रथ में बैठता है व अपने साथ देवताओं को यज्ञ में लाता है।

अग्नि को द्यावा-पृथिवी का पुत्र कहा गया है। वह शुष्क काष्ठ से उत्पन्न होता है और उत्पन्न होते ही अपने पिता का भक्षण करता है। प्रतिदिवस प्रातः उत्पन्न किये जाने के कारण वह युवा रहता है। सूर्य भी उसीका परिवर्तित स्वरूप है। उसे कहीं कहीं गृहपति भी कहा गया है, जो कि मर्त्यों में एकमात्र अमर्त्य है। उसे यज्ञ का होता, अध्वर्यु, पुरोहित आदि कहा गया है। वह बहुत बुद्धिशाली है तथा सब कुछ जानता है। वह अपनी स्तुति करनेवालों को हर प्रकार के वर देता है, जिससे वे समृद्धि, सन्तान व आनन्द से परिपूर्ण गृहस्थाश्रम का उपभोग कर सकते हैं। उसमें विश्व को उत्पन्न करने की शक्ति भी है।

सोम

ऋग्वेद में यज्ञ की दृष्टि से सोम यज्ञ अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए ऋग्वेद के लगभग एक सौ बीस सूक्त सोम से सम्बन्धित

[1] कुछ महत्वपूर्ण अग्नि-सूक्त इस प्रकार हैं—ऋ० १।१४०।१–१३; १।१४१।१–१३; १।१४२।१–१३; १।१४३।१–८; १।१४५।१–५: ३।१।१–१३; ३।२।१–१५।

हैं। नवम मण्डल के सबके सब सूक्त (११४) 'पवमान सोम' से ही सम्बन्धित हैं। उसके पास तेज व भयानक शस्त्र रहते हैं, जिसे वह अपने हाथों से पकड़ता है। उसके पास धनुषबाण भी रहते हैं। वह वायु व इन्द्र के समान अपने दिव्य रथ में बैठ कर घूमता है, तथा हविष् ग्रहण करने के लिये यज्ञ में आता है।

सोमरस को बहुधा मधु भी कहा गया है। किन्तु अधिकांश उसे इन्दु शब्द से सम्बोधित किया गया है। सोमवर्णन में कहा गया है कि सोम की डालियाँ बड़े बड़े पत्थरों के नीचे कुचली जा रही हैं तथा उनमें से रस निकलता है, जो देवताओं को दिया जाता है। इस रस को दूध या पानी के साथ मिलाया जाता था, जिससे उसमें मीठापन आ जाता था। सोमरस को अमृत भी कहा गया है, क्योंकि उसको पीने से अमरत्व प्राप्त होता था। वैदिक आर्यों का विश्वास था कि सब देवता सोम रस पीते हैं, जिसके कारण अमरत्व को प्राप्त होते हैं। सोमरस पीने से अन्धे व लँगड़े ठीक हो जाते हैं तथा बुद्धि का भी विकास होता है। उसी को पीकर इन्द्र वृत्र से सफलतापूर्वक लड़ सका। सोम के बारे में कहा गया है कि वह पर्वतों में उगता है, किन्तु उसे स्वर्ग से भी सम्बन्धित किया जाता है।

रुद्र

रुद्र भी ऋग्वेद-काल का महत्त्वपूर्ण देवता था। ऋग्वेद में उसके विभिन्न अवयवों का वर्णन आता है।[1] वह पूषा के समान जटा धारण करता है। उसका रङ्ग भूरा है और वह बहुत से रूप धारण करता है। वह देदीप्यमान सूर्य के समान व सुवर्ण के समान चमकता है[2] तथा सुवर्ण के आभूषण धारण करता[3] है। वह वज्र धारण करता है तथा धनुषबाण, हेति (भाला) आदि का भी प्रयोग करता है।[4] वह पापों का नाश करता है, ओषधियों का स्वामी है तथा भिषगों का भी भिषक् है।[5] वह मरुतों का पिता है तथा सर्व-

[1] ऋ० २।३३।३,७,११, २।२३।५, १।११४।१,५।

[2] ऋ० १।४३।५,

[3] ऋ० २।२३।९;

[4] ऋ० २।३३।३,१०,१४।

[5] ऋ २।३३।२,३,४,

शक्तिमान् व दैवी प्रभावयुक्त है।[1] उसकी पदवी 'त्र्यम्बक' का भी उल्लेख ऋग्वेद[2] में आता है, जहां कहा गया है कि 'हम त्र्यम्बक का पूजन करते हैं, जो सुगन्धयुक्त व पुष्टिवर्धन है।' यजुर्वेद में रुद्र को 'पिनाकावस', 'कृत्तिवासा', 'शिव' आदि विशेषणों से विभूषित किया गया है।[3] उसे पर्वत पर रहनेवाला भी कहा गया है।[4] इस प्रकार वैदिक साहित्य में रुद्र देवता ने पौराणिक शिव का स्वरूप धारण कर लिया था।

विभिन्न सिद्धान्त

ऋग्वेद में विभिन्न देवताओं का जो वर्णन किया गया है, उसको आलोचनात्मक दृष्टि से पढ़ने से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन धार्मिक सिद्धान्त उदात्त आध्यात्मिकता व नैतिकता से परिपूर्ण थे। ऋग्वेद के आलोचनात्मक अध्ययन से तत्कालीन धार्मिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं तथा उनसे सम्बन्धित धार्मिक सिद्धान्तों का भी बोध होता है। वेदकालीन धार्मिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत विचारभिन्नता है। कोई विद्वान् विशुद्ध प्रकृतिवाद को ही तत्कालीन धार्मिक सिद्धान्त का मूल मन्त्र मानते हैं, तथा अन्य विद्वान् बहुदेवतावाद को वैदिक युग का महत्त्वपूर्ण धार्मिक सिद्धान्त मानते हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार, जिनमें से अधिकांश भारतीय हैं, एकेश्वरवाद ऋग्वेद का मुख्य धार्मिक सिद्धान्त है। कोई कोई विद्वान् सर्वेश्वरवाद को भी ऋग्वेद में पाते हैं।

ऋग्वेद के धार्मिक सिद्धान्तों के बारे में एक और मन्तव्य उपस्थित किया जाता है। कुछ विद्वान् मानते हैं कि वैदिक युग में धार्मिक सिद्धान्तों के विकास की विभिन्न अवस्थाओं को भलीभांति समझा जा सकता है। प्रकृतिवाद, बहुदेवतावाद, एकेश्वरवाद, सर्वेश्वरवाद आदि धार्मिक सिद्धान्तों के विकास की विभिन्न अवस्थाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह विकास प्रकृतिवाद से प्रारम्भ होकर

[1] ऋ० २।३३।१५

[2] ७।५९।१२, 'त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।'

[3] यजुर्वेद ३।६१

[4] यजु० १६।२-४

बहुदेवतावाद, एकेश्वरवाद आदि की अवस्थाओं में से होता हुआ सर्वेश्वरवाद की अन्तिम अवस्था तक पहुँच जाता है।

प्रकृतिवाद

ऋग्वेद के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि धार्मिक सिद्धान्तों के विकास की सर्वप्रथम अवस्था में प्रकृति की विभिन्न शक्तियों को पूजा जाता था। ऋग्वेद में द्यौः (आकाश), पृथ्वी, द्यावापृथिवी आदि देवता प्रकृतिवाद की अवस्था के प्रतिनिधि थे। द्यौस् देवता को यूनानियों के ज्यूस तथा रोमन लोगों के ज्युपिटर से सम्बन्धित किया जा सकता है। इस प्रकार आकाश व पृथ्वी की पूजा आर्यों के प्राचीनतम धार्मिक जीवन का अङ्ग थी। इन्द्र व अग्नि भी प्राकृतिक शक्ति के ही प्रतीक हैं। इन्द्र को वर्षा से सम्बन्धित किया गया है। कृषि प्रधान भारत में वर्षा का क्या महत्त्व था यह बात ऋग्वेद में इन्द्र देवता के वर्णन को पढ़कर स्पष्टतया समझ में आ जाती है। ऋग्वेद में वर्णित इन्द्रवृत्रयुद्ध भी वर्षा का महत्व ही प्रतिपादित करता है। वरुण अपने विकास की प्रारम्भिक अवस्था में केवल आकाश का देवता माना गया है, और मित्र उसका हमेशा का साथी है। ऋग्वेद में मित्र व वरुण को 'मित्रावरुणौ' के रूप में एक साथ सम्बोधित किया गया है। वरुण व मित्र रात तथा दिन के प्रतीक भी माने गये हैं। धीरे-धीरे वरुण एक महत्त्वपूर्ण नैतिक देवता के रूप में परिवर्तित हो जाता है और ऋग्वेद में उसका यही स्वरूप अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार पूषा, उषः, अश्विन् पर्जन्य आदि प्रकृति के विभिन्न अङ्गों के प्रतीक हैं। पूषा सूर्य्य से सम्बन्धित है, तथा मवेशियों व ग्रामीणों का देवता है। उषः प्रातःकाल, अश्विन् दोनों सन्ध्याओं व पर्जन्य आकाश से सम्बन्धित किये जाते हैं।

बहुदेवतावाद

द्यावापृथिवी आदि के अतिरिक्त इन्द्र, वरुण, पूषा, उषः, अश्विन्, पर्जन्य आदि प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों के प्रतिनिधि हैं; उनमें केवल विशुद्ध प्रकृतिपूजा की झलक ही दृष्टिगोचर नहीं होती, उनका सजीव मानवी रूप भी निखर आता है। ये सब देवता मानवों के समान चित्रित किये गये हैं। उनके अङ्ग प्रत्यङ्ग हैं, वे रथ में बैठकर इधर उधर निरीक्षण करते हैं, तथा स्तुति करनेवालों से बहुत प्रसन्न

आदि के रूप में उनकी कल्पना की गई है। इससे स्पष्ट है कि वे देवता विशुद्ध प्रकृति के क्षेत्र से बहुत आगे बढ़ चुके हैं। उनके मानवीकरण के पश्चात् उनमें दैवी शक्ति का प्रादुर्भाव भी हो चुका है। इस प्रकार के सिद्धान्त को बहुदेवतावाद कहा जाता है। अधिकांश विद्वान् यह मानते हैं कि बहुदेवतावाद ही ऋग्वेद का मुख्य धार्मिक सिद्धान्त है।

मैक्समुलर का हीनोथीइज्म

साधारणतया धार्मिक विकास की प्रणालिका के अनुसार बहुदेवतावाद की परिणति एकेश्वरवाद में होती है। किन्तु मैक्समुलर ने मध्य की एक और अवस्था की कल्पना की है, जिसे 'हीनोथीइज्म' या 'कैथेनोथीइज्म' की अवस्था कहा गया है।[1] 'हीनोथीइज्म' या 'कैथेनोथीइज्म' उस सिद्धान्त को कहते हैं, जिसके अनुसार भिन्न भिन्न देवता वैयक्तिक रूप से सर्वोपरि माने जाते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक देवता 'विश्वकर्मा' अर्थात् विश्व का निर्माण करने वाला तथा 'प्रजापति' अर्थात् प्राणिमात्र का संरक्षक कहाता है। यदि ऋग्वेद का आलोचनात्मक अध्ययन करें, तो यह मन्तव्य भी दोषपूर्ण प्रतीत होगा। इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि विभिन्न देवताओं में से प्रत्येक को सर्वोपरि, सर्वशक्तिमान्, सृष्टिनिर्माणकर्ता आदि अवश्य कहा गया है। किन्तु यह सब बाह्य दृष्टि से ही है, आन्तरिक दृष्टि से तो ये विभिन्न देवता एकता के सूत्र में बँधे हुए हैं, जिसका स्पष्टीकरण ऋग्वेद[2] के इन वचनों से होता है—"वह ईश्वर एक है, विद्वान् लोग उसका नाना प्रकार से वर्णन करते हैं, उसे अग्नि यम, मातरिश्वा आदि शब्दों से सम्बन्धित करते हैं।" अतएव मैक्स मूलर ने जिसे 'हीनोथीइज्म' कहा है वह, यथार्थ में, एकेश्वरवाद ही है। मैक्समूलर ने विभिन्न देवताओं का पृथक् अस्तित्व मान लिया है, जैसा कि यथार्थ में नहीं है। जगन्नियन्ता परमेश्वर के ही विभिन्न स्वरूप व उसकी विभिन्न शक्तियों को ही इन्द्र, वरुण, विष्णु आदि नामों से सम्बोधित किया गया है, अतएव 'हीनोथीइज्म' का सिद्धान्त उपादेय नहीं सकता।

[1] मैक्डॉनेल—वैदिक माइथॉलॉजी पृ० १६।

[2] १।१६४।४६ 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा -

एकेश्वरवाद

कुछ विद्वानों के मतानुसार ऋग्वेदकालीन धार्मिक जीवन के विकास का केन्द्रबिन्दु 'एकेश्वरवाद' था। ऋग्वेद में कितने ही वेदमन्त्र ऐसे हैं, जो स्पष्टतया एकेश्वरवाद का प्रतिपादन करते हैं। कुत्स आङ्गिरस ऋषि इन्द्र की स्तुति करते हुए कहते हैं[1]—"पृथ्वी, आकाश तथा यह महान् मानव जाति उसी इन्द्र के हैं। वरुण, सूर्य्य आदि उसी के व्रत में रहते हैं। घोड़े, गाय आदि का वही सञ्चालक है तथा सम्पूर्ण विश्व व प्राणियों का रक्षक है। उसी ने दस्युओं को हराया। उसे ही हम मैत्री के लिये बुलाते हैं। शूरों, भागते हुए भीरुओं व विजेताओं द्वारा जिसका आह्वान किया जाता है, उसी इन्द्र ने इन सब भुवनों को बनाया है, उसी की मैत्री हम प्राप्त करें।" विश्वामित्र ऋषि इन्द्र के प्रति कहते हैं—"हे इन्द्र! आप महान् हैं, आप समस्त विश्व के एकमात्र राजा हैं।[2]" गृत्समद ऋषि आदित्य की स्तुति करते हुए कहते हैं[3]—"आप वरुण हैं तथा जितने देव, असुर व मर्त्य हैं, उन सभी के राजा हैं। हमें सौ वर्ष की आयु प्रदान कीजिये।" हिरण्यगर्भ प्राजापत्य ऋषि 'क' (प्रजापति, ईश्वर) देवता की स्तुति में कहते हैं[4]—"हिरण्यगर्भ ही सर्वप्रथम वर्तमान था, वह समस्त सृष्टि का एकमात्र पति था। उसने इस पृथ्वी व आकाश को धारण किया है; उसी 'क' देवता को हम हविष प्रदान करते हैं। वही आत्मा व बल का देनेवाला है, उसी की उपासना विश्व करता है, सब देवता भी उसी की आज्ञा में रहते हैं। मृत्यु व अमरत्व उसी के अधिकार में हैं। वह अपनी महिमा से समस्त प्राणियों व जगत् का राजा बना है। वह द्विपदों व चतुष्पदों पर शासन करता है। यह महान् हिमालय और यह समुद्र उसी के हैं, ये सब दिशाएँ आदि उसी की हैं। उसी ने विस्तृत आकाश व पृथ्वी को दृढ़ किया तथा स्वर्ग को स्तम्भित

---

[1] ऋ० १।१०१।३-६;

[2] ऋ० ३।४६।२ : "एको विश्वस्य भुवनस्य राजा स योधया च क्षयया च जनान् ॥"

[3] ऋ० २।२७।१० : "त्वं विश्वेषां वरुणासि राजा ये च देवा असुरा ये च मर्ताः। शतं नो रास्व शरदो विचक्षेऽस्यामायूंषि सुधितानि पूर्वा ॥"

[4] ऋ० १०।१२१।१-५

किया।" उपरोक्त उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक ऋषियों ने विशुद्ध एकेश्वरवाद को पूर्णतया निरूपित किया था। एक ही ईश्वर को विभिन्न नामों से जगत् का स्रष्टा, रक्षक, संहारकर्ता आदि माना गया था। अदिति, वाक आदि से सम्बन्धित सूक्त भी इसी एकेश्वरवाद को प्रतिपादित करते हैं। ऋग्वेद के विश्वकर्मा सूक्तों में भी 'एकेश्वरवाद' का प्रतिपादन बहुत अच्छी तरह किया गया है। एक सूक्त[1] में वर्णन आता है कि "विश्वकर्मा, जिसने समस्त भुवनों की रचना की, हमारा होता व पिता है। विश्वकर्मा ने जब भूमि का सृजन किया तब उसका अधिष्ठान क्या था? उसका आरम्भ कैसे हुआ? विश्वकर्मा के नेत्र, भुजा और चरण सब ओर हैं। वे अपने बाहु और चरणों से द्यावापृथिवी को प्रकट करते हैं। वे विश्वकर्मा एक हैं। विश्वकर्मा ने कौन से वन के किस वृक्ष द्वारा आकाश व पृथिवी की रचना की?" एक और सूक्त[2] में कहा गया है कि "शरीरों के रचनेवाले और अत्यन्त धीर विश्वकर्मा ने जल को सर्वप्रथम रचा, फिर द्यावापृथिवी की रचना की, फिर आकाश, पृथिवी के प्रदेशों को स्थिर किया। विश्वकर्मा का मन महान् है। वे स्वयं महान् हैं। वे सर्वद्रष्टा, सर्वश्रेष्ठ व सबके निर्माता हैं। वे सप्तर्षियों के दूरस्थ स्थान को भी देखते हैं। वहाँ वे अकेले ही हैं। संसार के उत्पत्तिकर्ता विश्वकर्मा हमारे उत्पन्न करनेवाले तथा पालन करनेवाले हैं। वे जगत् के सभी स्थानों के जाननेवाले हैं। उन्होंने देवताओं का नामकरण किया है। सभी प्राणी एकमात्र उन देवता को प्राप्त करने के विषय में जिज्ञासु बनते हैं। तुम उन विश्वकर्मा को नहीं जानते, जिन्होंने समस्त प्राणियों की रचना की है।"

विश्वकर्मा के उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि विश्वकर्मा को जगन्नियन्ता, सबका पिता, माता, विधाता आदि कह कर सर्वोपरि जगन्नियामक शक्ति का प्रतिपादन किया गया है[3], और यही 'एकेश्वरवाद' का सार है।

---

[1] ऋ० १०।८१।१-७,

[2] ऋ० १०।८२।१-७,

[3] ऋ० १०।८२।३ "यो न पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या॥"

भावसूचक देवता

भावसूचक देवताओं का मन्तव्य वैदिक युग के धार्मिक सिद्धान्तों के विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। 'प्रकृतिवाद' व 'बहुदेवतावाद' के सिद्धान्तों से 'एकेश्वरवाद' की ओर एक महत्त्वपूर्ण कदम उसे कहा जा सकता है। ऋग्वेद काल के धार्मिक विकास में बाह्य उपकरणों से आन्तरिक तत्त्व की ओर बढ़ने की वृत्ति स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है। इसी का एक परिणाम भावसूचक देवताओं के रूप में पाया जाता है, जो कि अधिकांश ऋग्वेद के दसवें मण्डल में पाये जाते हैं। विभिन्न भाववाचक संज्ञाओं को देवता के रूप में वर्णित किया गया है जैसे श्रद्धा[1] मन्यु,[2] अदिति,[3] धाता,[4] त्वष्टा,[5] वाक् आदि।[6] इन भावसूचक देवताओं के वर्णन में आध्यात्मिकता का पुट स्पष्टतया दिखाई देता है। श्रद्धासूक्त में श्रद्धा के महत्त्व को समझाते हुए कहा गया है कि "श्रद्धा के बिना अग्नि प्रदीप्त नहीं होता, यज्ञ भी उसी से सफल होता है। सम्पत्ति के मस्तक पर श्रद्धा ही निवास करती है। हे श्रद्धे! दानशील को अभीष्ट फल प्रदान करो। मन में जब कोई निश्चय उठता है, तब उपासकगण श्रद्धा का ही आश्रय लेते हैं। श्रद्धा की अनुकूलता से ही वैभव की प्राप्ति होती है। प्रातःकाल, मध्याह्न और सायंकाल हम श्रद्धा का ही आह्वान करते हैं।"

मन्यु के सम्बन्ध में कहा गया है कि "हे मन्यु! तुम वज्र और बाण के समान तीक्ष्ण हो। जो यजमान तुम्हारी स्तुति करता है वह ओज व बल का धारण करनेवाला होता है। तुम महाबली हो, अतः तुम्हारी सहायता से हम अपने शत्रुओं को पराभूत करें। हे मन्यो, संग्राम के लिये प्रत्येक व्यक्ति को प्रेरित करो। तुम जब सहायता

---

[1] ऋ० १०।१५१।१ ५

[2] ऋ० १०।८३।१ ७ १०।८४।१ ७

[3] ऋ० १।८९।१० 'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्र। विश्वेदेवा अदिति पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥' १०।७२।८ ९

[4] ऋ० १०।१८।५

[5] ऋ० १०।१८।६

[6] ऋ० १।१२५।१ ८

करोगे, तब हमारा तेज कभी भी नष्ट नहीं होगा। हम विजय की कामना करते हुए सिंहनाद करते हैं, और तुम्हारी स्तुति करते हैं।" वागाम्भृणी सूक्त[1] में वाग्शक्ति का महत्त्व बहुत ही अच्छी तरह से समझाया गया है। वाग्शक्ति द्वारा कहलाया गया है—"मैं रुद्रों व वसुओं के साथ घूमती हूँ। मैं आदित्यगण व अन्य देवताओं के साथ निवास करती हूँ। मैं मित्रावरुण को धारण करनेवाली तथा इन्द्र, अग्नि व अश्विन को आश्रय देनेवाली हूँ। मैं राज्यों की अधिष्ठात्री और धन प्रदात्री हूँ। मैं ज्ञान से सम्पन्न और यज्ञों में प्रयुक्त साधनों में श्रेष्ठ हूँ। मैं सब प्राणियों में वास करती हूँ। देवताओं ने मुझे अनेक स्थानों में स्थापित किया है। जिसके आश्रय को देवता व मनुष्य प्राप्त होते हैं, मैं उसकी उपदेशिका हूँ। जिसे मैं चाहूँ, वही मेरी कृपा से बलवान्, मेधावी, स्तोता और कवि हो सकता है। मैं ही आकाश पृथिवी में व्याप्त होकर मनुष्य के लिये संग्राम करती हूँ। मैं अपनी महिमा से महिमामयी होकर आकाश पृथिवी का उल्लङ्घन कर चुकी हूँ।"

उत्तर-वैदिक काल

यजुर्वेद, अथर्ववेद आदि उत्तर वैदिक काल के साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि उक्त युग के धार्मिक जीवन में परिवर्तन हो गया था। कुछ नये देवताओं का महत्त्व बढ गया था, तथा पुराने देवता विस्मृत हो गये थे। ऋग्वेद में यत्र तत्र उल्लिखित प्रजापति यजुर्वेद[2] में महत्त्वपूर्ण हो जाता है। ऋग्वेद का रुद्र, शङ्कर[3], शिव, पशुपति[4], शम्भु[5], भव[6], नीलग्रीव, कपर्दी[7] आदि नामों से विभूषित किया गया है, और इस प्रकार हमें यजुर्वेद में पौराणिक शिव के दर्शन होते हैं। विष्णु का भी महत्त्व बढ गया था और यज्ञ के साथ

---

[1] ऋ० १०।१२५

[2] ७।१८,२९ ३०,३५,३८,४०,४४ ४५, १८।२ ७४४,४५,५६ ५९ ६०,

[3] यजु० १६।४१

[4] यजु० १६।४०,

[5] यजु० १६।२८,

[6] यजु० १६।२८,

[7] यजु० १६।२९

उसका तादात्म्य स्थापित किया गया है[1]। देव व असुर क्रमशः भले व बुरे से सम्बन्धित किये गये हैं और उनके पारस्परिक झगड़े भी उल्लिखित किये गये हैं, जिनसे पौराणिक देवासुरसंग्राम को सम्बन्धित किया जा सकता है। (यजुर्वेद में अप्सराओं का भी उल्लेख आता है, जिनका पौराणिक कथाओं में बहुत महत्त्व है[2]। उसमें उपनिषदों के ब्रह्म के भी सर्वप्रथम दर्शन होते हैं।[3])

यह धार्मिक परिवर्तन अथर्ववेद में भी परिलक्षित होता है, जिसकी विशेषता यह है कि उसमें जनसाधारण के अन्धविश्वास, जादू-टोने आदि का वर्णन है।[4] वरुण-सूक्तों में नैतिकता के उच्च आदर्शों का सुन्दर विवेचन किया गया है।[5] इसी प्रकार व्रात्यसूक्त[6] व कालसूक्त[7] अपने नैतिक व आध्यात्मिक आदर्शों के विवेचन के कार्य्य में ऋग्वेद से भी आगे बढ़ गये हैं। उनमें उदात्त दार्शनिक मनोवृत्ति का स्पष्टीकरण किया गया है। अथर्ववेद के धार्मिक सिद्धान्तों के बारे में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसमें उदात्त धार्मिक सिद्धान्तों के साथ-साथ जनसाधारण के अन्धविश्वास, जादू-टोना आदि से युक्त धार्मिक विश्वासों का भी समावेश है। विद्वान् लोगों का यह मन्तव्य है कि अथर्ववेद में प्रतिपादित धार्मिक सिद्धान्त आर्य व अनार्य तत्त्वों के सुन्दर सम्मिश्रण हैं। ज्यों-ज्यों ऋग्वेद-कालीन आर्य सप्तसिन्धु से आगे बढ़ने लगे, त्यों-त्यों सर्प, पत्थर, पेड़ आदि पूजनेवाली जंगली जातियों के संसर्ग में आने लगे। किन्तु आर्यों ने इन जंगली जातियों का सर्वनाश नहीं किया, उन्हें अपने समाज में आत्मसात् कर लिया। अतएव आर्यों को उनके धार्मिक अन्धविश्वास, जादू-टोने आदि को भी अपने परिमार्जित व शुद्ध धार्मिक सिद्धान्तों में सम्मिलित करना पड़ा।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद

---

[1] यजु० ५।१,२, १५-२१,२८,४१; ६।३,४,५

[2] मैक्डॉनेल—हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरैचर पृ० १८२

[3] यजु० ४०।१-१७;

[4] अथर्व० ४।१९।१-८, ४।२०।१-९,

[5] अथर्व० ४।१६।१-९;

[6] अथर्व० १५।१-१८

[7] अथर्व० १९।५३।१-१०; १९।५४।१-५;

आदि में जिन देवताओं का उल्लेख किया गया है, वे वेदकालीन धार्मिक विकास के प्रेरणास्रोत थे। आर्यों के धार्मिक सिद्धान्तों का विकास उन देवताओं के इतिहास में निहित है, तथा बाद के पौराणिक देवताओं, विशेषकर ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि त्रिमूर्ति का प्रारम्भ भी उन्हीं से होता है।

३

यज्ञ

यज्ञों का कर्मकाण्ड वेदकालीन धार्मिक जीवन का एक विशेष अङ्ग था। समस्त वैदिक साहित्य के संकलन का मूल उद्देश यज्ञों का कर्मकाण्ड ही है। वैदिक आर्य यज्ञों से बहुत प्रेम करते थे, वे दैनिक, पाक्षिक, मासिक, चातुर्मासिक, वार्षिक आदि यज्ञ किया करते थे। इसके अतिरिक्त सब महत्त्वपूर्ण अवसरों पर तथा जीवन की मुख्य-मुख्य घटनाओं के समय (जन्म, दाँत निकलना, चूड़ाकर्म, विवाह आदि) विशेष यज्ञ किये जाते थे। इस प्रकार वैदिक आर्यों का जीवन यज्ञमय था, और यज्ञों का सम्पादित किया जाना आवश्यकीय था। यज्ञों की प्रथा इण्डो-ईरानियन व इण्डो-यूरोपियन युग में भी प्रचलित थी। प्राचीन ईरान, यूनान व रोम में यज्ञ किये जाते थे, देवताओं को जो कुछ अर्पित करने का रहना था, वह अग्नि में डाल दियाजाता था, जिसके द्वारा वह देवताओं तक पहुँचा दिया जाता था। इस प्रकार यज्ञ की पृष्ठभूमि में त्याग की भावना निहित है। मनुष्य अपने देवताओं को प्रसन्न करने के लिये अपनी प्रिय से प्रिय वस्तुएँ उन्हें अर्पित करता है। प्राचीन काल में यह भावना व्याप्त थी कि अग्नि द्वारा सब वस्तुएँ देवताओं तक पहुँचाई जा सकती हैं। इसी मान्यता ने यज्ञों के कर्मकाण्ड को जन्म दिया।

मानव-संस्कृति के विकास में अग्नि का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। वैदिक आर्यों ने भी प्रारम्भ से ही अग्नि के महत्त्व को समझ लिया था। अग्नि की स्थापना गृह के देवता के रूप में की गई। उसे 'गृहपति' और यज्ञ का पुरोहित कहा गया।[1] उसे देवताओं व मानवों

[1] ऋग्वेद १।१।१

के बीच का माध्यम समझा गया। प्रत्येक वेदकालीन गृहस्थ यज्ञकर्ता था और अग्नि के माध्यम द्वारा देवताओं को हविष् प्रदान करता था। उस समय "आहिताग्नि" उसे कहते थे जिसके घर में यज्ञाग्नि हमेशा प्रज्वलित रहा करता था।

प्रत्येक वैदिक आर्य के लिये यह आवश्यकीय था कि वह आहिताग्नि बने और प्रतिदिन मृत्युपर्य्यन्त अपनी पत्नी के साथ यज्ञाग्नि में हविष् आदि प्रदान करे। जातकर्म, उपनयन, समावर्तन, विवाह आदि संस्कार इस यज्ञाग्नि में किये जाते थे। इसे गृह्याग्नि, आवसथ्याग्नि या स्मार्ताग्नि कहा जाता था।

अग्न्याधान

विवाह के पश्चात् गृहस्थ को श्रौताग्नि प्रज्वलित कर उसमें प्रतिदिवस आहुतियाँ प्रदान करनी पड़ती थीं। सर्वप्रथम अग्नि को प्रज्वलित करने की विधि को 'अग्न्याधान' या 'अग्न्याधेय' कहते थे। इस कार्य के लिये एक 'अग्निशाला' का निर्माण किया जाता था, जिसमें चतुर्भुजाकार वेदी बनाई जाती थी। वेदी के पश्चिम में वृत्ताकार में 'गार्हपत्याग्नि' के लिए स्थान रहता था, जिसका क्षेत्रफल तीन वर्गफुट रहता था। उसके पूर्व में 'आहवनीयाग्नि' का स्थान वर्गाकार में रहता था और दक्षिण में 'दक्षिणाग्नि' के लिये स्थान अर्धवृत्ताकार में रहता था। गार्हपत्याग्नि गृहपति से, आहवनीयाग्नि देवताओं से तथा दक्षिणाग्नि पितरों से सम्बन्धित थी। इन तीनों प्रकार की अग्नि में यज्ञ का विभिन्न कर्मकाण्ड सम्पादित किया जाता था।

यज्ञ के सविधि सम्पादित किये जाने के लिये विभिन्न कर्मकाण्डी पुरोहितों की आवश्यकता होती थी। होता को ऋग्वेद में निष्णात रहना पड़ता था। यज्ञ के समय ऋग्वेद मन्त्रों के उच्चारण द्वारा वह देवताओं का आह्वान करता था। अध्वर्यु यजुर्वेद के मन्त्रों द्वारा अग्नि में हविष् प्रदान करता था तथा यज्ञ के लिये द्रव्य आदि तैयार करता था। उसे यजुर्वेद में निष्णात रहना पड़ता था। उद्गाता सामवेद में निष्णात रहता था व यज्ञ के समय उसे सामगान करना पड़ता था। इन सब ऋत्विजों में 'ब्रह्मा' मुख्य था, जो यज्ञकार्य का अध्यक्ष रहता था तथा होता, अध्वर्यु, उद्गाता आदि ऋत्विजों के कार्य्यों का निरीक्षण भी करता था। उसे तीनों वेदों में निष्णात

रहना पड़ता था। ब्रह्मा को अथर्ववेद से भी सम्बन्धित किया जाता है।

अग्निहोत्र

अग्न्याधान विधि के समाप्त होने पर गृहस्थ, जो कि आहिताग्नि कहलाता था, और उस की पत्नी दोनों को प्रति दिवस दो बार 'अग्निहोत्र' नाम का याग करना पड़ता था। आहिताग्नि गृहस्थ गार्हपत्याग्नि में से, जो कि हमेशा प्रज्वलित रहती थी, आहवनीय व दक्षिणाग्नि को प्रज्वलित करता था, तथा सायं प्रातः वेदमन्त्रों के उच्चारण के साथ उन अग्नियों को गाय के दूध के हविष् प्रदान करता था। इसी प्रकार वह गार्हपत्याग्नि में भी हविष् प्रदान करता था। यह अग्निहोत्र याग प्रत्येक गृहस्थ के लिये मृत्युपर्य्यन्त अनिवार्य्य था। समाज की यह मान्यता थी कि इस याग के करने से मनुष्य ऋषिऋण, देवऋण व पितृऋण से उन्मुक्त हो जाता है। कोई वस्तु प्राप्त न होने पर 'श्रद्धा-होम' भी किया जा सकता था।

इष्टियाग

आहिताग्नि गृहस्थ को अन्य श्रौतयाग भी करने पड़ते थे, उनमें से एक 'इष्टियाग' कहलाता था। इस 'याग' को प्रत्येक पक्ष में किया जाता था। यह पूर्णिमा व अमावास्य के दिन किया जाता था, इसलिये 'दार्शपौर्णमास' भी कहलाता था। इस अवसर पर 'अष्टकपाल पुरोडाश,' 'एकादशकपाल पुरोडाश' आदि आहुतियां प्रदान की जाती थीं।

सोम याग

सोम याग वैदिक युग के श्रौतयज्ञों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था। ऋग्वेद में उसे 'प्रत्नमित्'[1] (सर्वाधिक प्राचीन) और 'यज्ञस्य पूर्व्य'[2] (यज्ञों में सर्वप्रथम) कहा गया है। ऋग्वेद के सम्पूर्ण नवम मण्डल में सोम याग का ही वर्णन है। यह याग बहुत ही खर्चीला तथा बहुत से विधानों से युक्त था। उसके लिये विभिन्न नामवाले कितने ही ऋत्विजों की आवश्यकता होती थी, जिनमें से प्रत्येक को

---

[1] ऋग्वेद ९।४२।४

[2] ऋग्वेद ९।२।१०

सोना, चांदी, गायें आदि दक्षिणा के रूप में देनी पड़ती थीं। उसके लिये बहुत बड़ा स्थान भी आवश्यकीय होता था। अतएव यह याग ग्राम के बाहर किसी बड़े स्थान में किया जाता था। कभी-कभी यह याग एक दिन में पूर्ण हो जाता था, तब उसे 'एकाहिक' कहा जाता था, कभी-कभी बारह दिन तक चलता था जबकि उसे 'अहीन' कहा जाता था। कभी-कभी यह याग एक वर्ष या उससे अधिक समय तक भी चलता था, जब उसे 'सत्र' कहा जाता था। 'अग्निष्टोम' नाम की विधि एक दिन में पूरी की जाती थी, किन्तु उसकी तैयारी में चार दिन लग जाते थे।

सोम-याग में सोम के पौधे के रस की आहुति दी जाती थी। सोमरस विधिपूर्वक निकाला जाता था व दूध, दही या शहद के साथ मिलाया जाता था। सोम का पौधा मूजवत् पर्वत पर उगता था व यज्ञ के लिये उसकी बहुत मांग रहा करती थी। यह कदाचित् चमकीला पौधा था व रात्रि के समय उसमें से प्रकाश निकलता था। इसीलिये उसे 'सुपर्ण' (सोने के पङ्खवाला पक्षी) व 'गन्धर्व' (सूर्य्य) की उपमा दी जाती थी।[1] उसकी तुलना चन्द्र से भी की गई है। यज्ञ करनेवाले यजमान, ऋत्विक् आदि तथा युद्ध करनेवाले सैनिक सोमरस का पान करते थे।[2] सोमरस देवताओं का बहुत ही प्रिय पेय था, विशेषकर इन्द्र तो सर्वदा उसके लिये लालायित रहता था। सोम-याग का मुख्य उद्देश इन्द्र-वृत्र युद्ध में इन्द्र को शक्तिशाली बनाना था तथा कृषि कार्य्य के लिये मेघों से ठीक समय पर वर्षा प्राप्त करना था। ठीक समय पर वर्षा प्राप्त करने के लिये यह याग कभी-कभी नौ, दस या बारह महीनों तक चलता था। जो ऋत्विक् नौ महीने तक उस याग को करते थे वे 'नवग्व' तथा जो दस महीने तक करते थे वे 'दशग्व' कहलाते थे।

वैदिक साहित्य में सोम को राजा कहा गया है, क्योंकि उसके अन्तर्गत देवता ने वृत्र पर विजय प्राप्त करने में इन्द्र को सहायता प्रदान की थी व लोगों को सुखी तथा समृद्धिशील बनाया था। वह न केवल जनता का राजा था, किन्तु देवताओं का भी राजा था, क्योंकि उसकी सहायता से देवताओं ने असुरों पर विजय प्राप्त की

---

[1] ऋग्वेद ९।८५।११;

[2] ऋग्वेद ९।१६६।२

थी। अतएव प्रत्येक वैदिक आर्य सोम की पूजा करता था तथा सोम रस का पान करता था, जिससे उसे सौभाग्य व अमरत्व प्राप्त होवे। ऋग्वेद में सोम की स्तुति, प्रशंसा आदि में कितने ही मन्त्र हैं, जिससे सिद्ध होता है कि ऋग्वेदकालीन आर्यों के जीवन में सोम याग का बहुत महत्त्व था।

यज्ञों के बारे में ऊपर जो कुछ लिखा गया है उससे स्पष्ट होता है कि वैदिक युग के धार्मिक जीवन में यज्ञों का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान था। वैदिक आर्यों का जीवन यज्ञमय ही था, इस कथन में किसी प्रकार की अतिशयोक्ति नहीं हो सकती।

8

धार्मिक जीवन की दो धाराएँ

वैदिक युग के धार्मिक जीवन के बारे में ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उस पर यदि आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि तत्कालीन धार्मिक विकास की दो मुख्य धाराएँ थीं—(१) भक्ति व (२) यज्ञों का कर्मकाण्ड। वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है कि वैदिक आर्य जगन्नियन्ता परमेश्वर के अस्तित्व में पक्का विश्वास रखते थे। उस परमेश्वर के दर्शन विभिन्न देवताओं के रूप में करते थे। यद्यपि देवताओं के नाम अलग अलग थे, किन्तु उनके कार्य्य, गुण और मानव जाति के प्रति उनकी परोपकार वृत्ति आदि लगभग समान ही थे। प्रत्येक देवता को मानव के भाग्य का निर्माता, जगत् का स्रष्टा, संरक्षक आदि माना गया है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से वेदमन्त्रों का अध्ययन किया जाय तो स्पष्टतया समझ में आ जायगा कि प्रत्येक मन्त्र ईश्वरभक्ति से ओतप्रोत है। आजकल जिस प्रकार सब भक्त यथार्थ में एक समान ही रहते हैं चाहे कोई विष्णु का उपासक हो, शिव का उपासक हो अथवा और किसी देव का। जिस प्रकार सब भक्तों को ईश्वरभक्त ही माना जाता है, क्योंकि वे अपने इष्ट देवों के नाम से जगन्नियन्ता परमात्मा की ही आराधना व उपासना करते हैं, उसी प्रकार वैदिक युग में भी सब भक्त एक से ही थे, चाहे वे इन्द्र को मानें, चाहे वरुण [illegible] अथवा वि[illegible]।

उन विभिन्न नामों से एकमात्र परमेश्वर की ही भक्ति की जाती थी। इससे सिद्ध होता है कि समाज में धार्मिक सहिष्णुता का भाव पूर्णतया व्याप्त था।

एक वरुणभक्त अपने इष्टदेवता के लिये अपना भक्तिभाव दर्शाता हुआ कहता है—"हे वरुणदेव, हम मानव हैं, दिन प्रतिदिन तुम्हारे नियमों को भङ्ग करते हैं। हमारे अपराधों को क्षमा कीजिये।"[1] "हम अपने कल्याण के लिए सर्वव्यापी वरुण को कब प्राप्त करेंगे।"[2] "वरुणदेव सर्वज्ञ हैं, वे अन्तरिक्ष में उड़नेवाले पक्षियों के स्थान को, समुद्र में चलनेवाले जहाजों को तथा वायु के विशाल मार्ग को जानते हैं।"[3] "मैंने वरुण के विश्व द्वारा दर्शनीय सुन्दर रथ को पृथ्वी पर देखा। हे वरुण, मेरी प्रार्थना सुनिये व मेरा कल्याण कीजिये।"[4] "हे वरुण, मैंने ऐसा कौन सा पाप किया है कि आप इस ज्येष्ठ स्तोतामित्र को शासित करते हैं।"[5] "हे वरुण, हम दोनों का वह सख्य कहां गया, जिसके कारण हम दोनों साथ साथ चलकर तुम्हारे सहस्रद्वारवाले गृह में गये थे।"[6] "पानी के मध्य रहकर भी मैं प्यासा हो गया हूँ। हे सुक्षत्र वरुण, कृपा कीजिये। हे वरुण, देवताओं के प्रति हम मनुष्यों ने जो कुछ अभिद्रोह किया हो, अनजान में तुम्हारे नियमों का जो भङ्ग किया हो, हे देव, इन अपराधों के पापों के लिये, हमें शासित न कीजिये।"[7]

एक विष्णुभक्त अपने इष्टदेवता के प्रति कहता है—"हम विष्णु की वीरता का वर्णन करते हैं, जिसने पृथ्वी को नापा, जिसने तीन पदों में ऊपर के आकाश में परिभ्रमण किया। उसी विष्णु का उसके वीर्य के लिये हम स्तवन करते हैं।"[8] "हम उसके प्रियधाम में उपभोग करें, जहां देवताओं के भक्त मनुष्य आनन्द मनाते हैं। वह

[1] ऋ० १।२५।१,

[2] ऋ० १।२५।५,

[3] ऋ० १।२५।७-९,

[4] ऋ० १।२५।१८, १९,

[5] ऋ० ७।८६।४,

[6] ऋग्वेद ७।८८।५,

[7] ऋ० ७।८९।४,५,

[8] ऋग्वेद १।१५४।१-२,

हम सबों का बन्धु है। विष्णु के परमधाम में एक मधु का कूप है। हम उसी धाम में जाना चाहते हैं, जहाँ बहुत से सींगवाली गायें हैं। उस विष्णु का परम धाम अत्यधिक प्रकाशित होता है।"[1]

एक इन्द्रभक्त अपने इष्टदेव के लिये कहता है—"हे इन्द्र, तुम दिव्यलोक में रहतेहुए भी पार्थिव मनुष्यों के बन्धु बनते हो। यह तुम्हारे श्रेष्ठ बल और महिमा का प्रत्यक्ष उदाहरण है। वे सभी राक्षसों का हनन करनेवाले हैं।"[2] "हे इन्द्र, मैं तुम्हारी श्रेष्ठ महिमा का वर्णन करता हूँ। यजमान को शक्ति प्रदान करते हुए तुमने दुष्ट राक्षसों को मार डाला था। हे इन्द्र, हमारे पूर्व ऋषियों ने भी तुम्हारी माया का आदि व अन्त नहीं पाया। हे इन्द्र, तुम प्रकट व अप्रकट दोनों प्रकार के धन के स्वामी हो। सभी धनों पर तुम्हारा अधिकार है। हे इन्द्र, तुम दान करने का स्वयं ही आदेश करते हो और स्वयं ही दान करते हो। अत मेरी कामनाओं की सिद्धि करनेवाले होओ।"[3] "हे इन्द्र, गायत्रिन् तुम्हारा गान करते हैं, तुम्हारे भक्त तुम्हारा अर्चन करते हैं। हे शतक्रतु, ब्राह्मण तुम्हारी उपासना करते हैं। हम तुम्हारे सख्य, तुम्हारे धन व तुम्हारे सुवीर्य की कामना करते हैं।"[4]

एक अश्विन् देवताओं की भक्तन (घोषा काक्षीवती) अपने इष्ट-देवताओं के प्रति अपना भक्तिभाव इस प्रकार दर्शाती है।—"हे अश्विन् देवताओं, तुम्हारा जो रथ सर्वत्र गमनशील है और तुम्हारे जिस सुदृढ़ रथ का रातदिन आह्वाहन करना यजमान का कर्तव्य माना गया है, इस समय हम उसी रथ का नामोच्चार करते हैं। जिस प्रकार पिता का नाम स्मरण करता हुआ मनुष्य सुखी होता है, वैसे ही हम इस रथ का नाम लेते हुए सुखी होते हैं। हे अश्विन् देवताओं, हम मधुरभाषी बनें। हमारे सभी कार्य पूर्ण हों। हमारी प्रार्थना है कि आप हममें अनेक सुमति उदित करें। हमें श्रेष्ठ व कीर्तिशाली ऐश्वर्य का भाग प्रदान करो। एक स्त्री

---

[1] ऋ० १।१५४।५-६,

[2] ऋ० १०।५५।४,८;

[3] ऋ० १०।५४।१-६,

[4] ऋ० १।१०।१,६,

अपने पिता के घर में बढ़ रही थी, तुम उसके सौभाग्य के योग्य वर को ले आये। हे अश्विनौ, जो पंगु है, पतित है, उसे भी तुम शरण प्रदान करते हो। तुम नेत्रहीन, बलहीन रोगियों की चिकित्सा करने वाले कहे जाते हो। पुराने रथ की मरम्मत करके जैसे कोई व्यक्ति उसे नया-सा कर लेता है, वैसे ही तुमने वृद्धावस्था से जीर्ण हुए च्यवन ऋषि को तरुण बना दिया। तुम्हारे ये पराक्रम यज्ञ में कीर्तन के योग्य हैं। हे अश्विन् देवताओं, तुम्हारे पराक्रमों का मैं बखान करती फिरती हूँ। तुम अत्यन्त कुशल चिकित्सक हो, अतः मैं तुम्हारी शरण प्राप्त करने के लिये प्रार्थना करती हूँ। हे अश्विन् देवताओं, मेरा आह्वाहन सुनो। जैसे पिता पुत्र को सीख देता है, वैसे ही तुम मुझे दो। मुझ ज्ञानरहित का न कोई भाई है, न कुटुम्बी है। श्रेष्ठ बुद्धि भी मेरे पास नहीं है। यदि मुझे कोई क्लेश प्राप्त हो तो उसे पहिले ही दूर कर दो।"[1]

इसी प्रकार ऋग्वेद के अग्नि, सूर्य, सविता, पूषा आदि अन्य देवताओं से सम्बन्धित मन्त्र भी भक्तिभाव से पूर्णतया ओतप्रोत हैं। स्थानाभाव से उन्हें यहाँ नहीं दिया जा सकता। वरुण, विष्णु, इन्द्र, अश्विन् आदि देवताओं के जो मन्त्र ऊपर दिये गये हैं, उनमें उत्कृष्ट भक्ति का रस अविकल रूप से प्रवाहित होता है। एक सच्चा भक्त अपने इष्टदेवता का सख्य, नेतृत्व, बन्धुत्व व सान्निध्य प्राप्त करने की तीव्र अभिलाषा उन मन्त्रों द्वारा प्रकट करता है। वेदों के इन मन्त्रों में हमें पुराणों की भक्ति के विभिन्न अङ्गों का स्पष्ट आभास प्राप्त होता है, मध्ययुगीन भक्तिस्रोत के दर्शन भी उनमें होते हैं। ऋग्वेद के उपरोक्त मन्त्रों में सूरदास, तुलसीदास, मीरा, नरसिंह मेहता आदि भक्तश्रेष्ठों का हृदय ओत प्रोत प्रतीत होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदकालीन धार्मिक जीवन में भक्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान था।

वैदिक युग के धार्मिक जीवन की दूसरी धारा यज्ञ का कर्मकाण्ड है। यदि वैदिक साहित्य को आदि से अन्त तक ध्यानपूर्वक पढ़ें तो स्पष्ट होगा कि तत्कालीन धार्मिक जीवन में यज्ञ के कर्मकाण्ड की धारा सतत् रूप से बहती है। भक्ति व कर्मकाण्ड दोनों की धारायें इस प्रकार आपस में मिल जुल गई हैं कि उनका समन्वय पद पद

[1] ऋग्वेद १०।३९।१-६,

पर दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद में भक्ति व यज्ञ एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं, किन्तु पूरक हैं। भक्त यज्ञ की अग्नि के द्वारा अपने इष्ट देवता को हविषादि के रूप में अपनी भक्ति भेंट देता है। इन्द्र, वरुण, विष्णु, अश्विनौ आदि विभिन्न देवताओं को ऋत्विक् द्वारा बुलाये जाने पर यज्ञ में उपस्थित होकर हविष का स्वीकार करना पड़ता था। यज्ञाग्नि भक्तों की भक्तिभेंट को विभिन्न देवताओं तक पहुँचाने का महत्त्वपूर्ण माध्यम था। ऋग्वेद युग में देवताओं की मूर्तियां नहीं रहती थीं, अतएव भक्त को उनके साक्षात्कार का कोई अवसर ही प्राप्त नहीं होता था। यज्ञ द्वारा उसे विभिन्न देवताओं के साक्षात्कार का मधुर अनुभव होता था। यही कारण है कि ऋग्वेद का प्रत्येक देवता किसी न किसी रूप में यज्ञ से सम्बन्धित किया गया था।

इन्द्र, जो कि आर्यों का राष्ट्रीय देवता था, कितनी ही बार यज्ञ से सम्बन्धित किया गया है। उसे सोमरस बहुत ही प्रिय था, जैसा कि और देवताओं को भी था। सोमरस पीकर वह इन्द्र वृत्रयुद्ध में प्रवृत्त होता था, तथा बल व ओज को प्राप्त होता था। ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है[1] कि "वेदि के सामने अग्नि प्रज्वलित होवे। हे इन्द्र, तुम्हारे लिये अमृतत्व को प्रदान करनेवाला यज्ञ हम करते हैं।" एक स्थल पर कहा गया है[2] कि "उसने (इन्द्र ने) दो पत्थरों के बीच अग्नि (यज्ञाग्नि) को उत्पन्न किया।" इन्द्र को 'सोमपा' (सोम पीनेवाला) भी कहा गया है। पुनः एक स्थान[3] पर कहा गया है कि "अध्वर्युओं ने इन्द्र के लिये सोम का सेचन करते हुए वृत्र, नभीक, उरण, अर्बुद, पिप्रु, नमुचि आदि का हनन किया। अध्वर्युओं ने (इन्द्र के लिये) शम्बर के सो किलों का नाश किया। ऋत्विजों ने इन्द्र के लिये सोम की आहुति दी। अध्वर्युओं ने इन्द्र के लिये गाय के दूध आदि की आहुति दी।" इस

[1] ऋग्वेद १।१७०।४ 'अर कृण्वन्तु वेदिं समग्निमिन्धता पुर । तत्रामृतस्य चेतनं यज्ञं ते तनवावहै ।'

[2] ऋ० २।१२।३ 'यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान ।'

[3] ऋ० २।१२।१३,

[4] ऋ० २।१४।१ १२,

वर्णन से स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद-काल में इन्द्र व यज्ञ का कितना घनिष्ट सम्बन्ध था।

इसी प्रकार ऋग्वेद में मित्र देवता को भी यज्ञ से सम्बन्धित किया गया है। उसमें वर्णन आता है[1] कि "मित्र ने पृथ्वी व आकाश को धारण किया है। मित्र के लिए घृतयुक्त हव्य प्रदान करो।" मित्र को 'यज्ञिय'[2] नाम से सम्बोधित कर कहा गया है कि "मित्र के लिये अग्नि में हविष प्रदान करो।" ऋग्वेद के अन्य देवताओं को भी इसी प्रकार यज्ञ के कर्मकाण्ड से सम्बन्धित किया गया है।

ऋग्वेदकालीन धार्मिक जीवन पर यज्ञ का जो अमिट प्रभाव था, उसका स्पष्टीकरण अग्नि व सोम सूक्तों के अध्ययन से होता है। ऋग्वेद में लगभग दो सौ सूक्त अग्नि के विषय में लिखे गये हैं, जिनमें यज्ञ का महत्त्व व उससे सम्बन्धित कर्मकाण्ड का स्पष्ट विवेचन किया गया है। लगभग एक सौ बीस सूक्त सोम से सम्बन्धित हैं, जिनमें सोमयागों की विधि का विवेचन तथा सोम पौधे का पर्वत पर से लाया जाना, उसकी पत्तियों का दो पत्थरों के बीच पीसा जाना तथा सोमरस का निकाला जाना आदि का वर्णन किया गया है। उनमें यह भी दर्शाया गया है कि यज्ञ के अवसर पर ऋत्विक्, यजमान आदि सोम-रस का पान करते थे व देवता भी उसे बहुत पसन्द करते थे। अग्नि व सोम मन्त्रों के निम्नाङ्कित उदाहरणों से वैदिक युग के धार्मिक जीवन में उनका क्या महत्त्व था, यह बात स्पष्टतया समझ में आ जायगी।

त्रित ऋषि कहते हैं—"हे अग्नि, तुम नित्य होता और देवताओं के आह्वानकर्त्ता हो। तुम्हारे सम्पर्क में रहकर मैं यज्ञ करनेवाला होऊँ। तुम्हें हवि प्राप्त हो सके, इसलिए तुम्हारे द्वारा मुझे अश्वादि से युक्त धन प्राप्त हो। देवताओं का आह्वान करने के लिए मनुष्यों ने अग्नि को प्रदीप्त किया है तथा मित्र के समान संगति के योग्य यह अग्नि यजमानों की भुजा द्वारा उत्पन्न हुआ है।"[3] उत्क्षय ऋषि अग्नि के

---

[1] ऋ० ३।५९।१

[2] ऋ० ३।५९।५;

[3] ऋग्वेद १०।७।४, ५;

बारे में कहते हैं[1]—"हे अग्नि, तुम श्रेष्ठ प्रतिज्ञावाले हो। तुम अपने स्थान में मनुष्यों के मध्य प्रज्वलित होकर बढ़ो और शत्रु का नाश करनेवाले होओ। हे अग्ने, यह स्रुक् तुम्हारे निमित्त ही ग्रहण किया गया है। तुम्हारे लिये श्रेष्ठ आहुति प्रदान की गई है। तुम इस घृताहुति से प्रसन्न होओ। अग्नि का आह्वान किया गया है। वाणी द्वारा उसकी स्तुति की गई है। सभी देवताओं के आह्वान के पूर्व उसे स्रुक् द्वारा स्निग्ध किया जाता है, तब वह प्रदीप्त होता है। अग्नि में जब आहुति दी जाती है, तब उसका शरीर घृत से स्निग्ध होता है। वह घृत से सींचे जाने पर अत्यन्त दीप्तिवाला व प्रकाशवान् होता है। हे अग्नि, तुम देवताओं के लिये अग्निवाहक होते हो। जब उपासकगण तुम्हारा आह्वान करते हैं, तब स्तुतियों से प्रसन्न होते हुए तुम वृद्धि को प्राप्त होते हो।"

वसिष्ठ ऋषि सोम की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं[2]—"यह सोम पाषाणों द्वारा अभिषुत होकर अपनी हर्ष प्रदायक धाराओं के द्वारा देवताओं को सींचता है। यह छन्ने के द्वारा क्षरित होता है। यह उज्ज्वल सोम इन्द्र के आश्रय के निमित्त इन्द्र को हर्ष प्रदान करता हुआ गिरता है। यह शोधित, क्रीडाशील इन्द्रादि देवताओं का पूजक और प्रियकर्मा सोम जब क्षरित होता है, तब दस अँगुलियाँ उसे छन्ने पर रखती हैं। वृषभ के समान शब्द करता हुआ सोम आकाश व पृथिवी में व्याप्त होता है। रणक्षेत्र में भी सोम का शब्द इन्द्र के समान ही सुनाई पड़ता है। इसके उच्च स्वर के कारण सभी इसको जान लेते हैं। हे सोम, तुम मधुर रसवाले, शब्दवान् और दूध से मिलनेवाले हो। हे पवमान सोम, तुम जल से सींचे जाकर शुद्ध होते हो, और जब तुम्हारी धाराएँ बढ़ती हैं, तब तुम इन्द्र के प्रति गमन करते हो। हे सोम, तुम जल को रोकनेवाले मेघ को अपने तीक्ष्ण आयुधों से खोलकर नीचे गिरनेवाला करते हो। तुम इन्द्र के हर्ष के लिये क्षरित होओ। तुम हमारी गौओं के दूध की कामनावाले हो, अतः शीघ्र क्षरित होओ।"

रहूगण ऋषि कहते हैं[3]—"इन्द्रादि देवताओं के पीने के लिये

---

[1] ऋग्वेद १०।११८।१–५;

[2] ऋग्वेद ९।९७।११–१५.

[3] ऋग्वेद ९।३७। १–६;

यह सोम अभीष्टवर्षक, देवकाम्य और असुरहन्ता होता हुआ छन्ने में गिरकर निष्पन्न होता है। सर्वद्रष्टा सोम रस का धारक होता हुआ छन्ने में गिरता है। फिर यह हरे रङ्गवाला सोम शब्द करता हुआ द्रोण कलश में क्षरित होता है। यह क्षरणशील सोम स्वर्ग का प्रकाशक बनता हुआ मेषलोमनिर्मित छन्ने को पार कर गिरता है। त्रित ऋषि के श्रेष्ठ यज्ञ में पवित्र होते हुए उस सोम ने अपने महान् तेज द्वारा सूर्य को ज्योतिर्मान किया। रणभूमि की ओर गमन करता हुआ, अश्व के समान पापनाशक, अहिंसनीय, व निष्पन्न कामनाओं का देनेवाला सोम द्रोणकलश में प्रविष्ट होता है। वह सोम विद्वानों द्वारा प्रेरित तथा महान् है। वह इन्द्र की कामना करता हुआ द्रोण-कलश में प्रविष्ट होता है।"

५

दार्शनिक विकास

वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से तत्कालीन दार्शनिक व आध्यात्मिक विकास का भी पता लगता है। वेद-कालीन धार्मिक जीवन पर यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि धार्मिक जीवन को आध्यात्मिक व दार्शनिक पुट दिया गया था। वैदिक आर्यों ने संसार की क्षणभंगुरता का अनुभव किया था व जीवन मरण की समस्याओं को समझने का प्रयत्न किया था। मृत्यु की विभिषीका को दूर करने के लिये उन्होंने अमरत्व के भण्डार देवताओं की स्तुति प्रारम्भ की। उन्होंने आत्मतत्त्व को भी पहिचाना था, इसीलिये देवताओं को "आत्मदा" शब्द से सम्बोधित किया। जीवन-मरण की गुत्थी को सुलझाने के लिये पुनर्जन्म के सिद्धान्त का भी विकास उन्होंने किया था, क्योंकि वैदिक साहित्य में उक्त सिद्धान्त का स्पष्ट उल्लेख आता है। ऋग्वेद में देवताओं के विभिन्न जन्मों का स्पष्ट उल्लेख है। प्रकृति, जीव, ब्रह्म आदि के पारस्परिक सम्बन्धों को भी उपनिषदों के ढङ्ग पर सुलझाया जाने लगा था। सृष्ट्युत्पत्ति के सम्बन्ध में भी दार्शनिक विचार द्वारा कितने ही सिद्धान्त उपस्थित किये गये थे। इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय दर्शनशास्त्र का विकास वैदिक युग से ही प्रारम्भ हो गया था। क्योंकि उसी समय से आर्यों ने

सांसारिक पहेलियों को समझने की चेष्टा प्रारम्भ कर दी थी। जीवन, मरण, जगत् की उत्पत्ति आदि पर विचार करना उन्हें आता था।

सत्

ऋग्वेदादि में कितने ही स्थलों पर दार्शनिक ढङ्ग पर संसार की समस्याओं को समझने का प्रयत्न किया गया है। ऋग्वेद[1] में एक स्थान पर कहा गया है कि "सर्व प्रथम इस सृष्टि को उत्पन्न होते किसने देखा है, जबकि अस्थि-रहित ने अस्थियालों को धारण किया? इस भूमि का जीव, उसका रक्त व उसकी आत्मा कहाँ है? क्या कोई यह सब पूछने के लिये किसी विद्वान् के पास गया है?" फिर प्रश्नोत्तर के रूप में उस परम तत्त्व को समझाने का प्रयत्न किया गया है[2]—(प्रश्न) पृथ्वी का परम अन्त कहाँ है? भुवन की नाभि कहाँ है? वृष (धर्म?) रूपी अश्व का वीर्य कहाँ है? परम वाग्शक्ति कहां है? (उत्तर) "यह वेदि पृथिवी का परम अन्त है। यह यज्ञ भुवन की नाभि है। यह सोम वृषरूपी अश्व का वीर्य है। यह ब्रह्मा परम वाग्शक्ति है।" इन प्रश्नोत्तरों में दार्शनिकों व कर्मकाण्डियों के पारस्परिक वाद विवादों की गन्ध आती है। इसी प्रकरण में उस परमतत्त्व को समझने का प्रयत्न करते हुए कहा गया है कि "वैदिक ऋचाएँ वह अक्षर परमधाम है, जहां सब देवताओं का वास रहता है। जो इस बात को नहीं जानता, उसे ऋचा से कोई लाभ नहीं हो सकता।"[3] अन्त में उस परमतत्त्व का निर्देश करते हुए कहा गया है[4] कि वह सत् (परम तत्त्व) एक है, विद्वान् लोग अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि बहुत से नामों द्वारा उसका विवेचन करते हैं। इस प्रकार एक परमतत्त्व जगत् के आदि कारण को निश्चित किया गया। इस 'सत्' को ऋग्वेद में 'हिरण्यगर्भ' शब्द से भी सम्बोधित किया गया है, जहां कहा गया है[5] कि "सृष्टि के प्रारम्भ में हिरण्यगर्भ अस्तित्व

[1] १।१६४।४ 'को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति। भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित्को विद्वांसमुप गात्प्रष्टुमेतत् ॥'

[2] ऋ० १।१६४।३४,३५

[3] ऋ० १।१६४।३९

[4] ऋ० १।१६४।४६

[5] ऋ० १०।१२१।१ 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।"

में था, वह समस्त उत्पन्न प्राणियों का एक मात्र पति था।" इन 'सत्' व 'हिरण्यगर्भ' शब्दों में एक महान् अर्थ भरा है। इन शब्दों को स्थूल जगत् के सूक्ष्म रूप के अर्थ में ले सकते हैं। 'सत्' का शाब्दिक अर्थ है 'वह जिसका भौतिक अस्तित्व हो'; 'हिरण्यगर्भ' का अर्थ होता है "जिसके गर्भ में हिरण्य (बीजरूप चराचर जगत्) हो।" जिस प्रकार बीज में से वृक्ष का विकास होता है, उसी प्रकार 'सत्' या 'हिरण्यगर्भ' में से चराचर जगत् का विकास होता है। इस प्रकार सत् व हिरण्यगर्भ शब्दों में से विकासवाद के सिद्धान्त की ध्वनि निकलती है। सत् की तुलना सगुण ब्रह्म से की जा सकती है, इसे नामरूपमय प्रत्यक्ष जगत् से भी सम्बन्धित किया जा सकता है, अथवा उपनिषदों का व्यक्त ब्रह्म भी कहा जा सकता है।

असत्

ऋग्वेद[1] में 'असत्' के तत्त्व का उल्लेख भी आता है। उसकी तुलना अव्यक्त ब्रह्म या निर्गुण ब्रह्म से कर सकते हैं। ऋग्वेद में सत् व असत् का सम्बन्ध समझाते हुए कहा गया है[2] कि "देवों के पूर्व युग में असत् से सत् उत्पन्न हुआ। उसके पश्चात् भूमि, दिशाएँ और वृक्ष उत्पन्न हुए। अदिति से दक्ष व दक्ष से अदिति उत्पन्न हुए। उसके पश्चात् अमृत के बान्धव देव उत्पन्न हुए, जो जल में रहते थे। अदिति के आठ पुत्र आदित्य हुए।" इस प्रकार यहाँ असत् से सृष्टि का विकास बड़े ही सुन्दर शब्दों में समझाया गया है। इससे वैदिक ऋषियों की दार्शनिक मनोवृत्ति का स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है। इसी प्रकार से सत् असत् का सम्बन्ध तैत्तिरीय उपनिषद्[3] में भी समझाया गया है। अथर्ववेद[4] में ब्रह्म को सत् असत् की योनि कहा गया है।

पुरुष

पुरुष शब्द भी वैदिक साहित्य में आध्यात्मिक व दार्शनिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अथर्ववेद[5] में पुरुष शब्द का अर्थ दार्शनिक ढङ्ग

---

[1] १०।७२।२ , १०।१२९।१

[2] ऋ० १०।७२।२–८

[3] २।७ : असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत।"

[4] ४।१।१

[5] १०।२।२८' "पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते।"

से समझाया गया है। उसमें कहा गया है कि जो ब्रह्म के पुर को जानता है वह पुरुष है, अर्थात् शरीरस्थ आत्मा। आगे इसी पुरुष को आलङ्कारिक भाषा में समझाया गया है। "अष्टचक्र व नवद्वार-वाली जो देवताओं की पुरी अयोध्या है, उसमें स्वर्गीय ज्योति से आवृत व सुरक्षित हिरण्यमय कोष है। उसमें जो आत्मारूपी यक्ष रहता है, उसे ब्रह्मविद् जानते हैं।"[1] इस प्रकार आत्मा के स्वरूप को दार्शनिक ढङ्ग पर समझाया गया है।

ब्रह्म

ब्रह्म शब्द ऋग्वेद में साधारणतया प्रार्थना या स्तुति के मन्त्र के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसी पर से 'ब्रह्मणस्पति' देवता की कल्पना ऋग्वेद में की गई है। ब्रह्मन् शब्द ब्राह्मण व यज्ञ के मुख्य ऋत्विक् अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। अथर्ववेद व यजुर्वेद में ब्रह्म शब्द उपनिषद् के अव्यक्त ब्रह्म के अर्थ में कई बार प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद में 'असत्' शब्द द्वारा उपनिषद्-ब्रह्म का अर्थ सूचित किया गया है। यजुर्वेद[2] में "ओ३म् खं ब्रह्म" शब्दों द्वारा उस परमतत्त्व के स्वरूप को समझाया गया है। अथर्ववेद में एक स्थान[3] पर कहा गया है कि "हे मनुष्यो, उस महान् ब्रह्म का विवेचन किया जा रहा है, उसे सुनो।" इसके पश्चात् ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण बिलकुल उपनिषदों के ढङ्ग पर किया गया है। एक और स्थान[4] पर ब्रह्म को सत् व असत् की योनि कहा गया है। इसी प्रकार उक्त वेद में 'ब्रह्मविद्'[5] शब्द का उल्लेख आता है तथा कहा गया है कि ब्रह्म ने भूमि व आकाश को उत्पन्न किया,[6] तथा वह ऊपर नीचे आकाश में सर्वत्र व्याप्त है।

अद्वैतवाद

वैदिक साहित्य में उपनिषदों के अद्वैतवाद के भी दर्शन होते हैं। ऋग्वेदादि संहिताओं में कुछ मंत्र ऐसे हैं, जिनमें अद्वैतवाद का

[1] अथर्व० १०।२।३१-३३
[2] ४०।१७
[3] अथर्व० १।३२।१ 'इद जनासा विदथ महद्ब्रह्म वदिष्यति।'
[4] अथर्व० ५।६।१
[5] अथर्व० १०।२।३२
[6] अथर्व० १०।२।२५

स्पष्टतया विवेचन है। इन मंत्रों पर ध्यानपूर्वक विचार करने से स्पष्ट होता है कि उपनिषदों के अद्वैतवाद की आधारशिला ऋग्वेद के वे मन्त्र हैं, जिनमें यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। प्रकृति, जीव व ब्रह्म का पृथक् पृथक् निरूपण ऋग्वेद में विभिन्न शब्दों द्वारा किया गया है। ऋग्वेद[1] में एक स्थान पर जीव व ब्रह्म का सम्बन्ध आलंकारिक भाषा में दार्शनिक ढङ्ग पर समझाया गया है, जो कि इस प्रकार है—"सदा साथ रहनेवाले, परस्पर सख्य भाव रखने वाले दो पक्षी (जीवात्मा एवं परमात्मा) एक ही वृक्ष (शरीर) का आश्रय लेकर रहते हैं। उन दोनों में से एक (जीवात्मा) उस वृक्ष के फलों (कर्मफलों) को स्वाद ले लेकर खाता है, (किन्तु) दूसरा (ईश्वर) उनका उपभोग न करता हुआ केवल देखता रहता है।" यह मंत्र अथर्ववेद[2] में भी आया है। जीवब्रह्म के पारस्परिक सम्बन्ध का निरूपण करने के लिये इस मंत्र का उपयोग श्वेताश्वतरोपनिषद्[3] तथा मुण्डकोपनिषद्[4] में भी किया गया है।

अद्वैतवाद का बहुत ही सुन्दर विवेचन ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में किया गया है, जहां ब्रह्म को परम पुरुष नाम से सम्बोधित करते हुए सृष्टि के विकास क्रम को समझाया गया है। उक्त सूक्त में कहा गया है[5] कि "वह परम पुरुष हजारों सिरवाला, हजारों आँखवाला और हजारों पैर वाला है। वह समस्त जगत् को सब ओर से घेर कर नाभि से दस अंगुल ऊपर हृदय में स्थित है। जो अब से पहले हो चुका है, जो भविष्य में होनेवाला है और जो खाद्य पदार्थों से इस समय बढ़ रहा है, वह समस्त जगत् परम पुरुष परमात्मा ही है, और वही अमृत स्वरूप मोक्ष का स्वामी है।" ये मंत्र यजुर्वेद[6] व अथर्ववेद[7] में आते

---

[1] १।१६४।२० "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति।"

[2] ९।९।२०

[3] ४।६

[4] ३।१।१

[5] ऋ० १०।९०।१,२ "सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥ पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्। उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥"

[6] ३१।१।२

[7] १९।६।१,६

हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद्[1] में भी जीव ब्रह्म की एकता समझाने के लिये इन मंत्रों का विवेचन किया गया है।

यजुर्वेद[2] में सत्रह मंत्र के पूरे अध्याय में ईश नाम से ब्रह्म तथा अद्वैतवाद का निरूपण किया गया है। इसलिये इस अध्याय को उपनिषद्-साहित्य में सम्मिलित कर ईशोपनिषद् भी कहा गया है। उक्त अध्याय में कहा गया है कि "अखिल ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी जड़ चेतन स्वरूप जगत् है, वह सब ईश्वर से व्याप्त है। इसलिये त्याग वृत्ति से संसार का उपभोग करना चाहिये। किसी के धन को ग्रहण नहीं करना चाहिये।"[3] "ब्रह्म को भलीभांति जाननेवाला जब सब भूतों को आत्मा या ब्रह्म से पृथक् नहीं समझता, तब इस प्रकार एकत्व का अनुभव करने वाले के लिये किसी प्रकार का मोह, शोक आदि नहीं रहता।"[4] "सुवर्ण के पात्र से सत्य का मुख ढँका हुआ है। जो आदित्य (सूर्य) में है वह पुरुष (परमात्मा) है और मैं भी वही हूँ। यह सब ब्रह्म है।"[5]

यह निर्विवाद है कि उपरोक्त वेदमन्त्रों में अद्वैतवाद अर्थात् जीव-ब्रह्म की एकता का सिद्धान्त निरुपित किया गया है। इस प्रकार हम कह सकते है कि उपनिषदों के आध्यात्मवाद का आदि स्रोत वेद है। इन मंत्रों के अतिरिक्त और भी कितने ही वेदमंत्र है, जिनमें विशुद्ध ब्रह्म का विवेचन किया गया है व जिन्हें विभिन्न उपनिषदों में स्थान दिया गया है।[6]

---

[1] ३।१४,१५

[2] ४०।१–१७

[3] यजु० ४०।१

[4] यजु० ४०।७

[5] यजु० ४०।१७: "हिरण्मयेनपात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। योऽसावादित्यो पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म॥"

[6] यजु० ५।३६, ७।४३, ४०।१६; ईशावास्योपनिषद म० १८; ऋग्वेद ३।२९।२, साम० १।८।७, कठोपनिषद् २।१।८; अथर्व० १०।८।१९, कठो० २।१।९; यजु० १०।२४, कठो २।२।२, ऋग्वेद १।१६४।१२, अथर्व० ९।१४।१२, प्रश्नोपनिषद् १।११; अथर्व० १०।८।६, मुण्डको० २।२।१, यजु० ११।१, श्वेता० २।१; यजु० १६।३, श्वेता० ३।६

उपसंहार

सारांश में यह कहा जा सकता है कि वैदिक आर्यों ने प्राकृतिक जगत् का सम्यक् अध्ययन करके इस बात का अनुभव कर लिया था कि इस जगत् का कर्ता अवश्य कोई है, जिसने प्राणीमात्र में जीवन शक्ति भर दी है, जो कि जीव या प्राण कहलाती है। उस परम शक्ति की स्तुति में कितने ही वेदमन्त्र हैं, जिनसे तत्कालीन आध्यात्मिक व दार्शनिक विकास का स्पष्ट पता चलता है। वैदिक आर्यों ने जीव ब्रह्म की एकता के निरूपण द्वारा अद्वैतवाद का सिद्धान्त भी सिद्ध किया था।

६

सृष्ट्युत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त

वेदों में सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी बड़े बड़े सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। सृष्टि के प्रवाह को अनादि व अनन्त मानकर उसकी उत्पत्ति परमात्मा ने किस प्रकार की इसे समझाने का प्रयत्न किया गया है। ऋग्वेद में एक स्थान[1] पर बताया गया है कि सर्वप्रथम परमात्मा ने ऋत व सत्य को तप द्वारा उत्पन्न किया। तत्पश्चात् दिन रात, आकाश, पृथ्वी आदि बनाये गये। उसने सूर्यचन्द्रादि को पहिले के समान बनाया। इस सम्बन्ध में मन्त्रों में जो "यथापूर्व" शब्द प्रयुक्त किया गया है, उससे सृष्टिक्रम के अनादित्व का बोध होता है। इसी प्रकार वरुण, इन्द्र, अग्नि, विश्वकर्मा आदि देवताओं को सृष्टि का कर्ता बताया है।

ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ सूक्त[2] में सृष्टि की उत्पत्ति को समझाते हुए कहा गया है कि "हिरण्यगर्भ ही सृष्ट्युत्पत्ति के पूर्व वर्तमान था,

---

[1] ऋग्वेद १०।१९०।१-३, ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥ समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी॥ सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥

[2] ऋ० १०।१२१।१-१०

वही उत्पन्न भूतों का एकमात्र पति था। वह आत्मिक तथा शारीरिक बल का देनेवाला है। अमृतत्व व मृत्यु उसकी छाया है[1]। उसने पृथ्वी व आकाश को स्थिर किया। प्रजापति के अतिरिक्त अन्य कोई समस्त विश्व में व्याप्त नहीं है।"

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त[2] मे आलंकारिक भाषा में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। यह संसार परमात्मा रूपी पुरुष के शरीर से बना है। सृष्ट्युत्पत्ति के कार्य को एक महान् यज्ञ माना गया है, जिसमें पुरुष को मेध्य कहा गया है। उस पुरुष से विराट् उत्पन्न हुआ व विराट से पुनः पुरुष उत्पन्न हुआ।[3] इस प्रकार पुरुष उत्पादक व उत्पादित दोनों है। वही परम आत्मा व अहंकारमय जीवात्मा दोनों ही है। यही शंकर के मायावाद का मौलिक स्वरूप है। इस सूक्त में वर्णव्यवस्था की उत्पत्ति का भी उल्लेख है, तथा चन्द्र, सूर्य, भेड़, बकरी आदि की उत्पत्ति का वर्णन है।

नासदीय सूक्त[4] मे दार्शनिक ढंग पर सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। उसमें सृष्ट्युत्पत्ति के पूर्व की अवस्था पर विचार किया गया है। "उस समय न असत् था न सत् न रज न व्योम जो कि उसके परे है। क्या छिपा हुआ था? और कहां? क्या गहन व गंभीर जल था?"[5] "उस समय न तो मृत्यु थी न अमृत। रात्रि व दिन का भी कोई संकेत नहीं था। वहाँ एक बिना वायु के अपनी आन्तरिक शक्ति द्वारा श्वास ले रहा था।[6] उसके अतिरिक्त

---

[1] ऋग्वेद १०।१२१।१-२ 'हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे भूतस्य जात पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवी द्यामुतेमा कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिष यस्य देवा। यस्यच्छ यामृत यस्य मृत्यु कस्मै देवाय हविषा विधेम॥"

[2] ऋ० १०।९०।१-१६

[3] ऋग्वेद १०।९०।५ "तस्माद्विराडजायत विराजो अधि पूरुष। स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुर॥'

[4] ऋ० १०।१२९।१-७

[5] ऋ० १०।१२९।१ "नासदासीनो सदासीत्तदानी नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्। किमावरीव कुहकस्य शर्मन्नम्भ किमासीद्गहन गभीरम्॥"

[6] ऋग्वेद १०।१२९।२ "न मृत्युरासीदमृत न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेत। आनीदवात स्वधया तदेक तस्माद्धान्यन्न पर किं चनास॥'

और कोई अस्तित्व में नहीं था।" "सर्व प्रथम अन्धकार से गूढ़ अन्धकार ही था, जिसका कोई संकेत नहीं था। यह सब जलमय था। वह एक जो शून्य से ढँका हुआ था, तप की शक्ति से उत्पन्न हुआ।"[1] "सर्वप्रथम काम ने उसमें प्रवेश किया जो कि मन का प्रथम बीजाङ्कुर था। मनीषी कवियों ने अपने हृदयों में ढूँढकर असत् में सत् को बन्धु को पाया।"[2] "उसके प्रकाश ने अन्धकार में विस्तार पाया। किन्तु क्या वह ऊपर था या नीचे? वहाँ उत्पादन करने की व उत्पन्न होने की शक्ति थी। नीचे स्वधा व ऊपर प्रयति थी।"[3] इस सूक्त के असत् व सत् में हमें सांख्य के पुरुष व प्रकृति के दर्शन होते हैं तथा असत् व सत् के पूर्व की ऐक्यमय स्थिति में वेदान्त के अद्वैतवाद को बीजरूप में पाते हैं।

उपनिषदों का अध्यात्मवाद

उपनिषदों के अध्यात्मवाद का भी वैदिक साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। उपनिषदों में, मन को बाह्य जगत् से हटाकर अन्तर्जगत् पर लगाया जाने लगा; जीव ब्रह्म के सम्बन्ध को समझने का प्रयत्न किया गया। "ब्रह्मण. कोशोऽसि"[4] आदि शब्दों द्वारा आत्मा व ब्रह्म का निकटतम सम्बन्ध स्थापित किया जाने लगा। संसार आत्मिक विकास की शृङ्खला मात्र है। यज्ञों द्वारा आत्मा कभी भी परमपद को प्राप्त नहीं हो सकता। संसार की अन्तरात्मा को समझ उससे तादात्म्य स्थापित करने पर ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है। यज्ञ भी इसी तथ्य के प्रतीक हैं।[5] सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर उस परम तत्त्व को प्राप्त होने की इच्छा उपनिषदों में कितने ही स्थलों पर दर्शाई गई है। असत् से सत्, तमस् से ज्योति व मृत्यु से अमृत की ओर

---

[1] ऋ० १०।१२९।३: "तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्। तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्॥"

[2] ऋ० १०।१२९।४ "कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥

[3] ऋ० १०।१२९।५ "तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्। रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात्॥"

[4] बृहदारण्यक० १।४।१०, छान्दोग्य० ३।१४

[5] बृहदारण्यक० १।१।१, छान्दोग्य० १।१,१०, १।१२।

ले जाये जाने की उत्कट अभिलाषा भी प्रकट की गई है।[1] आत्मा के प्रश्न को भी सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। आत्मा ही सुख दुःख का पूर्णतया भोक्ता है। प्रकृति उससे बिलकुल भिन्न है, जिसका यथार्थ में अस्तित्व नहीं है।[2] आत्मा की चार अवस्थाएँ मानी गई हैं, यथा जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति व तुरीया, अथवा वैश्वानर तैजस, प्राज्ञ व तुरीय। इसी प्रकार ब्रह्म को जगत् का संस्रष्टा मान उसके स्वरूप को समझने का प्रयत्न किया गया है। तैत्तिरीय उपनिषद्[3] में लिखा है—"जहाँ से ये जीवधारी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं, तथा मरने पर जहां प्रवेश करते हैं, वह ब्रह्म है।" बृहदारण्यक उपनिषद्[4] में वर्णन आता है कि "यही आत्मा सब भूतों का अधिपति है, सब भूतों का राजा है। सब जीव, लोक, देव प्राण आदि का समावेश इसी आत्मा में हो जाता है। यही आनन्दमय ब्रह्म है व प्रत्येक जीवात्मा इसी में लीन होना चाहता है।"

उपनिषदों में आत्मा व ब्रह्म की एकता भी अच्छी तरह से समझाई गई है। छान्दोग्योपनिषद् के "तत्त्वमसि" वाक्य द्वारा इस मन्तव्य को प्रतिपादित किया गया है। इसी वाक्य के विभिन्न अर्थों पर वेदान्त के भिन्न भिन्न वाद निहित हैं। शंकर, रामानुज, मध्व, वल्लभ, निम्बार्क आदि मध्यकालीन आचार्य इसी वाक्य को अपने अपने सिद्धान्त का मूल मन्त्र मान उपनिषदों से अपने मन्तव्यों के लिये पुष्टि प्राप्त करते हैं। उपनिषदों में जीव व प्रकृति को ब्रह्म का परिवर्तित रूप माना गया है। ब्रह्म ही इस जगत् का एक मात्र निमित्तादि कारण है। उसी ब्रह्म से इस जगत् का विकास प्रारम्भ होता है। इसे मकड़ी व उससे उत्पन्न जाले की उपमा दी जाती

---

[1] बृहदारण्यक० १।३।२७।

[2] बृहदारण्यक० ४।३।६, २३, ८।९।१, छान्दोग्य ३।१३।७, ८।१।३, मुण्डक० १।१

[3] ३।१ 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति॥ यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति॥ तद्विजिज्ञासस्व॥ तद्ब्रह्मेति॥"

[4] २।५।१५ स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानां राजा तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्वे एत आत्मानः समर्पिताः॥"

है। इस प्रकार इस समस्त विश्व की जड़ में ब्रह्म ही है। जगत् में दीखनेवाली भिन्नता के पीछे इसी एकता का साम्राज्य है।[1]

उपनिषदों के अनुसार मनुष्य का मुख्य कर्तव्य है कि वह उन कारणों को दूर करे जिनके कारण जीवात्मा जन्म मरण के बन्धन में पड़ता है।[2] इसी को मोक्ष कहते हैं। आत्मतत्त्व को पहिचाने बिना यह मोक्ष संभव नहीं है। इसलिये 'अहंभाव' को एक दम हटा देना परम आवश्यकीय है, क्योंकि अहंकार के कारण ही मनुष्य इस संसार रूपी गर्त में पड़ता है।[3] पाशविक मनोवृत्ति के निरोध से ही सब कुछ साधा जा सकता है। इसलिये आत्मनिग्रह भी आवश्यकीय है। कुत्सित इच्छाओं का अन्त करने से सब प्रकार की साधना सरल हो जाती है। इस प्रकार की तैयारी करके मोक्ष का अनुभव किया जा सकता है, जो कि एक आनन्दमय अवस्था है। जो जीव इस अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकते उनके लिये कर्म-सिद्धान्त के अनुसार पुनर्जन्म का बन्धन रहता है।[4] मृत्यु के पश्चात् जीव स्थूल शरीर को छोड़ देता है, किन्तु सूक्ष्म शरीर से जिसे लिङ्ग शरीर भी कहा गया है, जकड़ा ही रहता है।[5] जो जीव अपने पुण्यों द्वारा 'आत्मतत्त्व' को पहिचान पाता है, वह देवयान या अर्चिमार्ग द्वारा ब्रह्मलोक या सत्यलोक को जाता है, जहां से वापिस नहीं आना पड़ता। साधारण पुण्यवाले जीव पितृयान या धूम्रमार्ग द्वारा चन्द्रलोक को जाते हैं, जहां से पुण्यों का फल क्षीण होने पर उन्हें किसी मार्ग का भी अनुसरण नहीं करना पड़ता।[6]

उपनिषदों के अध्यात्मवाद ने न्याय, वैशेषिक, योग, सांख्य, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा आदि षट्दर्शनों के विभिन्न सिद्धान्तों तथा जैन व बौद्ध मन्तव्यों को जन्म दिया है। इसी अध्यात्मवाद की भूमिका पर प्राचीन भारत का दार्शनिक भवन खड़ा किया गया है।

---

[1] बृहदारण्यक० १।२।१४, छान्दोग्य० ६।१०

[2] छान्दोग्य०—८।८।४,५

[3] छान्दोग्य०—३।१।६

[4] छान्दोग्य० ५।१०।७, बृहदारण्यक०—३।२।१३, ६।२।१६

[5] मैक्समुलर—इन्डियन फिलॉसफी, पृ० ३९३—३९५

[6] बृहदारण्यक०—६।२।२, ४।४।३,४,६; छान्दोग्य० ५।१०।२, प्रश्न०—३।२।४

७

उपसंहार

ऊपर वेदकालीन धर्म व दर्शन के बारे में जो कुछ लिखा गया है, उसके आधार पर हमें वेदकालीन समाज के उत्कृष्ट सांस्कृतिक विकास का बोध होता है। वैदिक आर्य्यों ने जीवन मरण की समस्याओं से मुख न मोड़ कर उनको सुलझाने के सराहनीय प्रयत्न किये। बाह्य व आन्तरिक दोनों जगतों ने उनके सामने बड़ी बड़ी समस्यायें उपस्थित की थीं। प्रकृति की महान् शक्तियों के सामने अपनी अशक्ति व सामर्थ्यहीनता का अनुभव कर उन्होंने प्रकृति की विभिन्न शक्तियों में देवताओं के दर्शन किये, व इन्द्र, वरुण, अग्नि, विष्णु, सूर्य्य आदि का प्रादुर्भाव हुआ। मानसिक व बौद्धिक विकास ने उनकी दृष्टि आन्तरिक जगत् की ओर प्रेरित की और वाक्, श्रद्धा, मन्यु, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति आदि देवताओं की कल्पना समूर्त होने लगी। विभिन्नता के पीछे एकत्व के दर्शन करने की आर्यों की वृत्ति ने विभिन्न देवताओं म भी एकत्व के दर्शन किये और हिरण्यगर्भ, प्रजापति, ब्रह्म आदि नामों द्वारा उसे प्रकट किया। आन्तरिक जगत् की एकता आत्मा या पुरुष के रूप में स्थापित की गई। अथर्ववेद ने इस शरीर को देवताओं की पवित्र नगरी अयोध्या की उपमा दी, जिसके अन्दर दिव्य तेज से आवृत सुवर्ण कोष में यक्ष की कल्पना की गई। इस प्रकार आत्मा व ब्रह्म का सम्बन्ध स्पष्ट किया गया। अन्त में 'सोऽहमस्मि', 'तत्वमसि' आदि शब्दों द्वारा जीवात्मा व परमात्मा का एकत्व या तादात्म्य स्थापित किया गया। इन सिद्धान्तों को जीवन में व्यवहृत करने के लिये नैतिकतापूर्ण जीवन का कार्य्यक्रम तैयार किया गया। इस प्रकार वेदकालीन आर्य्यों ने अपने धार्मिक व दार्शनिक सिद्धान्तों के रूप में मानव जाति को एक महान् देन दी है, जो देशकाल आदि से परिबाधित नहीं हो सकती।

—०—

अध्याय ९

१

साहित्य, कला, विज्ञान, मनोरञ्जनादि

भूमिका

वेदकालीन समाज ने जीवन के भिभिन्न पहलुओं का विकास कर एक सर्वाङ्गीण संस्कृति को जन्म दिया था। अतएव वैदिक युग में सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक आदि विकास के सिवाय साहित्य, कला, विज्ञान आदि के क्षेत्र में भी पर्याप्त प्रगति की गई थी, जिसका स्पष्ट ज्ञान वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से होता है। संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि वैदिक साहित्य की विभिन्न शाखाओं पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करें तो ज्ञात होता है कि आर्यों ने आश्चर्यजनक साहित्यिक विकास किया था। गद्य-पद्यात्मक शैली द्वारा साहित्य-सर्जन का कार्य ऋग्वेद-काल में ही प्रारम्भ हो गया था। वैदिक कवियों ने सुन्दर व उत्कृष्ट भाव तथा विचारों को सुसंस्कृत, परिष्कृत व प्राञ्जल भाषा का कलेवर प्रदान करना प्रारम्भ कर दिया था। वैदिक साहित्य में उत्कृष्ट काव्य की भी कमी नहीं है, जिसे सुन्दर व परिष्कृत भाषा द्वारा उपस्थित किया गया है।

भाषा के सौष्ठव, परिष्कार आदि के लिये तथा उसे काव्यशैली के उपयुक्त बनाने के लिये निरुक्त, व्याकरण, छन्द, अलंकार आदि शास्त्रों का भी विकास किया गया था। इनके अतिरिक्त साहित्य के विभिन्न रूप अस्तित्व में आ रहे थे, जैसे गद्य, पद्य, नाटक आदि। इन सब बातों पर विचार करते हुए यह मानना पड़ता है कि वैदिक आर्यों ने साहित्य के क्षेत्र में बड़ी भारी प्रगति की थी।

कला का क्षेत्र भी वैदिक आर्यों से अछूता न रह सका। सांस्कृतिक विकास में कला का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है, इस सिद्धान्त के अनुसार वैदिक आर्यों ने ऋग्वेद के समय से ही वास्तुनिर्माण, सङ्गीत, नृत्य आदि का विकास प्रारभ कर दिया था। ऋग्वेद में पुर, व्रज, हर्म्य, प्रहर्म्य, सद्म, प्रसद्म, दीर्घप्रसद्म, सदन, ओकस् आदि शब्दों

द्वारा छोटे बड़े सब प्रकार के निवास योग्य भवनों का उल्लेख किया गया है, जिससे वास्तु निर्माण कला के विकास का ज्ञान होता है। सङ्गीत कला का विकास भी वैदिक युग में प्रारंभ हो चुका था। (वैदिक साहित्य के अध्ययन से मालूम होता है कि आर्यों का स्वर ज्ञान पर्याप्त रूप से विकसित हुआ था। धैवत, निषाद, गान्धार, पञ्चम, ऋषभ, षड्ज, मध्यम आदि स्वरों का उपयोग वेदमन्त्रोच्चारण में किया जाता था। सामवेद का सामगान तो प्रसिद्ध ही है। इसी प्रकार नृत्यकला का विकास भी वैदिक काल से प्रारम्भ हो गया था। ऋग्वेद के उपामन्त्रों में उषा को नर्तकी की उपमा दी गई है, तथा यजुर्वेद में 'वंशनर्तिन्' (बासपर नाचनेवाला) का उल्लेख आता है। इन उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि नृत्यकला भी समाज में लोकप्रिय थी।)

विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में भी वेदकालीन समाज ने पर्याप्त प्रगति की थी। ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद, भौतिकशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, धातुशास्त्र आदि का विकास वैदिक युग में प्रारम्भ हो गया था। यज्ञ की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये गणित, ज्योतिष आदि शास्त्रों का विकास किया गया था। दिवस, पक्ष, मास, ऋतु आदि के अनुसार यज्ञों का सम्पादन किया जाता था। अतएव वैदिक ऋषियों ने विभिन्न नक्षत्र, ग्रह, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि की गतियों तथा पारस्परिक सम्बन्ध को समझने का प्रयत्न किया था। इस प्रकार ज्योतिषशास्त्र का सूत्रपात किया गया। विभिन्न यज्ञों के लिये भिन्न भिन्न आकार की वेदियों की आवश्यकता होती थी, जिसके कारण गणितशास्त्र के रेखागणित का विकास प्रारम्भ हुआ। ऋग्वेद में आयुर्वेद से सम्बन्धित बहुत से तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है। ऋग्वेद के अश्विन् देवता इस शास्त्र में पारङ्गत बताये गये हैं। उन्होंने अपने कलानैपुण्य से च्यवन ऋषि को पुनः यौवन प्रदान किया था। अथर्ववेद से इस सम्बन्ध की बहुत सी बातें मालूम होती हैं। विद्वानों का मत है कि प्राचीन भारत में आयुर्वेद का प्रारम्भ अथर्ववेद से ही होता है। आयुर्वेद के विकास के परिणामस्वरूप वैदिक युग में शरीर विज्ञान का भी विकास हुआ था, जिसके कारण शारीरिक विकास के महत्वपूर्ण सिद्धान्त निश्चित किये गये थे। वैदिक साहित्य में यत्र तत्र भौतिकशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, धातुशास्त्र आदि से सम्बन्धित महत्वपूर्ण बातें उल्लिखित हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैदिक युग में उन शास्त्रों का विकास प्रारम्भ हो गया था।

वैदिक आर्य्यों ने जीवन के गाम्भीर्य व भार को हलका बनाकर उसे सच्चे अर्थ में आनन्दमय बनाने के लिये खेल-कूद व अन्य मनोरञ्जन के साधन भी ढूँढे थे, जिनका उल्लेख ऋग्वेद आदि वैदिक साहित्य में आता है। ऋग्वेद को आलोचनात्मक दृष्टि से पढ़ने से ज्ञात होता है कि वैदिक आर्य रथ की सवारी, घोड़े की सवारी आदि के बड़े शौकीन थे। रथ, घोड़े आदि दौड़ाने की स्पर्धा से उन्हें बड़ा मनोरञ्जन होता था। इसी प्रकार नृत्य, जुआ खेलना आदि भी उनके मनोरञ्जन के साधन थे।

सारांश में वैदिक आर्यों ने अपने सांस्कृतिक विकास में साहित्य कला, विज्ञान, मनोरञ्जन के साधन आदि की प्रगति पर ध्यान दिया था, जिसके कारण वे सर्वाङ्गीण सामाजिक जीवन को विकसित कर सके। यही कारण है कि वेदकालीन आर्य्यों के सांस्कृतिक विकास का स्तर बहुत ऊँचा था, जिससे उन्होंने अपनी सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक आदि संस्थाओं को इतना दृढ़ बनाया कि सैकड़ों वर्षों तक प्राचीन भारतीय जीवन उनसे प्रभावित रहा, तथा आज भी उनके प्रभाव को हिन्दुओं के सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में देख सकते हैं।

२

साहित्य

साहित्यिक विकास

वैदिक साहित्य के मंत्र, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि विभिन्न अङ्गों का साहित्यिक दृष्टि से अध्ययन करने पर वैदिक युग के साहित्यिक विकास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। भाषा व साहित्य दोनों की दृष्टि से वैदिक साहित्य का अध्ययन महत्त्वपूर्ण है। तुलनात्मक भाषाशास्त्र के विद्वान् भलीभाँति जानते हैं कि प्राचीन आर्यभाषा परिवार में वैदिक भाषा का स्थान कितना महत्त्वपूर्ण है। निरुक्त, व्याकरण आदि के नियमों से भाषा को सारस्य व प्रौढ़ता प्राप्त हुई थी। यह भाषा जिस वर्णमाला के आधार पर विकसित हुई थी, वह वर्णमाला भी पूर्णतया वैज्ञानिक थी, जिसका विवेचन महान् वैयाकरण

पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी के प्रारम्भ में किया है। विश्व की किसी भी भाषा की वर्णमाला—चाहे वह भाषा प्राचीन हो या अर्वाचीन-उतनी वैज्ञानिक नहीं है। इस विकसित भाषा के द्वारा वैदिक आर्यों ने जीवनसम्बन्धी अपने उत्कृष्ट-अनुभव, विचार, तथा अपनी परिपक्व भावनायें साहित्य के रूप में उपस्थित कीं। इस प्रकार जिस साहित्य का सर्जन हुआ, उसने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को स्पर्श किया। ऋग्वेदादि संहिताओं के आलोचनात्मक अध्ययन से हमें यह भी ज्ञात होता है कि वैदिक युग में साहित्य के विभिन्न रूप भी वर्तमान थे, जैसे गद्य, पद्य व नाटक। इन तीनों में पद्य सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था। वैदिक साहित्य का अधिकांश भाग पद्य में ही है। गद्य के सर्वप्रथम दर्शन हमें यजुर्वेद व ब्राह्मण साहित्य में होते हैं। नाटक का प्रत्यक्ष उल्लेख तो वैदिक साहित्य में नहीं आता, किन्तु विद्वानों का मत है कि वैदिक यज्ञों का क्रिया-कलाप नाटकीय तत्त्वों से परिपूर्ण था; अतएव उसके वर्णन ने नाटकीय साहित्य की रचना के लिये प्रेरणा प्रदान की। ऋग्वेद के संवाद-सूक्त वैदिक अविकसित नाटकीय साहित्य के अङ्ग माने जाते हैं। इस युग में काव्य अधिकांश पद्य से ही सम्बन्धित था।

गद्य

प्राचीन भारतीयों को गद्य से अधिक प्रेम न था। उनका अधिकांश साहित्य, यहाँ तक कि व्याकरण, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि से सम्बन्धित साहित्य भी पद्यमय ही है। प्राचीन गद्य का इतिहास यजुर्वेद के गद्यांशों से प्रारम्भ होता है।[1] यथार्थ में, यजुर्वेद में जो गद्यांश है उसको साहित्यिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि साहित्य में जो कल्पना की उड़ान, भाषा की प्राञ्जलता तथा उसका लालित्य, सौष्ठव आदि आवश्यकीय हैं, वे उसमें नहीं हैं। यजुर्वेद का गद्य भाग तो यज्ञ की दृष्टि से लिखा गया है, यज्ञ से सम्बन्धित किसी तथ्य को गद्य द्वारा शास्त्रीय ढङ्ग पर समझाने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार के वर्णन में शुष्क गद्य का प्रयोग किया गया है, जैसा कि निम्नाङ्कित उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है।

"अपां त्वेमन्त्सादयाम्यपां त्वोद्मन् सादयाम्यपान्त्वा भस्मन् सादयाम्यपान्त्वा ज्योतिषि सादयाम्यपां त्वायने सादयाम्यर्णवे त्वा

[1] मैकडानेल–संस्कृत लिटरैचर पृ० १७७

सदने सादयामि समुद्रे त्वा सदने सादयामि । सरिरे सदने सादयाम्यपा त्वा क्षये सादयाम्यपान्त्वा सधिषि सादयाम्यपां त्वा सदने सादयाम्यपां त्वा सधस्थे सादयाम्यपा त्वा योनौ सादयाम्यपां त्वा पुरीषे सादयाम्यपां त्वा पाथसि सादयामि गायत्रेण त्वा छन्दसा सादयामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि जागतेन त्वा छन्दसा सादयाम्यानुष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि पाङ्क्तेन त्वा छन्दसा सादयामि ॥"[1]

उपरोक्त गद्यांश का वर्णित विषय "आप" (जल) है। यज्ञ के कर्मकाण्ड के समय ऋत्विक् पवित्र जल को विभिन्न स्थानों में स्थापित करता है तथा ऐसा करते समय त्रिष्टुप, अनुष्टुप्, जगती, पंक्ति आदि वैदिक छन्दों का उच्चारण करता है। इस क्रिया कलाप को समझाने के लिये एक ही कर्म व एक ही क्रिया को कितनी ही बार दुहराया गया है। यह शैली यज्ञ के कर्मकाण्ड में भले ही उचित प्रतीत होवे, किन्तु साहित्यिक गद्यशैली में इस प्रकार का शब्द विन्यास बिलकुल असामञ्जस्य प्रतीत होता है।

यजुर्वेद के पश्चात् ब्राह्मण साहित्य में प्राचीन गद्य के नमूने प्राप्त होते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसके विकास का स्पष्ट पता लगता है। सब ब्राह्मण ग्रन्थ गद्य में ही लिखे गये हैं। इनके आलोचनात्मक अध्ययन से मालूम होता है कि ब्राह्मण काल में गद्य के भिन्न भिन्न अङ्गों का विकास हो गया था। किन्तु वह गद्य आलंकारिकों का काव्यमय गद्य नहीं है। उसमें किसी रसविशेष का अस्तित्व नहीं है।

यज्ञ के क्रिया कलाप में संहिता के मन्त्रों का विनियोग कैसा होना चाहिये इस पर ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रकाश डाला गया है। इसलिये कुछ विद्वान् उन ग्रन्थों को वैदिक मन्त्रों का भाष्य भी मानते हैं। उनमें वर्णित विषय को तीन विभागों में विभाजित किया जा सकता है।

(१) *विधि*—इसमें यज्ञ करने की विधि, यज्ञवेदि बनाने का तरीका व यज्ञ के लिये अन्य आवश्यकीय बातों का वर्णन किया गया है।

(२) *अर्थवाद*—इसमें यज्ञ के महत्त्व व फल को उदाहरणों द्वारा समझाया गया है। इसके अन्तर्गत प्राचीन काल के कितने ही यज्ञ

[1] यजु० १३।५३

करने वाले राजाओं का वर्णन आता है, जिससे तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक आदि जीवन का अच्छा दिग्दर्शन होता है।

(३) *उपनिषद्*—इसमें यज्ञ व तत्सम्बन्धी कितनी ही बातों पर दार्शनिक ढङ्ग पर विचार किया किया गया है। यज्ञ के कर्मकाण्ड को दार्शनिक विचारसरणी की सहायता से प्रतीक के रूप में समझाने का प्रयत्न किया गया है।

यद्यपि ब्राह्मण-ग्रन्थों का गद्य आलंकारिकों का काव्यमय गद्य नहीं है, तथापि वह यजुर्वेद का शुष्क व नीरस शब्द विन्यास भी नहीं है। उसमें प्रभावोत्पादक छोटे छोटे वाक्यों द्वारा प्रतिपाद्यविषय को समझाया गया है। निम्नाङ्कित उदाहरण से ब्राह्मण-साहित्य के गद्य का साहित्यिक महत्त्व समझ में आ जायगा।

"हरिश्चन्द्रो ह वैधस ऐक्ष्वाको राजापुत्र आस। तस्य ह शतं जाया बभूवु। तासु पुत्रं न लेभे। तस्य ह पर्वतनारदो गृह ऊषतु। स ह नारदं पप्रच्छ।—"

"यन्न्विमं पुत्रमिच्छन्ति ये विजानन्ति ये च न।
किंस्वित्पुत्रेण विंदते तन्म आचक्ष्व नारद॥"

"इति स एकया पृष्टो दशभिः प्रत्युवाच॥"[1]

उपरोक्त उद्धरण शौन शेप आख्यान में से लिया गया है। राजा हरिश्चन्द्र का परिचय कितने रोचक व प्रभावोत्पदक ढङ्ग से छोटे-छोटे वाक्यों की सरल भाषा में दिया गया है। यह आख्यान वेद-कालीन लौकिक कथा साहित्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। गद्यांश के बीच में कहीं कहीं अधिक प्रभाव उत्पन्न करने के विचार से पद्यांश को भी रख दिया गया है, जिससे आख्यान का साहित्यिक सौन्दर्य्य अधिक बढ़ जाता है। उक्त गद्यांश की शब्दावली कितनी सरल है। संस्कृत भाषा का साधारण विद्यार्थी भी उसे सरलता से समझ सकता है। व्याकरण की दृष्टि से भी उक्त शब्दविन्यास में कोई क्लिष्टता नहीं है। उक्त आख्यान को आलोचनात्मक दृष्टि से पढ़ने से स्पष्ट होता है कि वह वैदिककाल के अत्यन्त ही लोकप्रिय साहित्य का उत्कृष्ट नमूना है, जो पारम्परिक रूप से कितने ही वर्षों से जनता में प्रचलित था। बाद के पञ्चतन्त्र, हितोपदेश आदि के साहित्य ने इसी से प्रेरणा

---

[1] ऐतरेयब्राह्मण ७।३

प्राप्त की होगी, ऐसा प्रतीत होता है। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों के आख्यानों का साहित्यिक महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।

उपनिषद् ग्रन्थ भी वैदिक साहित्य का ही अङ्ग माने जाते हैं। वे गद्य व पद्य दोनों में हैं। उपनिषदों का गद्यांश साहित्यिक गद्य नहीं कहा जा सकता, उसे शास्त्रीय गद्य कह सकते हैं। गुरु जिस प्रकार अपने शिष्य को कोई गूढ़ विषय समझाता है, किसी मुद्दे को अलग-अलग ढङ्ग से हृदयङ्गम कराता है, उसी प्रकार उपनिषदों के गद्य में भी किया गया है। ऐसा करते समय क्लिष्ट शब्दावली का आश्रय भी लिया गया है। निम्नाङ्कित उदाहरण[1] से उपनिषदों के गद्य का स्वरूप समझ में आ जायगा।

"तमशनायापिपासे अब्रूतामावाभ्यामभिप्रजानीहीति। ते अब्रवीदेतास्वेव वां देवतास्वाभजाम्येतासु भगिन्यौ करोमीति। तस्मा-द्यस्यैकस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते भागिन्यावेवास्यामशनायापिपासे भवत. ॥"

उपरोक्त गद्यांश मे भूख-प्यास व परमात्मा के मध्य वार्तालाप वर्णित है। इसमें दर्शाया गया है कि परमात्मा ने देवताओं के हविर्भाग में भूख प्यास को भी हिस्सा दिया। उक्त गद्यांश में क्लिष्ट शब्द-विन्यास का प्रयोग किया गया है; समास, सन्धि आदि का भी फायदा उठाया गया है। गूढ़ व गम्भीर विषय के प्रतिपादन के लिये समास, सन्धि व व्याकरण के नियमों से जकड़ी हुई भाषा का प्रयोग उपयुक्त ही मानना चाहिये।

उपनिषदों में आवश्यकतानुसार सरल से सरल शब्दविन्यास का भी प्रयोग किया गया है। निम्नाङ्कित उद्धरण[2] से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

"वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मंचर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदि-तव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृ-देवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव।"

[1] ऐतरेयोपनिषद् १।२।५

[2] तैत्तिरीयोपनिषद् १।११

उपरोक्त गद्यांश में वेदाध्ययन की समाप्ति पर आचार्य अन्तेवासियों को जो बहुमूल्य उपदेश देता था, उसका कुछ भाग निहित है। कदाचित् ही किसी और भाषा में इतने बहुमूल्य उपदेशरत्न इतनी सरल व प्रभावकारी भाषा में भर दिये गये हों। उपरोक्त गद्यांश को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है, मानो आर्यसंस्कृति से ओतप्रोत तपस्या व संस्कारों की मूर्ति किसी आचार्य ने अपना हृदय ही अपने अन्तेवासियों के सामने उँडेल दिया है। उक्त उपदेश के "सत्यं वद" "धर्मं चर," "स्वाध्यायान्मा प्रमदः" "मातृदेवो भव," "पितृदेवो भव," "आचार्यदेवो भव" आदि वाक्य तो विश्व साहित्य में सुवर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य हैं, तथा देशकाल से अबाधित हैं।

उपरोक्त गद्यांशों को आलोचनात्मक दृष्टि से पढ़ने से ज्ञात होगा कि वैदिक युग में गद्य साहित्य का बहुमुखी विकास हुआ था। समाज के विद्वज्जनों ने गद्य की विभिन्न शैलियों पर इतना अधिकार पा लिया था कि वे आवश्यकतानुसार क्लिष्ट से क्लिष्ट व सरल से सरल शैली का प्रयोग कर सकते थे। व्याकरण, सन्धि, समास आदि के नियमों ने भाषा को प्रौढ़ता प्रदान की थी, जिससे कि गम्भीर से गम्भीर विचारों का भी प्रतिपादन उसके द्वारा किया जा सकता था।

पद्य काव्य

वैदिक साहित्य का मंत्रभाग पद्यमय है, और इसी पद्यांश में उत्कृष्ट काव्य के दर्शन होते हैं। वैदिक ऋषियों ने दैवी प्रेरणा से प्रेरित होकर विभिन्न देवताओं का वर्णन करते समय अपने हृदय के भावों को मंत्रों में भर दिया है। ऋषियों ने देवताओं का बड़ा सजीव चित्रण किया है। ऋग्वेद के देवता दैवीशक्तियुक्त मानव प्रतीत होते हैं, जिनके जीवन का परम लक्ष्य मानव-कल्याण है। वे अपना ऐश्वर्य प्रकट करने के लिये सुवर्ण के चमकीले रथों में इधर-उधर घूमते हैं व मनुष्य को उसके सुख-दुःख में सहायता करते हैं। वे अपने भक्तों के शत्रुओं को युद्ध में विभिन्न हथियारों की सहायता से पराजित करते हैं। वे मनुष्यों के समान गार्हस्थ्य-जीवन भी व्यतीत करते हैं।

(उत्कृष्ट काव्य के उदाहरण तो हमें उषासूक्तों में प्राप्त होते हैं। वैदिक ऋषियों ने काव्यमय भाषा में उषा का वर्णन किया है। उषा

उषःकाल की देवी है। वह देदीप्यमान वस्त्र धारण कर पूर्व दिशा में एक नर्तकी के रूप में दिखाई देती है। वह अन्धकार को भगाती है, तथा रात्रि के काले वस्त्र को हटाती है। वह पुराणी (वृद्धा) रहते हुए भी युवा है। उसकी चमकीली किरणें गायों के झुन्डों के समान प्रतीत होती हैं। उषा को सूर्य्य की माता कहकर देदीप्यमान बालक को लेकर आती हुई वर्णित किया गया है।

उषा के अतिरिक्त अन्य देवताओं के वर्णन में भी काव्य की कमी नहीं है। इन्द्र के लिये कहा गया है कि वह सोम पीकर मरुतों को साथ लेकर वृत्र या अहि पर आक्रमण करता है। जब घनघोर युद्ध होता है, तब पृथ्वी व आकाश काँपने लगते हैं। इन्द्रवृत्र युद्ध के रूप में बादलों का भयङ्कर गर्जन बिजली की चमक व गड़गड़ाहट तथा इन सब के परिणामस्वरूप घनघोर वर्षा का गिरना आदि का सुन्दर व काव्यमय चित्रण किया गया है। वरुण की कल्पना एक राजा या सम्राट् के रूप में की गई है। वह अपने भव्य प्रासाद में बैठकर मनुष्यों के कर्मों का निरीक्षण करता है। उसके गुप्तचर उसके आसपास बैठकर दोनों लोकों का अवलोकन करते हैं। सूर्य उसका सोने के पङ्खवाला दूत है। विष्णु के लिये कहा गया है कि वह अपने तीन पदों में पूरे आकाश व पृथ्वी को नाप लेता है। यहाँ आलंकारिक भाषा में सूर्य्य के समूचे आकाश में भ्रमण करने का वर्णन किया गया है। पूषा को एक डाढ़ीजटावाले व्यक्ति के रूप में वर्णित किया गया है, जो सोने का भाला, चाबुक आदि लेकर बकरे जुते हुए रथ में बैठता है, तथा आकाश व पृथ्वी में दूर-दूर तक जाता है। अग्नि को द्यावापृथिवी का पुत्र कहा गया है। वह शुष्क काष्ठ से उत्पन्न होता है और उत्पन्न होते ही अपने पिता का भक्षण करता है। उसकी पीठ घृत की बनी है व बाल ज्वालाओं के हैं, तथा दाँत सुवर्ण के हैं। लकड़ी या घी उसका भोजन है। वह दिन में तीन बार भोजन करता है। जब वह जंगलों पर आक्रमण करता है व डाढ़ी बनानेवाले नाई के समान पृथ्वी की हजामत करता है, तब उसका मार्ग काला रहता है।

निम्नाङ्कित उदाहरणों से ऋग्वेद के उत्कृष्ट काव्य की कल्पना सहज ही में की जा सकती है।

"इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागाच्चित्रः प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा।

यथा प्रसूता सवितु सवार्य एव रात्र्युषसे योनिमारैक् ॥"[1]

(यह ज्योतियों में श्रेष्ठ ज्योति आई है, प्रकाश की पताका उत्पन्न हुई है। सविता के सव से प्रेरित किये जाने पर रात्रि उषा को स्थान देती है।)

"समानो अध्वा स्वस्त्रोरनन्तस्तमन्यान्या चरतो देवशिष्टे।
न मेथेते न तस्थतु सुमेके नक्तोषासा समनसा विरूपे ॥[2]

(दोनों बहिनों (रात व दिन) का मार्ग एक ही है, जो अनन्त है। देवता द्वारा अनुशासित होकर वे एक के बाद एक उस मार्ग पर चलती है। अलग अलग रूप की होते हुए भी सुन्दर तथा एक से विचारवाली रात्रि व उषा न कभी झगडती हैं, और न कभी रुकती है।)

"एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि व्युच्छन्ती युवति शुक्र वासा।
विश्वस्येशाना पार्थिवस्य वस्व उषा अद्येह सुभगे व्युच्छ ॥[3]

(यह आकाश की दुहिता हमारे सामने प्रकट हुई है। यह युवती अपने शुभ्र वस्त्रों में चमक रही है। हे समस्त पार्थिव द्रव्य की शासिका व सौभाग्यशाली उषा यहां प्रकाशित होओ।)

उपरोक्त उद्धरणों में जो उषा का वर्णन है, वह यथार्थ में उत्कृष्ट काव्य का नमूना है। रात्रि व उषा का बहिनों के रूप में वर्णन तथा उनका नियमपूर्वक चलना कभी न लडना व एक से विचार रखना यथार्थ में पाठक के मन को प्रभावित करता है।

निम्नाङ्कित उद्धरण[4] में सूर्योदय का वर्णन किया गया है —

"चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। आप्रा द्यावापृथिवीमन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥"

(देवताओं का देदीप्यमान मुख, मित्र वरुण व अग्नि की आँख प्रकट हुई है। स्थावर व जङ्गम की आत्मा सूर्य द्यावापृथिवी व आकाश में फैल गया है।)

उपरोक्त उद्धरण में उदित होते हुए सूर्य्य के लिये देवताओं के सुन्दर मुख या मित्र, वरुण, इन्द्रादि की आँख की कल्पना बड़ी सुन्दर

---

[1] ऋग्वेद १।११३।१

[2] ऋ० १।११३।३

[3] ऋ० १।११३।७

[4] ऋ० १।११५।१

प्रतीत होती है। नीचे के मंत्र[1] में उषःकाल के पश्चात् सूर्य्य के आगमन की तुलना एक युवक का युवती का पीछा करने से की गई है, जो कि अत्यन्त ही सुन्दर व मार्मिक है।

"सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्।"

(जिस प्रकार एक युवक एक युवती का पीछा करता है, उसी प्रकार सूर्य सुन्दर उषा देवी के पीछे-पीछे आता है।)

निम्नाङ्कित मन्त्रों में रात्रि का काव्यमय वर्णन किया गया है:-

"रात्री व्यख्यदायती पुरुत्रा देव्यक्षभिः। विश्वा अधिश्रियोऽधित।"[2]

(विस्तार पानेवाली रात्रि देवी अपनी बहुतसी सुन्दर आँखों से प्रकाशित हो रही है। उसने सम्पूर्ण सौन्दर्य धारण कर लिया है।)

"निरु स्वसारमस्कृतोषसं देव्यायती। अपेदु हासते तमः॥"[3]

(रात्रि देवी ने अपनी बहिन उषा का स्वागत किया, अन्धकार दूर भाग गया।)

"सा नो अद्य यस्या वयं नि ते यामन्नविक्ष्महि। वृक्षे न वसतिं वयः॥"[4]

("आज यह वही रात्रि है, जिसके आगमन पर हम अपने गृहों में प्रवेश करते हैं, जिस प्रकार पक्षी वृक्ष पर स्थित अपने घोंसले में प्रवेश करता है।")

"नि ग्रामासो अविक्षत नि पद्वन्तो नि पक्षिणः। नि श्येनासश्चिदर्थिनः॥"[5]

(गांव, चौपाये, पक्षी आदि सब पूर्णतया निस्तब्ध हो गये हैं। भूखा बाज पक्षी भी निस्तब्ध है।")

ऋग्वेद[6] में अरण्यानी (वन) का वर्णन काव्यमय भाषा में किया गया है, जिसका भावार्थ निम्नाङ्कित है:—

"हे अरण्यानी (वनदेवी) तुम देखते देखते ही दृष्टि से ओझल हो जाती हो। तुम गांव के मार्ग पर क्यों नहीं जाती? क्या तुम एकाकी रहने में भयभीत नहीं होती? कोई जन्तु बैल के समान शब्द

---

[1] ऋ० १।११५।२

[2] ऋग्वेद १०।१२७।१

[3] ऋ० १०।१२७।३

[4] ऋ० १०।१२७।४

[5] ऋ० १०।१२७।५

[6] ऋ० १०।१४६।१-६,

करता है और कोई 'चीं' करता हुआ ही उसका उत्तर देता है, उस समय लगता है कि वे वीणा के प्रत्येक स्वर को निकालते हुए अरण्यानी का यश-गान करते हैं। इस जंगल में कहीं गौएँ चरती हुई जान पड़ती हैं, और कहीं लता-गुल्म आदि से निर्मित कुटीर दिखाई देती है। ऐसा भी लगता है कि सायंकाल में वनमार्ग से अनेक शकट निकल रहे हों। अरण्यानी में निवास करनेवाला व्यक्ति रात्रि में शब्द सुनता है और दूसरा पुरुष वृक्ष से काष्ठ को काटता है।" अन्त में कहा गया है—

"आञ्जनगन्धिं सुरभिं बह्वन्नामकृषीवलाम्। प्राहं मृगाणां मातरमरण्यानिमशंसिषम्॥"[1]

(मैंने मृगों की माता अरण्यानी की स्तुति की है, जो सुवासित अञ्जन से युक्त है, जो सुगन्धि से परिपूर्ण है, और जो, उसमें कृषि न होते हुए भी भोजन सामग्री से परिपूर्ण है)।"

उपरोक्त वर्णन में भी उत्कृष्ट काव्य के दर्शन होते हैं। निम्नाङ्कित मंत्र में पर्जन्य का सुंदर वर्णन किया गया है:—

"रथीव कशयाश्वाँ अभिक्षिपन्नाविर्दूतान्कृणुते वर्ष्याँ अह।
"दूरात्सिंहस्य स्तनथा उदीरते यत्पर्जन्यः कृणुते वर्ष्यं नभः॥"[2]

(जिस प्रकार रथ चलानेवाला अपने घोड़ों को चाबुक से आगे बढ़ाता है, उसी प्रकार वह (पर्जन्य) वर्षा के दूतों को आगे प्रेरित करता है। जब पर्जन्य आकाश को वर्षा से आच्छादित कर देता है है, तब दूर से सिंह के गर्जन जैसा शब्द सुनाई देता है।)

ऋग्वेद के मण्डूकसूक्त में मेंढकों का बड़ा ही हास्यरसपूर्ण वर्णन किया गया है, जिसके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं:—

"संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः।
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः॥"[3]

(व्रतचारी ब्राह्मणों के समान वर्ष भर ध्यानावस्थित रहकर पर्जन्य को प्रेरित करनेवाली वाणी मेंढकों ने उच्चारित की है।)

"यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः।
सर्वं तदेषां समृधेव पर्व यत्सुवाचो वदथनाध्यप्सु॥"[4]

---

[1] ऋ० १०।१४६।६
[2] ऋ० ५।८३।३;
[3] ऋ० ७।१०३।१–१०
[4] ऋ० ७।१०३।५;

(एक मेंढक दूसरे मेंढक के शब्द को दुहराता है, जिस प्रकार विद्यार्थी अपने शिक्षक के वचनों को दुहराता है। ये मेंढक जल में सुवाचा से युक्त होकर जो शब्द कर रहे हैं, वह सब उनके आनन्द का सूचक है।)

ऋग्वेद के उर्वशीपुरूरवा-संवाद[1] में एक निराश प्रेमी तथा निर्घृण-हृदया प्रेमिका के भावों का सुन्दर चित्रण किया गया है, जिसका कुछ अंश इस प्रकार है :—

"हे निर्दय नारी! तुम अपने मन को अनुरागी बनाओ। हम शीघ्र ही परस्पर वार्तालाप करें। यदि हम इस समय मौन रहेंगे, तो आगामी दिवसों में सुखी नहीं होंगे।" "हे पुरूरवा! वार्तालाप से कोई लाभ नहीं। मैं वायु के समान ही दुष्प्राप्य नारी हूँ। उषा के समान तुम्हारे पास आई हूँ। तुम अपने गृह को लौट जाओ।" "हे उर्वशी! मैं तुम्हारे वियोग में इतना सन्तप्त हूँ कि अपने तरकस से बाण निकालने में भी असमर्थ हो रहा हूँ। इस कारण मैं युद्ध में जय-लाभ करके असीमित गौओं को नहीं ला सकता। मैं राजकार्यों से विमुख हो गया हूँ, इसलिये मेरे सैनिक भी कार्यहीन हो गये हैं।" "हे पुरूरवा! मुझे किसी सपत्नी से प्रतिस्पर्धा नहीं थी, क्योंकि मैं तुम से हर प्रकार सन्तुष्ट थी। जब से मैं तुम्हारे घर में आई, तभी से तुमने मेरे सुखों का विधान किया।" "हे उर्वशी! तुम्हारा पुत्र मेरे पास किस प्रकार रहेगा? वह मेरे पास आकर रोवेगा। पारस्परिक प्रेम के बन्धन को कौन सद्गृहस्थ तोड़ना स्वीकार करेगा?" "हे पुरूरवा! मेरा उत्तर सुनो। मेरा पुत्र तुम्हारे पास आकर रोवेगा नहीं। मैं उसकी सदा मंगल-कामना करूंगी। तुम अब मुझे नहीं पा सकोगे, अतः अपने घर को लौट जाओ। मैं तुम्हारे पुत्र को तुम्हारे पास भेज दूंगी।" "हे उर्वशी! मैं तुम्हारा पति आज पृथ्वी पर गिर पड़ा हूँ, मैं फिर कभी न उठ सकूँगा। मैं दुर्गति के बन्धन में पड़कर मृत्यु को प्राप्त होऊं और वृकादि मेरे शरीर का भक्षण करें।"

यह निर्विवाद है कि उपरोक्त संवाद में उत्कृष्ट काव्य ओत-प्रोत है। उसके निम्नाङ्कित शब्द तो अत्यन्त ही मार्मिक हैं।

"न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता।"[2]

---

[1] ऋ० १०।९५।१-१८

[2] ऋ० १०।९५।१५

("स्त्रियों का प्रेम यथार्थ प्रेम नहीं है, उनके हृदय भेड़ियों के हृदय के समान होते हैं।")

उपरोक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक आर्यों ने काव्य को अच्छी तरह से विकसित किया था। वे हृदय के विभिन्न भावों को काव्य का रूप देकर श्रृङ्गार, भयानक, शान्त, हास्य आदि रसों का सफलतापूर्वक निर्माण कर सकते थे।

बाह्य स्वरूप की दृष्टि से वैदिक मन्त्रों को तीन विभागों में विभाजित किया जा सकता है, यथा ऋक्, यजु व सामन्। इस विभाजन का सम्बन्ध यज्ञ के कर्मकाण्ड से था। ऋक् मन्त्र होता द्वारा, यजु अध्वर्यु द्वारा व सामन् उद्गाता द्वारा उच्चारित किये जाते थे। इस विभाजन का मंत्रों के साहित्यिक स्वरूप पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता था।

वेदाङ्ग-साहित्य

बहुत समय बीतने पर जब वैदिक साहित्य की भाषा जटिल प्रतीत होने लगी, तब उसको भली भांति समझने में सहायता देने के लिये सूत्र भाषा में एक नया साहित्य तैयार किया गया, जिसका नाम वेदाङ्ग रखा गया। ये वेदाङ्ग छः हैं, जैसे शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त कल्प तथा ज्योतिष। प्रथम चार वेदमन्त्रों के शुद्ध उच्चारण व शुद्ध अर्थ को समझने के लिये, तथा अन्तिम दो कर्मकाण्ड व धार्मिक कृत्य तथा एतदर्थ उपयुक्त समय को सूचित करने के लिये बनाये गये थे।

यद्यपि वेदाङ्ग साहित्य वैदिक संहिताओं व ब्राह्मणों के पश्चात् का है तथा सूत्र शैली में है, जो कि बहुत बाद में विकसित हुई, तथापि उसमें प्रतिपादित विषय व उससे सम्बन्धित सामग्री वैदिक सहित्य की समकालीन है, तथा उसके विकास में उक्त सामग्री से पर्याप्त सहायता मिली थी। अतएव वेदाङ्ग साहित्य के ज्ञान के बिना हमारा वैदिक साहित्य के विकास का अध्ययन अधूरा ही रहेगा। वेदाङ्ग-साहित्य की सहायता से वैदिक भाषा से सम्बन्धित व्याकरण के स्वरुप व उसके नियमों को हम समझ सकते हैं। इसी प्रकार छन्द आदि से भी हमें बहुत-सी बातें ज्ञात हो सकती हैं।

शिक्षा

शिक्षा का सम्बन्ध शब्दशास्त्र से है, जिसमें वर्ण व उनके उच्चारण से सम्बन्धित कितने ही नियम दिये गये हैं। तैत्तिरीय आर-

ण्यक'[1] में शिक्षा का उल्लेख आता है, जिसमें वर्ण, स्वर, मात्रा, उच्चारण व सन्धि के नियम दिये गये हैं। शिक्षा नाम के बहुत से ग्रन्थ आज उपलब्ध हैं, किन्तु वे बाद के हैं। शब्दशास्त्रसम्बन्धी अध्ययन का प्राचीनतम परिणाम मन्त्रभाग के संहितापाठ के रूप में दृष्टिगोचर होता है। विभिन्न वेदों के संहितापाठ का संकलन सन्धि के नियमों के अनुसार हुआ है। पदपाठ द्वारा इसी दिशा में एक कदम और आगे बढ़ाया गया है। इसके अनुसार सन्धि तथा समास का विग्रह करके मंत्रों के प्रत्येक शब्द को अपने मौलिक रूप में उपस्थित किया गया है। प्रातिशाख्य साहित्य ही यथार्थ में वैदिक शिक्षा का प्रतिनिधित्व करता है, जिसका संहितापाठ, पदपाठ आदि से सीधा सम्बन्ध है। उसमें संहितापाठ व पदपाठ के पारस्परिक सम्बन्ध को समझाया गया है, तथा वैदिक सन्धि के नियम तथा वैदिक स्वरों का विवेचन किया गया है। ये प्रतिशाख्य पाणिनि के पूर्व के हैं, क्योंकि वह इनसे परिचित था। किन्तु पाणिनि ने जिस प्रातिशाख्य साहित्य का उपयोग किया था, वह आधुनिक प्रातिशाख्य का प्राचीन रूप था। ऋग्वेद, अथर्ववेद, वाजसनेयी तथा तैत्तिरीय संहिता के प्रातिशाख्य उपलब्ध हैं।

छन्द

ब्राह्मण साहित्य में यत्र-तत्र छन्दशास्त्र को उल्लिखित किया गया है, किन्तु शाङ्खायन श्रौतसूत्र,[2] ऋग्वेद प्रातिशाख्य[3] व सामवेद से सम्बन्धित निदानसूत्र में इस शास्त्र का स्पष्ट व व्यवस्थित वर्णन किया गया है। पिङ्गल के छन्दसूत्र के एक भाग में भी वैदिक छन्दों का वर्णन आता है। उक्त सूत्रग्रन्थ वेदाङ्ग कहलाने का दावा करता है, किन्तु उसका अधिकांश भाग वेदों के पश्चात् के छन्दों से सम्बन्धित है।

वैदिक साहित्य के पद्यभाग के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक ऋषियों ने विभिन्न छन्दों का प्रयोग किया है, और यह सम्भव है कि उस समय में छन्दशास्त्र का भी विकास किया

---

[1] ७।१; मैकडानेल–संस्कृत लिटरेचर, पृ० २६५

[2] ७।२७;

[3] अन्तिम तीन पटल,

गया था। वैदिक छन्दों में सात मुख्य हैं, जिनको वैदिक संहिताओं में प्रयुक्त किया गया है। वे सात छन्द इस प्रकार हैं—गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, वृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् व जगती। पदों के कम-अधिक रहने पर इन छन्दों के कितने ही भेद-उपभेद किये गये हैं, जैसे साम्नी, आर्ची, प्राजापत्य, दैवी, याजुषी, आसुरी, ब्राह्मी, आर्षी आदि। इस प्रकार वैदिक युग में बहुत से छन्द विकसित किये गये थे। इन छन्दों के नामों पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाय तो छन्दों की उत्पत्ति व वेदकालीन साहित्य के विकास पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। उष्णिक्, अनुष्टुप् आदि छन्दों के विभेदों के नाम सामन्, ऋक्, यजुष्, प्रजापति, देव, असुर, ब्रह्म, ऋषि आदि से सम्बन्धित हैं। इन सबों का वेदकालीन सांस्कृतिक जीवन में कितना महत्त्वपूर्ण स्थान था, यह तो निर्विवाद है। तत्कालीन साहित्यिक विकास से भी उनका घनिष्ट सम्बन्ध रहा होगा। यही कारण है कि उनके नामों के आधार पर छन्दों के विभिन्न भेदों के नाम रखे गये।

व्याकरण

वैदिक पदपाठों के आलोचनात्मक अध्ययन से वैदिक युग में व्याकरण सम्बन्धी ज्ञान के विकास का पता लगता है।[1] उच्चारण व सन्धि के नियम, नाम, सर्वनाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात आदि से सम्बन्धित ज्ञान से तत्कालीन व्याकरणशास्त्र के स्वरूप का बोध होता है। ब्राह्मण साहित्य में भी वर्ण, वृषन्, वचन, विभक्ति आदि व्याकरण के पारिभाषिक नामों का उल्लेख आता है। ऐसे कितने ही शब्द आरण्यक, उपनिषद्, सूत्र आदि साहित्य में भी पाये जाते हैं। संस्कृत भाषा के वैयाकरणों में पाणिनि का स्थान सब से ऊँचा व महत्त्व का है। उसकी अष्टाध्यायी में "वैदिकी प्रक्रिया" का अध्याय भी सम्मिलित किया गया है। यों तो पाणिनि को संस्कृत का सर्व-प्रथम व सब से बड़ा वैयाकरण माना जाता है, किन्तु उसके पहिले भी कितने ही बड़े-बड़े वैयाकरण हो चुके थे, जिनको अष्टाध्यायी व यास्क कृत निरुक्त में उल्लिखित किया गया है। इस प्रकार, वैदिक साहित्य के साथ साथ व्याकरण-शास्त्र भी विकसित किया गया था।

---

[1] मैक्डानेल—संस्कृत लिटरेचर, पृ० २६७

(निरुक्त

यास्ककृत निरुक्त यथार्थ में वैदिक भाष्य है। उसका आधार वैदिक शब्दकोष निघण्टु है। निघण्टु पांच अध्यायों में है, जिनमें संहिताओं के एकार्थसूचक संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि की सूचियाँ दी हैं, जिनसे वेदों को समझने में बड़ी सहायता मिलती है। इन सब वैदिक शब्दों को यास्क ने अपने निरुक्त में अच्छी तरह से समझाया है, तथा वेदमन्त्रों को उदाहरणरूप से उल्लिखित कर उनके अर्थ को निरुक्त की दृष्टि से समझाया है। यास्ककृत निरुक्त में बारह अध्याय हैं। इनमें नाम, आख्यात, उपसर्ग व निपात का शास्त्रीय ढङ्ग पर विवेचन किया गया है।)

ज्योतिष व कल्प

ज्योतिष-शास्त्र सम्बन्धी वेदाङ्ग का श्रेय लगध के छोटे से ज्योतिष ग्रन्थ को दिया जाता है। यह ग्रन्थ ज्योतिष की प्रारम्भिक व अविकसित अवस्था का सूचक है। किन्तु वैदिक काल में इस शास्त्र का विकास किया गया था। यज्ञ के समय आदि को निश्चित करने के लिये इसकी उपयोगिता थी। श्रौतादि सूत्रों को ही कल्प कहते थे। उनका सम्बन्ध यज्ञ करने की विधि से था, अतएव वेदकालीन साहित्यिक विकास में उनका महत्वपूर्ण स्थान नहीं था।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि वैदिक साहित्य के विकास के साथ साथ व्याकरण, निरुक्त, छन्दशास्त्र आदि से सम्बन्धित साहित्य भी विकसित हुआ था, जिसने वैदिक भाषा व साहित्य को परिष्कृत व परिमार्जित स्वरूप प्रदान किया।

नाटक की उत्पत्ति

नाटक की उत्पत्ति के बारे में विद्वानों में बहुत मतभेद है। कुछ विद्वानों के मतानुसार नाटक का प्रारम्भ वैदिक युग में हुआ था। किन्तु इस सम्बन्ध में निश्चित रूपसे कुछ भी नहीं कहा जा सकता। भरतमुनि के नाट्य शास्त्र[1] (ई० २०० के लगभग) में एक दन्तकथा वर्णित है, जिसके अनुसार नाटक का प्रारम्भ सत्ययुग के अन्त व द्वापर के प्रारम्भ में हुआ। ब्रह्मा ने जीवधारियोंके मनोरञ्जन व आनंद

[1] २।१-२०;

के लिये नाट्यवेद उत्पन्न किया तथा उसे भरतमुनि को दिया। ब्रह्मा ने चारों वेदों की सहायता से नाट्यवेद का निर्माण किया।[१] ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय व अथर्ववेद से रस ग्रहण किया व नाट्यवेद को जन्म दिया। इस प्रकार उपरोक्त दन्तकथा के अनुसार नाटक का प्रारम्भ वैदिक साहित्य से होता है।

(वैदिक साहित्य में नाटक के अस्तित्व का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त नहीं होता। किन्तु ऋग्वेद के संवाद-सूक्तों में कुछ नाटकीय तत्त्व अवश्य प्राप्त होते हैं।[२] इन संवाद-सूक्तों में दो व्यक्तियों के मध्य वार्तालाप का वर्णन है, जैसे यम-यमी.[३] पुरूरवाः उर्वशी[४]; नेम-भार्गव इन्द्र[५], अगस्त्य-लोपामुद्रा[६] व उनका पुत्र, इन्द्र-इन्द्राणी, सरमा-पणि[७] आदि। इन संवादों के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का मत है कि यज्ञ के समय ऋत्विक् संवादों के विभिन्न पात्रों का रूप धारण करके उनके वार्तालाप का उच्चारण करते थे।[८] गीत, नृत्य आदि अन्य नाटकीय तत्त्व भी वैदिक युग में वर्तमान थे।[९] इस प्रकार वैदिक युग में नाटक के लिये आवश्यकीय तत्त्व अस्तित्व में आ गये थे। इस आधार पर श्रोडर ने यह सिद्धान्त उपस्थित किया कि वेदयुगीन नृत्य, गीत, सामगान आदि के वातावरण में संवादादि में से नाटक का विकास हुआ। हर्टल के मतानुसार वेदों के मन्त्र गाये जाते थे, तथा संवाद एक प्रकार के अविकसित नाटक थे, जिनका अभिनय किया जाता था। वैदिक

---

[१] भरत–नाट्यशास्त्र १।१६–१८ : ''एवं संकल्प्य भगवान् सर्ववेदाननुस्मरन्। नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसंभवम्। जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च। यजुर्वेदादभिनयान् रसानथर्वणादपि॥ वेदोपवेदैः सम्बद्धो नाट्यवेदो महात्मना। एवं भगवता सृष्टो ब्रह्मणा ललितात्मकम्॥

[२] जर्नल ऑफ दी रॉयल एशियाटिक सोसायटी (लंदन), १९११, पृ० ९८१;

[३] ऋ० १०।१०;

[४] ऋ० १०।९५,

[५] ऋ० ८।१००,

[६] ऋ० १।१७९;

[७] ऋ० १०।१०८;

[८] सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट सीरीज, जि० ३२, पृ० १८२;

[९] ऋ० १।९२।४, अथर्व० १२।१।४१; दासगुप्त व डे–संस्कृत लिटरैचर जि० १, पृ० ६३१

यज्ञों का स्वरूप भी बहुत कुछ नाटकीय था। ये यज्ञ मूकभावों के प्रदर्शन के सुन्दर अवसर थे। होता, अध्वर्यु, उद्गाता आदि ऋत्विजों को अपने अपने काम पृथक्रूप से करने पड़ते थे। यज्ञवेदि बनाना, यज्ञ सामग्री आदि को व्यवस्थित रूप से सजाना आदि कार्य नाटक के अभिनय के समान ही रोचक बन जाते थे। कदाचित्, यह भी संभव है कि इन मूक अभिनयपूर्ण यज्ञों से सर्वप्रथम नाटक लिखने की प्रेरणा प्राप्त की गई हो।[1]

वैदिक युग की साहित्यिक प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में ऊपर जो कुछ लिखा है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वेदकालीन समाज में साहित्य के विकास को समुचित स्थान प्रदान किया गया था। भाषा को विभिन्न अलङ्कारों व छन्दों द्वारा लालित्य प्रदान करके तथा व्याकरण, निरुक्त आदि के नियमों से उसे व्यवस्थित तथा सौष्ठवयुक्त बनाकर वैदिक आर्यों ने गद्य, पद्य, संवाद आदि द्वारा अपने हृदय के भावों को व्यक्त करके उच्चकोटि के साहित्य का सर्जन किया था।

२

कला

कला व धर्म

भारत की विभिन्न कलाओं का इतिहास भी बहुत पुराना है, जिसका प्रारम्भ वैदिक युग से होता है। इन कलाओं के विकास पर धर्म का बड़ा भारी प्रभाव पड़ा है। कला का उपयोग धर्म के तत्त्वों को समझाने के लिये किया जाता था। वैदिक काल[2] ही से वास्तु-निर्माणकला, गीत, नृत्यादि का प्रारम्भ हो गया था। वैदिक साहित्य में कितने ही प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष प्रमाण हैं, जिनसे विभिन्न कलाओं के विकास का पता चलता है।

---

[1] कीथ—संस्कृत ड्रामा, पृ० २३-२४

[2] ऋ० १।१०३।३, २।२०।८, ३।१२।६, ४।३२।१०

वास्तुनिर्माण-कला

वेदकालीन समाज, जैसा कि वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है, पूर्णतया सुसंस्कृत था, व उसने जीवन को सुखी बनाने के लिये वास्तुनिर्माण कला का विकास किया था। ऋग्वेद[1] में कितने ही स्थलों पर पुर, व्रज आदि का उल्लेख आता है, जिससे तत्कालीन किलों का बोध होता है। ये किले मिट्टी के बनाये जाते थे या पत्थर के इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि इतने प्राचीन काल में भी किले बनाने की कला का विकास हुआ था। इसी प्रकार ऋग्वेद में तत्कालीन गृहों का भी उल्लेख आता है। वास्तोष्पति मन्त्रों[2] में गृह देवताओं की स्तुति की गई है। ऋग्वेद में गृह,[3] 'सद्म,'[4] प्रसद्म,[5] दीर्घप्रसद्म[6] आदि का उल्लेख आता है, जिससे स्पष्ट है कि वैदिक काल में छोटे से छोटे व बड़े से बडे घर बनाये जाते थे। ये घर लकडी, मिट्टी, या पत्थर, अथवा तीनों को मिलाकर बनाये जाते थे। वैदिक युग में घर बनाने की कला बहुत लोकप्रिय थी यह इससे भी सिद्ध होता है कि ऋग्वेद में साधारण घर के अर्थ में बाबीस शब्द प्रयुक्त हुए है, जैसा कि निघण्टु[7] में लिखा है। गृहसूचक बावीस नाम इस प्रकार है—गय, कृदर, गर्त, हर्म्य, अस्त, पस्त्य, दुरोण, नील, दुर्य, स्वसर, अमा, दम, कृत्ति, योनि, सद्म, शरण, वरुथ, छर्दि, छदि, छाया, शर्म व अज्म।

वास्तुनिर्माण कला के विकास से वैदिक आर्यों की भौतिक जीवन सम्बन्धी बहुत सी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती थी। धनाढ्य व निर्धन सब ही अपने साधनों के अनुसार रहने का आवास निर्माण कर अपने अपने कामों में लग जाते थे। बड़े बडे सर्दार व धनाढ्य लोग

---

[1] ऋग्वेद ५।६।७

[2] ऋग्वेद ७।५४।१-३, ७।५५।१

[3] ऋग्वेद ८।२२।३, ८।२६।१७, गय, वेश्म, हर्म्य आदि शब्द भी गृह के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। ऋ० ६।२।८, १।१२१।१, १०।१४६।३, ९।११।८ १।६१।९,

[4] ऋ० ७।१८।२२

[5] ऋ० ८।१०।१,

[6] ऋ० ८।१०।१

[7] निघण्टु ३।४,

पत्थर आदि से बने हुए बड़े-बड़े किलों में रहते थे। इन्द्र ने दिवोदास को पत्थर के सौ किले प्रदान किये थे।[1] धनाढ्य लोग काष्ठनिर्मित बड़े-बड़े प्रासादों में रहते थे, जो कभी कभी शत्रुओं द्वारा जला दिये जाते थे।[2] उन प्रासादों में बड़े-बड़े स्तम्भ रहते थे, जिनके आधार पर छत टिकी रहती थी। उनमें बहुत से दरवाजे भी रहते थे।[3] शम्बर के पास पत्थर के सौ किले थे जो इन्द्र ने उससे छीन लिये थे।[4] मित्र व वरुण के पास एक सहस्र खम्भोंवाला महल था, जिसमें अगणित द्रव्य भरा था।[5] लोहे के किले या नगरी का भी उल्लेख ऋग्वेद में आता है,[6] जहाँ इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि "हे अग्नि ! हमारी घृतयुक्त हव्य से उस प्रकार रक्षा करो, जिस प्रकार लोहे के अमित व महान् सौ किलों से होती है।" ऋग्वेद में एक स्थान पर[7] सरस्वती नदी को लोहे का किला कहा गया है।

पुर

ऋग्वेद में पुर कितने ही स्थलों पर उल्लिखित है, जिसका अर्थ साधारणतया किला होता है, जिसमें राजा, उसका परिवार व उसके सेवक रहते थे, व जो इतना मजबूत रहता था कि किसी भी आक्रमण का सामना कर सकता था।[8] उसमें राजा का सोना, चांदी रत्न, धान्य की बड़ी बड़ी कोठियां आदि भी रहती थीं। कभी कभी ये किले बहुत बड़े भी रहते थे, इसीलिये उन्हें "पृथ्वी" व "उर्वी" शब्दों से भी सम्बोधित किया गया है। इससे यह भी निष्कर्ष

---

[1] ऋग्वेद ४।३०।२० : "शतमश्म-मयीना पुरामिन्द्रो व्यास्यत् । दिवोदासाय दाशुषे ।"

[2] ऋ० ७।५।२

[3] ऋ० १०।९९।३

[4] ऋ० ४।३०।२०

[5] ऋ० २।४१।५; "राजानावनभिद्रुहा ध्रुवे सदस्युत्तमे । सहस्रस्थूण आसाते ॥" ५।६२।६ : सहस्रस्थूण विभृथः सहद्वौ ॥

[6] ऋ० ७।३।७

[7] ऋ० ७।९५।१ . "सरस्वती धरुणमायसी पूः"

[8] ऋ० १।५३।७, १।५८।८, १।१३१।४, १।१६६।८, ३।१५।४; ४।२७।१, ७।३।७ ७।१५।१४

निकाला जा सकता है कि ये पुर किलेबन्दीवाले नगरों के समान थे, जिसमें न केवल राजा व उसके परिवार के सदस्य रहते थे, किन्तु सामन्त, बड़े-बड़े व्यापारी आदि भी रहा करते थे।[१] ऐसे किले साधारणतया पत्थर के बने रहते थे,[२] तथा उनके अन्दर रहनेवाले लोगों का शत्रु, डाकू, आक्रमणकारी, अग्नि आदि से संरक्षण करते थे। "शारदी" किलों का भी उल्लेख आता है, जो कि दासों के थे, व जिनसे कदाचित् यह भाव निकलता है कि शरद ऋतु में आर्यों के आक्रमण से बचने के लिये अथवा नदियों के पूर से बचने के लिये दास लोग उन किलों का प्रयोग करते थे।[३]

ऋग्वेद[४] में सौ दीवालों (शतभुजी) से युक्त किलों का भी उल्लेख आता है। किलों की दीवालें कभी कभी लकड़ी की भी बनाई जाती थीं, जैसा कि दासों के किलों को जलाने के उल्लेख से स्पष्ट होता है।[५]

गृह

ऋग्वेद में गृह का उल्लेख एकवचन[६] व बहुवचन[७] दोनों में आता है, जिससे स्पष्ट होता है कि वैदिक आर्यों ने अपने रहने के लिये बहुत से मकान बनाये थे। गरीबों के मकान लकड़ी, घॉस, फूँस आदि के रहते थे। किन्तु अच्छी स्थिति के लोगों के मकान पत्थर के रहते थे। वसिष्ठ ने वरुण से प्रार्थना की है कि मुझे मिट्टी के घर में न रहना पड़े।[८] सतगु ऋषि ने इन्द्र से प्रार्थना की है कि "मुझे एक बहुत बड़ा मकान रहने को दो, जैसा कि किसी के पास न हो।"[९]

---

[१] ए सी दास—ऋग्वेदिक कल्चर, पृ० १८६, १८७, ऋ० १।१८९।२। "पूश्च पृथ्वी बहुला न उर्वी भवा तो काय तनयाय शं योः ॥",

[२] ऋ० २।३०।२०

[३] मैकडॉनिल व कीथ—वेदिक इन्डेक्स १।५३८

[४] १।१६६।८ "शतभुजिभिस्तमभिह्रुतेरघात्पूर्भी रक्षता मरुतो यमावत, ७।१५।१४; "पूर्भवा शतभुजि. ॥"

[५] ऋ० ७।५।३,६

[६] ऋ० ३।५३।६, ४।४९।६; ८।१०।१

[७] २।४२।३ ५।७०।४, १०।१८।१२ १०।८५।२६

[८] ऋ० ७।८९।१

[९] १०।४७।८ "यत्वा यामि दद्धि तन्न इन्द्र बृहन्तं क्षयमसमं जनानाम् ।"

दम शब्द भी घर के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है, और पस्त्या व हर्म्य से कदाचित् घर व उसके आस पास के छोटे मोटे आवासों का बोध होता है, जिनमें सम्पूर्ण परिवार व उससे सम्बन्धित व्यक्ति रहते थे। इस प्रकार के घरों में गाय, बैल, भेड़ आदि के रखने की भी व्यवस्था रहती थी।[1] ऐसे मकानों में बहुत से कमरे व उसके अहाते में बहुत सी झोपड़ियाँ रहती थीं।[2] दरवाजे (द्वार् या द्वार) का भी उल्लेख आता है, जिस पर से मकान को "दुरोण" भी कहते थे। प्रत्येक मकान में अग्नि प्रज्वलित रहती थी[3]।

मकान की बनावट आदि के बारे में ऋग्वेद से कुछ पता नहीं लगता, किन्तु अथर्ववेद द्वारा इस सम्बन्ध में कुछ बातें ज्ञात होती हैं।[4] मकान बनाने के लिये किसी अच्छे स्थान पर चार खम्भे (उपमित) और उन पर क्यालें (प्रतिमित) रखी जाती थीं। छतें बाँस की बनाई जाती थीं। दीवालों के अन्दर घास भरी जाती थी। मकान में विभिन्न कार्यों के लिये अलग अलग कमरे रहते थे, जैसे हविर्धान (हवन सामग्री रखने का कमरा), अग्निशाला (यज्ञाग्नि रखने का कमरा), "पत्नीनां सदन" (स्त्रियों के बैठने का कमरा, सदस् (बैठक)[5] आदि। प्रत्येक घर की दो बाजुएँ रहा करती थीं, जिन्हें पक्ष कहते थे, जो आधुनिक बरामदे के समान थे। बरामदे के खंभे लकड़ी के बने रहते थे, जिनपर मूर्तियाँ भी उत्कीर्ण रहती थीं। ऋग्वेद[6] में एक स्थान पर कहा गया है कि 'हे इन्द्र तुम्हारे घोड़े दौड़ते समय इस प्रकार प्रकाशित होते हैं, जैसे कि एक नये खम्भे पर दो छोटी छोटी लड़कियों की मूर्तियाँ। इस प्रकार उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि वैदिक युग के मकानों में साधारणतया एक बैठक का कमरा, जहाँ पुरुष वर्ग बैठकर वार्तालाप आदि करता था, एक सामान रखने का कमरा, एक स्त्रियों का कमरा तथा यज्ञाग्नि

---

[1] ऋ० ७।५६।६, १०।१०६।५

[2] ऋ० ७।८५।६

[3] मैकडनिल व कीथ-वेदिक इंडेक्स १।२२९, २३०

[4] ए० सी० दास ऋग्वेदिक कल्चर पृ० १८९

[5] वेदिक इंडेक्स १।२३०, २३१

[6] ऋ० ४।३२।२३, "कन्यीनकेव विद्रधे नवे द्रुपदे अर्भके। बभ्रू यामेषु शोभते ॥"

रखने का कमरा रहता था। इनके अतिरिक्त सोने के कमरे अलग रहते थे। मकान के अहाते में मवेशियों के बाँधने की व्यवस्था रहती थी। इनके अतिरिक्त कदाचित् एक कमरा और रहता था, जिसको "आवसथ" कहते थे, जहाँ पर यज्ञादि के अवसर पर ब्राह्मणों का स्वागत किया जाता था।[1]

ऋग्वेद में एक स्थान[2] पर शंयु वार्हस्पत्य इंद्र से प्रार्थना करते हैं कि "हे इन्द्र मुझे एक त्रिधातु व त्रिवरूथ (तीन खंभों वाला) मकान प्रदान करो, जो कि कल्याणकारी हो।" इस मंत्र में 'त्रिधातु' शब्द के अर्थ के विषय में बहुत मतभेद है। ग्रिफिथ के अनुसार त्रिधातु का शाब्दिक अर्थ लिया जाना चाहिये, अतएव त्रिधातु याने ईंट, पत्थर व लकड़ी का बना हुआ मकान। किन्तु सायण के अनुसार त्रिधातु का अर्थ त्रिभूमिकम् अर्थात् तीनमंजिला मकान होता है।[3] 'त्रिवरूथ' शब्द एक स्थान[4] पर और आया है, जहाँ विश्वेदेवा, से प्रार्थना की गई है कि हमें महान् त्रिवरूथ शर्म (घर) प्रदान करो। यहां 'त्रिवरूथ शर्म' का अर्थ साधारणतया तीन कमरेवाला मकान किया जाता है। सद्म,[5] प्रसद्म, दीर्घ प्रसद्म[6] आदि के उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि बहुत बड़े-बड़े मकान भी बनाये जाते थे, जिनकी तुलना गगनचुम्बी प्रासादों से की जा सकती है।

शिल्पकारी आदि कलाएँ

वास्तुनिर्माण कला के अतिरिक्त अन्य कलाओं का विकास भी वैदिक युग में हुआ था। वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस युग में रथ, हथियार, घरेलू बर्तन, विभिन्न आभूषण आदि का बहुत उपयोग होता था, और इन सब के लिये विभिन्न धातुओं को गलाने आदि की कला का ज्ञान आवश्यकीय

---

[1] वेदिक इन्डेक्स १।६६

[2] ऋ० ६।४६।९; 'इन्द्र त्रिधातु शरणं त्रिवरूथ स्वस्तिमत्। छर्दियच्छ मघवद्भ्यश्च मह्यं च यावयो दिद्युमेभ्यः॥'

[3] ए० सी० दास–ऋग्वेदिक कल्चर, पृ० १९१

[4] ऋ० १०।६६।५; "शर्म नो यंसन् त्रिवरूथमहसः॥"

[5] ऋ० ७।१८।२२

[6] ऋ० ८।१०।१

रहता है। ऋग्वेद में निष्क[1], रुक्म,[2] रुक्म[3] पाश, रुक्म वक्षस्[4] स्रज्[5] खादि[6], कर्णशोभन[7] आदि सुवर्ण के आभूषणों का उल्लेख आता है। ऋग्वेद में मोती[8] व मणि[9] का भी उल्लेख आता है, जिनका उपयोग आभूषणों के लिये किया जाता था।

ऋग्वेद में दैनिक घरेलू उपयोग की कितनी ही वस्तुओं का उल्लेख आता है, जिनसे विभिन्न कलाओं के विकास का पता चलता है। तल्प[10] (पलङ्ग), प्रोष्ठ[11], (एक प्रकार का पलङ्ग) वह्य[11] (एक प्रकार का पलङ्ग) आदि लकड़ी के बनाये जाते थे व साधारणतया प्रत्येक घर में रहते थे। ऋग्वेद में कलश[13], द्रोण[14], कुम्भ[15] आदि का कितने ही स्थलों पर उल्लेख आता है। कलश व कुम्भ विभिन्न धातुओं व मिट्टी के बनाये जाते थे, द्रोण बड़े बड़े बर्तन रहते थे जो लकड़ी के बनाये जाते थे। घरेलू बर्तन विभिन्न धातुओं के बनाये जाते थे। अथर्ववेद में सोने व चांदी के बर्तनों का उल्लेख है।[16] उख (पकाने का बर्तन), स्थाली, (पकाने का बर्तन), आसेचन आदि यज्ञ से सम्बन्धित बर्तन थे, जिनका उल्लेख वैदिक साहित्य में

---

[1] ऋ० २।३३।१० ८।४७, १५, ५।१९।३

[2] ऋ० १।१६६। १०, ४।१०।५ ५।३३।४, ८।२०।११

[3] शतपथ ब्रा० ६।७।१, ७, २७

[4] ऋ० २।३४।२ ८, ५।५५।१, ५।५७।५

[5] ऋ० ४।३८।६, ५।३४।४ ८।४७।१५

[6] ऋ० ५।५४।११, १।१६६।९ ७।५९।१३ ५।५८।२

[7] ऋ० ८।७८।३

[8] ऋ० १।३५।४, १०।६८।१ १।१२६।४

[9] ऋ० १।३३।८ १।१२२।१४

[10] ऋ० ७।५५।८

[11] ऋ० ७।५५।८

[12] वेदिक इण्डेक्स २।२७८

[13] ऋ० १।११७।१२, ३।३२।१५

[14] ऋ० ६।२।८, ६।३७।२, ६।४४।२० ९।९३।१

[15] ऋ० १।११९।१४, १०।८९।७

[16] ८।१०।२२ २९

आता है। इसी प्रकार यज्ञ से सम्बन्धित अन्य वस्तुओं का भी उल्लेख आता है, जो साधारणतया लकडी व धातु से बनाई जाती थीं[1]।

यजुर्वेद[2] में रथकार, तक्षा, कौलाल (कुम्हार), कर्मार (लुहार), मणिकार, हिरण्यकार, इषुकार, धनुष्कार, ज्याकार आदि का स्पष्ट उल्लेख आता है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वैदिक युग में लुहार लोहा आदि गलाकर विभिन्न हथियार, रथ के कलपुर्जे आदि बनाते थे। बढई लकडी के रथ, पलङ्ग आदि वस्तुएँ बनाकर अपनी कला का विकास करते थे। मणिकार व हिरण्यकार अच्छे अच्छे आभूषण बनाकर अपनी कला प्रदर्शित करते थे, और कुम्हार मिट्टी के नाना प्रकार के बर्तन बनाते थे। इस प्रकार वैदिक युग में विभिन्न कलाओं का विकास किया गया था।

संगीत

वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक आर्यों ने सङ्गीत-कला का भी विकास किया था। कुछ विद्वानों का मत है कि ऋग्वेदादि संहिताओं के मंत्र गाये जाते थे। यही कारण है कि सर्वानुक्रमणी आदि में वैदिक मंत्रों के स्वरों का भी उल्लेख है। प्रत्येक मंत्र का जहां ऋषि, देवता व छन्द रहता है, वहाँ उसका स्वर भी रहता है। ये स्वर सात हैं, जिनमें विभिन्न मंत्र गाये जाते थे, जैसे धैवत, मध्यम, पञ्चम, षड्ज, ऋषभ, निषाद व गान्धार।

वैदिक साहित्य के अन्तर्गत सामवेद के साम मन्त्रों का गाया जाना तो सुप्रसिद्ध है। ये सामगीत ऋग्वेद-काल में पूर्णतया ज्ञात थे, व स्थान-स्थान पर ऋषियों द्वारा गाये जाते थे। पुरुषसूक्त[3] में कहा गया है कि 'उस सर्वहुत यज्ञ में से ऋचाएँ व सामगीत उत्पन्न हुए।' इस प्रकार सामगीत की उत्पत्ति परमात्मा से बताई गई है। भारतीय अनुश्रुति के अनुसार सङ्गीत कला का प्रारम्भ सामवेद से होता है। सामवेद का उपवेद ही गान्धर्ववेद है, जो अब अप्राप्य है।[4] प्राचीन दन्तकथाओं के अनुसार सङ्गीत कला का विकास

[1] ए० सी० दास–ऋग्वेदिक कल्चर पृ० १९४–१९५

[2] ३०।७ १७

[3] ऋ० १०।९०।९, 'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋच सामानि जज्ञिरे।

[4] दी कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया, जि० ३, पृ० ५६६–६८

गन्धर्वों द्वारा किया गया था, अतएव उसे गन्धर्व विद्या व उसके ग्रन्थ को गान्धर्व वेद भी कहा गया है। इस लोकोक्ति के सहारे यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में इस कला का इतना विकास हुआ था कि कुछ लोगों ने उसे ही अपने जीवन का सर्वस्व मान लिया था। कदाचित् प्राचीन कालीन गवैयों को गन्धर्व नाम से सम्बोधित किया गया है।

ऋग्वेद में सङ्गीत के विभिन्न वाद्यों का उल्लेख आता है। दुन्दुभि[1] का उल्लेख कई बार आया है, जिसका उपयोग युद्ध और शान्ति के समय होता था। यह वाद्य आज कल के नगाड़े के समान था। साधारणतया दुन्दुभि का उपयोग युद्ध के समय हुआ करता था। इन्द्र के युद्धों में दुन्दुभि का बजाया जाना उल्लिखित है। कर्करि[2] बांसुरी के समान एक वाद्य था, जिसको आर्य लोग बजाया करते थे। मरुतों के पास क्षोणी[3] नाम का वाद्य था, जो वीणा के समान था। एक स्थान पर 'वाण' ("धमन्तो वाणम्") बजाये जाने का उल्लेख है।[4] इसके दो अर्थ लिये जाते हैं, एक बांसुरी व दूसरा वीणा। सायण ने इसका अर्थ "वीणाविशेषम्" किया है। यजुर्वेद में वीणावाद"[5] (वीणा का बजाया जाना) का उल्लेख आता है। इसी प्रकार 'पाणिघ्न' (नगाड़ा बजानेवाला), 'शङ्खध्म' (शंख बजानेवाला) आदि का भी उल्लेख आता है।[6] ऋग्वेद में "आघाटि"[7] का उल्लेख आता है। मैकडॉनेल व कीथ के मतानुसार आघाटि एक प्रकार की मृदङ्ग थी, जो नृत्य के समय बजाई जाती थी।

ऋग्वेद में गीतों के गाये जाने का उल्लेख भी आता है। जब

---

[1] ऋ० १।२८।५, "इह द्युमत्तम वद जयतामिव दुन्दुभि" ६।४७।२९ ३१ "केतुमद्दुन्दुभिर्वावदीति।"

[2] ऋ० २।४३।३

[3] ऋ० २।३४।१३

[4] ऋ० १।८५।१०; "धमन्तो वाणं मरुत: सुदानवो मदे सोमस्य रण्यानि चक्रिरे॥"

[5] यजु० ३०।१९

[6] यजु०–३१।२०

[7] ऋ० १०।१४६।२

सात स्त्रियाँ सोमरस निकालती थीं, उस समय गीत गाती थीं[1]। साम देवी गीत थे, जो सङ्गीतशास्त्र के अनुसार गाये जाते थे। पद्यात्मक गीतों को गाथा कहा जाता था[2]। ये गीत सोमरस निकालते समय गाये जाते थे। गाथा गाने वाले को 'गाथिन्' कहते थे।[3] इसी प्रकार 'गाथापति,'[4] गाथानी[5] का भी उल्लेख आता है। 'ऋजु[6] गाथा' शब्द गाने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण[7] में ऋक् व गाथा के अन्तर को समझाते हुए कहा गया है कि ऋक् दैवी तथा गाथा मानुषी है। ऋग्वेद में जो दानस्तुतियाँ[8] हैं वे गाई जाती थीं, क्योंकि उनमें दानदाताओं की दानशूरता का वर्णन है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग में सङ्गीत-कला का पर्याप्त विकास हुआ था।

नृत्य

वैदिक युग में नृत्यकला का भी विकास हुआ था। ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि में नृत्य का उल्लेख आता है। उषा को एक नर्तकी की उपमा दी गई है। वैदिक युग में स्त्री व पुरुष दोनों ही नृत्य करते थे। ऋग्वेद व यजुर्वेद में बाँस लेकर नाचनेवाले का उल्लेख है।[9] नाचने वाले को 'नृत' कहा जाता था। युद्ध के समय इन्द्र हर्षातिरेक से नाचता था[10]। नर्तिका को 'नृतु' कहते थे, जोकि नाचते समय सुन्दर वस्त्र धारण करती थीं[11]। ऋग्वेद में एक स्थलपर नृति

---

[1] ऋ० ९।६६।८

[2] ऋ० १।१६७।६ "गायद्गाथ सुतसोमो दुवस्यन्।", ८।३२।१, ८।७१।१४ ८।९८।९, ९।११।४, ९।९९।४

[3] ऋ० १।७।१

[4] ऋ० १।४३।४

[5] ऋ० १।१९०।१, ८।९२।२

[6] ऋ० ५।४४।५

[7] ७।१८

[8] मैक्डॉनेल–संस्कृत लिटरेचर, पृ० १२७

[9] ऋ० १।१०।१, यजुर्वेद ३०।२१

[10] ऋ० १।१३०।७

[11] ऋ० १।९२।४

व हास का साथ-साथ उल्लेख है।[1] ऋग्वेद में देवताओं के नाचने का भी वर्णन है।[2] युवक युवतियों का सजधज कर नाचने, गाने, झूला आदि झूलने का उल्लेख भी आता है।[3] इस प्रकार वेदकालीन समाज में नृत्य-कला भी बहुत लोकप्रिय थी, जिसका उपयोग मनोरञ्जन के लिये किया जाता था।

8

विज्ञान

वैज्ञानिक विकास

वैदिक आर्यों के सांस्कृतिक विकास में पद पद पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण परिलक्षित होता है। वैदिक आर्यों ने इस जगत् का तथा मानव व उसके चहुँ ओर स्थित वातावरण का बहुत बारीकी से अध्ययन किया था। उन्होंने जिस प्रकार अदिति की कल्पना की, वरुण के व्रत को समझा, इन्द्रवृत्र युद्ध द्वारा कृषिप्रधान भारत के लिये वर्षा के महत्त्व का स्पष्टीकरण किया, तथा प्रकृति की विभिन्न शक्तियों का अवलोकन कर उसके आन्तरिक तत्त्वों को समझने का प्रयत्न किया, इन सब से स्पष्ट होता है कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण को पूर्णतया विकसित किया गया था। यही कारण है कि वैदिक युग से ही विज्ञान के विभिन्न अङ्गों का विकास प्रारंभ हो गया था। ऋग्वेद व अन्य संहिताओं के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक युग में भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, प्राणिशास्त्र, वनस्पति शास्त्र, आयुर्वेद, ज्योतिष्, गणित आदि का विकास हुआ था।

भौतिकादि शास्त्र

प्राचीन आर्यों ने जिस प्रकार आध्यात्मिक जगत् में अनेकत्व में एकत्व के दर्शन किये उसी प्रकार भौतिक जगत् में भी अनेकत्व

[1] ऋ० १०।१८।३

[2] ऋ० १०।७२।६

[3] ऋ० ७।८७।५, ७।८८।३

में एकत्व ढूँढने का प्रयत्न किया। ऋग्वेद[1] में असत् व सत् का विवेचन करते हुए कहा गया है कि असत् से सत् उत्पन्न हुआ फिर उसको अदिति से सम्बन्धित किया गया है। उसके पश्चात् इस जगत् का विकास हुआ।[2] यहाँ पर असत् से समस्त भौतिक जगत् का विकास दर्शाया गया है। यही भाव नासदीय[3] सूक्त में भी स्पष्ट किया गया है। इसी प्रकार एक और स्थान[4] पर सृष्टि के विकास-क्रम को समझाते हुए कहा गया है कि तप से ऋत व सत्य[5] उत्पन्न हुए, उसके पश्चात् अन्धकार व समुद्र उत्पन्न हुए। तत्पश्चात् काल, सूर्य, चंद्र, पृथिवी, आकाश आदि उत्पन्न हुए। यहाँ सृष्टिविकास को ऋत व सत्य से सम्बन्धित किया गया है। इन उल्लेखों पर से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वैदिक आर्यों ने भौतिक व आध्यात्मिक जगत् के मध्य एकत्व को स्थापित कर विश्व को सञ्चालित करनेवाले भौतिक व आध्यात्मिक नियमों को समझने का प्रयत्न किया था, जिन्हें ऋत व सत्य नाम से सम्बोधित किया गया था। यजुर्वेद[6] में भौतिक व आध्यात्मिक जगत् के मध्य एकत्व स्थापित करते हुए कहा गया है कि जो सब भूतों को अर्थात् भौतिक जगत् को आत्मा में देखता है, तथा आत्मा को सब भूतों में देखता है, उसे एकत्व के अनुभव के कारण कोई मोह, शोक आदि नहीं होता। पुरुषसूक्त[7] में भी एक परमतत्त्व से सृष्टि का विकास वर्णित है।

प्रकाश के सात रङ्गों को भी वैदिक आर्यों ने समझ लिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्द्रधनुष के सात रङ्गों के देखकर प्रकाश का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रारंभ किया गया था। ऋग्वेद में सूर्य

---

[1] १०।१२९।१–२

[2] ऋ० १०।७२।३–९

[3] ऋ० १०।१२९

[4] ऋ० १०।१९।१–३

[5] भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत् को सञ्चालित करने वाले नियम

[6] ४०।६–७ "यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥ यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥"

[7] ऋ० १०।९०।२–५

को सात घोड़ों के रथ में बैठने वाला,[1] तथा सप्तरश्मि[2] (सात प्रकार की किरणोंवाला) कहा गया है। सूर्य की किरणों को अत्यन्त ही वेगवान् घोड़ों की उपमा देना बिलकुल ही उपयुक्त है, क्योंकि सूर्य का प्रकाश अत्यन्त ही शीघ्रगामी है। वैज्ञानिकों के मतानुसार सूर्य की किरणें एक सेकन्ड में १, ८६००० मील जाती हैं।[3]

रसायन शास्त्र के विकास का प्रारंभ भी वैदिककाल से ही हुआ था, क्योंकि आयुर्वेद के ज्ञान के लिये उसके ज्ञान की आवश्यकता रहती है व वैदिक काल में आयुर्वेद का विकास प्रारंभ हो गया था।[4] यजुर्वेद[5] में मणिकार, सुवर्णकार, कर्मार आदि के उल्लेख से तत्कालीन धातुशास्त्र के ज्ञान का पता लगता है। रसायनशास्त्र के ज्ञान के बिना धातुओं के गलाने आदि की रासायनिक क्रियाएँ समझ में आ नहीं सकतीं। अतएव वैदिक युग में रसायनशास्त्र का विकास होना निर्विवाद है।

वनस्पतिशास्त्र का प्रारंभ भी वैदिक युग से ही होता है। वैदिक-काल से ही सब जीवधारियों को दो विभागों में बाँटा गया था, स्थावर व जङ्गम। ऋग्वेद में उन्हें क्रमशः तस्थुष व जगत् शब्दों से सम्बोधित किया गया है।[6] वैदिक ऋषियों ने अपनी तीव्र बुद्धि से इन प्राणियों का सम्यक् अध्ययन किया था, तथा उनके जीवन में सूर्य के प्रकाश का क्या महत्त्व है, इस महान् वैज्ञानिक तथ्य को भी समझ लिया था। इसीलिये उन्होंने सूर्य को स्थावर व जङ्गम की आत्मा कहा।[7] आधुनिक वैज्ञानिक भी सूर्य के महत्त्व को भली भाँति समझते हैं, क्योंकि उनका भी मन्तव्य है कि सूर्य जीवन-शक्ति का सबसे बड़ा स्रोत है।[8]

---

[1] ऋ० १।५०।८; "सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य ··।"

[2] ऋ० १।१०५।९

[3] हैडले—ए० हरीडे फिजिक्स, पृ० २५२

[4] अथर्व० ५।२३।१—७

[5] ३०।६—७, ११, १७, २०

[6] ऋ० १।११५।१; "सूर्य आत्मा जगतश्च तस्थुषश्च ॥", यजु० ७।४२

[7] ऋ० १।११५।१; यजु० ७।४२

[8] इस सम्बन्ध में 'फोटोसिंथेसिस' की क्रिया विशेष उल्लेखनीय है।

वनस्पतियों मे जीव है व उन्हें भी जागृति, निद्रा, सुख, दुख आदि का अनुभव होता है, यह सिद्धान्त वैदिक युग में ज्ञात था। वेद तथा उपनिषदों में इसका स्पष्ट उल्लेख आता है।[1] ऋग्वेद में तस्थुष (स्थावर) जीवधारियों में वनस्पतियों को स्थान देकर इस बात की पुष्टि की गई है कि उनमें जीव है। ऋग्वेद[2] में एक और स्थान पर वनस्पतियों के जल में विकास प्राप्त होने का उल्लेख करके उनमें जीव है, इस बात को स्पष्ट किया गया है।

वैदिक साहित्य में अप्रत्यक्ष रूप से कुछ उल्लेख आये हैं, जिनके आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक युग में भूगर्भ शास्त्र, धातुशास्त्र आदि का विकास हुआ था। पृथ्वी को वसुधा या वसुन्धरा नाम से सम्बोधित करना स्पष्टतया बताता है कि प्राचीन भारतीयों ने पृथ्वी के गर्भ से नाना प्रकार की बहुमूल्य धातुएँ खोद कर निकाली होंगी। ऋग्वेद में सोना, लोहा, चांदी, ताम्बा आदि विभिन्न धातुओं का स्पष्ट उल्लेख आता है। सुवर्ण तो वैदिक युग में बहुत ही लोकप्रिय धातु थी। उसके विभिन्न आभूषण बनाये जाते थे, जिनका स्पष्ट उल्लेख ऋग्वेद मे आता है। गाय, घोड़े, रथ आदि को भी सुवर्ण से आभूषित किया जाता था। देवताओं के वर्णन में भी सुवर्ण का उपयोग किया जाता था। ऋग्वेद मे सूर्य के लिये कहा गया है कि सूर्य सुवर्ण के समान चमकता है व देवताओं का श्रेष्ठ धन है।[3] इस प्रकार सुवर्ण ऋग्वेद में कई स्थानों में उल्लिखित है। इन्द्र के वज्र के लिये कहा गया है कि उसका वज्र सुवर्ण का बना हुआ है।[4] अग्नि को घोड़े की उपमा देते हुए कहा गया है कि उसकी अयाल सुवर्ण की बनी है।[5] एक और स्थान[6] में सूर्य के प्रकाश की तुलना सुवर्ण के प्रकाश से की गयी है। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि वैदिक

---

[1] ऋ० १।११५।१, यजु० २२।२८, तैत्तिरीय स० ७।३।१९।१, ७।३०।२०, ऋ० १।३२।५, अथर्व० १०।७।३८, बृहदारण्यक, ४।६।१

[2] ऋ० ८।४३।९

[3] ऋ० १।४३।५, " सूर्यो हिरण्यमिव रोचते। श्रेष्ठो देवाना वसु॥'

[4] १।५७।२ "इन्द्रस्य वज्र श्नथिता हिरण्यय ॥"

[5] ऋ० १।१६३।९, हिरण्यशृङ्गो ०।

[6] ऋ० १।१२२।२

युग में सोना बहुत अधिक मात्रा में वर्तमान था।[1] सोने को खदानों में से खोदकर निकालने का ज्ञान भी तत्कालीन समाज में वर्तमान था।

ऋग्वेद में 'अयस्' शब्द का भी उल्लेख आता है।[2] अयस् के अर्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है, और वे इसे ताम्बा, कांसा या लोहे से सम्बन्धित करते हैं।[3] किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि साधारणतया अयस् का प्रयोग लोहे के अर्थ में किया गया है, जैसा कि सरस्वती नदी के वर्णन में आता है, जहाँ उसे "आयसी पूः" अर्थात् लोहे का किला कहकर सम्बोधित किया गया है।[4] रथादि के कल-पुर्जे, हथियार, बर्तन आदि बनाने में लोहे का उपयोग किया जाता था। इस प्रकार वैदिक युग में लोहशास्त्र का भी विकास किया गया था।

आयुर्वेद

आयुर्वेद के विकास का प्रारंभ भी वैदिक काल से ही होता है। ऋग्वेद व विशेषकर अथर्ववेद से इस सम्बन्ध की बहुत सी बातें मालूम होती हैं। ऋग्वेदादि संहिताओं के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक आर्यों को बीमारियों के दूर करने के लिये विभिन्न औषधियों का ज्ञान था। तत्कालीन समाज में जड़ी बूटियों की सहायता से विभिन्न रोगों को दूर करने का ज्ञान रखनेवाले व्यक्ति थे, जिन्हें भिषक् कहा जाता था। रुद्र को "भिषजां भिषक्तमं"[5] (वैद्यों में सर्वश्रेष्ठ वैद्य) कहा गया है। दवाइयों द्वारा रोग दूर करने की रुद्र की शक्ति का उल्लेख किया गया है।[6] उससे प्रार्थना की गई है कि पूरे गाँव में रोग किसी को न सतावे।[7] ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है कि वैद्य हमेशा रोगी की खोज में रहता है।[8]

[1] ऋ० ३।३४।९; ४।१०।६; ४।१७।११

[2] ऋ० १।५७।३; ऋ० १।१६३।९, ऋ० ६।३।५

[3] वैदिक एज (भारतीय विद्या भवन), पृ० ३९६

[4] ऋ० ७।९५।१; "सरस्वती धरुणमायसी पूः।"

[5] ऋ० २।३३।४, "उन्नो वीरा अर्पय भेषजेभिर्भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि॥"

[6] ऋ० २।३३।१२

[7] ऋ० १।११४।१

[8] ऋ० ९।११२।१

इससे स्पष्ट होता है कि वेदकालीन समाज में कुछ लोग ऐसे थे जो वैद्य के धंदे से उदरनिर्वाह करते थे, क्योंकि उपरोक्त मन्त्र मे भिषक् को तक्षा (बढ़ई) के समकक्ष बैठाया है। एक स्थान पर वैद्य को गाय, घोड़ा, वस्त्र आदि देने का उल्लेख है।[1]

ऋग्वेद में एक सूक्त[2], जिसमें २३ मंत्र हैं, ओषधियों (जड़ी-बूटी) की स्तुति में है। उसका ऋषि भिषगाथर्वण है। उक्त सूक्त का सारांश इस प्रकार है—

"प्राचीन कालीन तीन युगों में देवताओं ने जिन औषधियों की कल्पना की वे सब पीतवर्ण की ओषधियाँ एक सौ सात स्थानों में वर्तमान हैं। हे औषधियों ! तुम सैकड़ों गुणों से सम्पन्न हो, अतः मुझे आरोग्य देकर स्वस्थ करो। हे पुष्प-फल से सम्पन्न औषधियों ! तुम रोगी पर अनुग्रह करने वाली बनो। हे मातृवत औषधियों ! तुम अत्यन्त तेजस्विनी हो। मैं तुम्हारे समक्ष यह कहता हूँ कि मैं भिषक् को गौ, अश्व और वस्त्रादि प्रदान करूँगा। सभाओं में जैसे राजागण एकत्र होते हैं, वैसे ही जहाँ औषधियाँ एकत्र रहती हैं और जो मेधावी उनके गुण धर्म का ज्ञाता है, वही चिकित्सक कहाता है, क्योंकि वह रोगों को शमन करनेवाले विभिन्न यत्नों को प्रयुक्त करता है। मैं अश्ववती, सोमावती, अर्जयन्ती, उपोजस आदि औषधियों का जाननेवाला हूँ। वे औषधियाँ इस रोगी को आरोग्यता प्रदान करें। हे औषधियों ! तुम में से एक दूसरी से और दूसरी तीसरी से मिश्रित होवे। इस प्रकार सभी औषधियाँ परस्पर मिलकर गुणवाली होवें। फलवाली या फलहीन तथा पुष्पवाली और बिना पुष्प की सभी औषधियों को बृहस्पति उत्पन्न करते हैं। हे औषधियों ! मैं तुम्हें खोदकर निकालता हूँ, तुम मुझे हिंसित मत होने देना। मैं तुम्हें जिस रोगी के लिये ग्रहण कर रहा हूँ, वह रोगी भी नाश को प्राप्त न हो; हमारे मनुष्य व पशु भी स्वस्थ रहें। सब औषधियों ने अपने राजा सोम से कहा कि स्तुति करनेवाले भिषक् जिसकी चिकित्सा करते हैं, उसी रोगी की हम रक्षा करती हैं।"

औषधियों की स्तुति को पढ़ने से हमें वेदकालीन वैद्यों की स्थिति, औषधियों को बनाने की विधि तथा वे कितनी प्रभावशाली रहती

[1] ऋ० १०।९७।४

[2] ऋ० १०।९७।१–२३

धों आदि के बारे में बहुत कुछ ज्ञात होता है। प्रभावशाली व अच्छी औषधियाँ सफल भिषक् बनने के लिये आवश्यकीय थीं। हमें यह भी ज्ञात होता है कि वैदिक आर्य विभिन्न रोगों के दूर करने में जड़ी बूटियों के गुण, लाभ आदि से पूर्णतया परिचित थे। उनके सहस्रों प्रयोग थे, उनके रस आदि निकालकर रोगियों को दिये जाते थे।

ऋग्वेद में चीर फाड़ आदि का भी उल्लेख आता है। ऋग्वेद में पैर काटने व उसके स्थान में लोहे का पैर लगाने का उल्लेख है। इन सब कार्यों में अश्विन् देवता सिद्धहस्त थे। वे दैवी वैद्य कहे जाते थे। उन्होंने अन्धों को दृष्टि दी, लंगड़ों को चलने योग्य बनाया तथा वृद्ध व अपङ्ग को नवयौवन प्रदान किया। अश्विन् देवताओं ने वृद्ध च्यवन को यौवन प्रदान किया तथा दीर्घ जीवन भी दिया और वह सहस्रों युवतियों का पति हुआ।[1] ऋज्राश्व को उसके पिता ने अन्धा बना दिया था, क्योंकि उसने एकसौ एक भेड़ें भेड़िये को खिला दी थीं। अश्विन् देवताओं ने उसकी आँखें सुधार दीं।[2] इसी प्रकार परावृज को भी उन्होंने पुनः दृष्टि प्रदान की व उसके लंगड़े पैर सुधार दिये।[3] जब युद्ध में विश्पला का पैर कट गया तब अश्विन् देवताओं ने उसे एक लोहे का पैर लगा दिया।[4] उन्होंने घोषा की कोढ़ की बीमारी दूर की तथा अपने पिता के घर अधिक उम्र की होने पर भी उसे पति प्राप्त करवाया।[5] यद्यपि ये सब आश्चर्यजनक कार्य अश्विनों द्वारा किये गये थे, किन्तु यह कहा जा सकता है कि वैदिक युग में यथार्थ में शल्य चिकित्सा में निष्णात व्यक्ति वर्तमान थे।

अथर्वेद

अथर्ववेद में विभिन्न रोगों का उल्लेख है तथा उनके उत्पादक कीटाणुओं का भी उल्लेख[6] है। 'किलास'[7] अर्थात् कुष्ट रोग के

---

[1] ऋ० १।११६।१०

[2] ऋ० १।११६।१६

[3] ऋ० १।११२।८

[4] ऋ० १।११२।१०, १।११६।१५

[5] ऋ० १।११७।७

[6] अथर्व० २।३१-३२

[7] अथर्व० १।२३।१-४; १।२४।१-४

निवारण के लिये किसी ओषधि विशेष का वर्णन आया है तथा उससे प्रार्थना की गई है कि कुष्ठ रोग को पूर्णतया दूर करो। अन्त में कहा गया है कि "कुष्ठरोग का नाश हुआ, और त्वचा एक रूप हो गई।"[1] तक्मन्[2] (शीत ज्वर) का वर्णन भी आता है उससे हट जाने की प्रार्थना की गई है। एक, दो या तीन दिनों के अन्तर से आने वाले शीत ज्वर का भी उल्लेख है। कास (खाँसी) का भी उल्लेख आता है, जहाँ उसे समुद्र में नष्ट हो जाने के लिये कहा गया है।[3] इसी प्रकार यक्ष्म (राजयक्ष्मा) रोग का भी विशद वर्णन है।[4] यक्ष्म रोग को कहा गया है कि तुम्हें रोगी के शरीर के प्रत्येक अङ्ग से हटाया जा रहा है। इस प्रसंग म शरीर के इन अवयवों का उल्लेख आया है—अक्षी, नासिका, कर्ण, छुबुक (ठुड्डी), शीर्ष, मस्तिष्क, जिह्वा, अंस (कंधा), बाहु, हृदय, पार्श्व, स्तन, प्लीह, आन्त, गुदा, उदर, कुक्षि, पद, श्रोणी, अस्थि, मज्जा, स्नायु, धमनी, पाणि, अङ्गुलि, नख, लोम, पर्व, त्वच् आदि।

अथर्ववेद में रोग कीटाणुओं का भी उल्लेख आता है, जिनके द्वारा शरीर में विभिन्न रोग फैलते हैं। क्रिमियों का वर्णन करते हुए उनका नाश करने का निश्चय दर्शाया गया है।[5] दृष्ट व अदृष्ट क्रिमियों का भी उल्लेख है।[6] इसी प्रकार शिष्ट (दही, शराब आदि के) व अशिष्ट (रोगोत्पादक) क्रिमियों का भी उल्लेख है।[7] एक स्थान पर सूर्य की किरणों द्वारा क्रिमियों के नाश करने का उल्लेख है,[8] जहाँ कहा गया है कि "सूर्य अपनी किरणों द्वारा पृथ्वी के अन्तर में जा क्रिमि हैं उनका नाश करने के लिये उदित हुआ है। ये क्रिमि नाना प्रकार के हैं जैसे विश्वरूप, चतुरक्ष, सारङ्ग, अर्जुन आदि। अग्नि, कण्व व जमदग्नि के समान अगस्त्य के ब्रह्म से मैं

---

[1] अथर्व० १।२४ २ अनीनशत्किलास सरूपामकरत् त्वचम्।
[2] अथर्व० १।२५।१–४
[3] अथर्व ६ १०५। १–३
[4] अथर्व० २।३३ १–७
[5] अथर्व० २।३१।१–५
[6] अथर्व० २।३१।२
[7] अथर्व० २।३१।३
[8] अथर्व० २।३२।१–६

क्रिमियों को पीस डालता हूँ। क्रिमियों का राजा स्थपति, उनकी माता, उनका भाई व उनकी बहिन सब मार डाले गये। जितने क्षुल्लक क्रिमि हैं सब के सब मार डाले गये।" इन कीटाणुओं का विशद् विवेचन किया गया है, जो कि इस प्रकार है—[1] "आकाश-पृथिवी, देवी सरस्वती, इन्द्र व अग्नि सब सम्मिलित होकर क्रिमियों का नाश करें। हे धनपते, इस इन्द्रकुमार के क्रिमियों का नाश करो। ये सब शत्रु मेरे उग्र वचनों से मार डाले गये हैं। जो क्रिमि आँखों में, नाक में व दाँतों के मध्य जाता है, उस क्रिमि का हम नाश करें। एक रूप वाले दो दो विरुप, दो कृष्ण (काले), दो रोहित (लाल), दो बभ्रु (भूरे), ये सब मांस के लोभी व भेड़िया-स्वभाव वाले क्रिमि मार डाले हैं। जो क्रिमि श्वेत कोख वाले हैं, व काले सफेद पैरों वाले हैं, और जो नाना रूप वाले हैं उन क्रिमियों का हम नाश करें। सूर्य भी ठीक सामने से आता हुआ स्वयं सबको दृष्टिगोचर होकर अदृष्ट क्रिमियों का नाश करता है, क्योंकि वह अपनी तेज किरणों से दीखने व न दीखनेवाले सब क्रिमियों का नाशकर्ता व उच्छेदकर्ता है। याप, कष्कष, एजत्क, शिपवित्नुक आदि दृष्ट अदृष्ट क्रिमियों का नाश हो। त्रिशीर्ष, त्रिककुद्, सारङ्ग, अर्जुन आदि सब क्रिमियों का मैं नाश करता हूँ। मैं सब क्रिमियों का सिर पत्थर से फोड़ता हूँ, व उनका मुख अग्नि से जलाता हूँ।"

उपरोक्त उल्लेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैदिक युग में आर्यों ने रोगोत्पादक कीटाणुओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। ये कीटाणु दृष्ट भी थे, तथा अदृष्ट भी थे। वे यह भी भलीभांति जानते थे कि उन कीटाणुओं के विनाश में सूर्य की किरणों का विशेष कर उदित होते हुए सूर्य्य की किरणों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। क्रिमियों के जो विभिन्न रङ्ग, विभिन्न प्रकार आदि दिये हैं, उससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वैदिक आर्य्यों ने विभिन्न रोगों के कीटाणुओं का शास्त्रीय व वैज्ञानिक अध्ययन किया होगा। उनके लिये यह अत्यन्त ही गौरव की बात है।

ज्योतिष

ज्योतिषशास्त्र का अध्ययन यज्ञ की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये किया गया था। इसलिये इसका प्रारंभ भी वैदिक काल से ही

[1] अथर्व० ५।२३।१-१३

होता है। विभिन्न यज्ञों के करने के लिये भिन्न-भिन्न नक्षत्रों का समय उपयुक्त समझा जाता था। धीरे-धीरे बहुत समय तक रहनेवाले यज्ञ भी किये जाने लगे। इसलिये ग्रह, नक्षत्र आदि के ज्ञान का विकास प्रारम्भ हो गया। वैदिक काल में ग्रह, नक्षत्र आदि को समझने के लिये कोई यन्त्र इत्यादि नहीं थे, केवल नेत्र-शक्ति से ही सब काम लिया जाता था। वैदिक आर्यों को चन्द्र, गुरु, मंगल, शनि आदि का ज्ञान था।[1] वे वर्ष के बारह मास व लौंध मास भी जानते थे[2]। तैत्तिरीय संहिता[3] में लिखा है कि तीस दिन का साधारण मास चान्द्र मास से थोड़ा बड़ा रहता है; चान्द्र मास २९½ दिन का होता है। वैदिक आर्यों को चन्द्र की कलाओं का ज्ञान भी था। ऐसा माना जाता था कि देवता लोग चन्द्र को पी जाते हैं, इसलिये वह घटता है।[4] चन्द्र के पूर्णतया लुप्त हो जाने का ज्ञान भी वर्तमान था। शतपथ ब्राह्मण[5] में लिखा है कि चन्द्र व सूर्य का सहवास ही अमावस्या है। अमावास्या की रात्रि को चन्द्र पृथ्वी पर उतर आता है, इसलिये उस रात्रि को दिखाई नहीं देता। चान्द्र व सौर वर्ष के अन्तर का भी ज्ञान वैदिक आर्यों को था। ऋभुओं को ऋतुओं के समान माना गया है[6], तथा कहा गया है कि उन्होंने बारह दिन तक काम बन्द कर दिया व सूर्य के घर में वास किया। वैदिक युग में सूर्य व चन्द्र ग्रहण पर भी विचार किया गया था। एक मत ऐसा भी है कि ऋग्वेद के पांचवें मण्डल के मन्त्रद्रष्टा अत्रि ऋषि इन ग्रहणों को पहिले से जान सकते थे। चित्रा, रेवती, पूर्वफाल्गुनी, मघा आदि नक्षत्रों का ज्ञान भी वैदिक आर्यों को था, क्योंकि उनका उल्लेख ऋग्वेद में आता है।[7] ऐतरेय ब्राह्मण में दिन रात के बारे में लिखा है

---

[1] कल्चरल हेरिटेज ऑफ इन्डिया, जि० ३, पृ० ३४१–३४९

[2] ऋ० १।२५।८ "वेदमासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः। वेदा य उपजायते ॥", शतपथ ब्राह्मण २।२।१।२७

[3] ४।४।१० तैत्तिरीय ब्रा० १।५।१

[4] कल्चरल हेरिटेज ऑफ इन्डिया, जि० ३, पृ० ३४१

[5] १।६।४।५

[6] ऋ० ४।३३–३७, ऐतरेय ब्रा० ३।३०, कीथ-रिलीजन एन्ड फिलॉसफी ऑफ वेद, पृ० १७६–१७८,

[7] ऋ० १०।८५; कल्चरल हेरिटेज जि० ३ पृ० ३४२

कि सूर्य जो अस्त होता है वह पुनः उदित होता है यह उसका दिवस के अन्त तक पहुँच वापिस लौटना है।[1]

वैदिक काल में ज्योतिष का महत्त्व इतना बढ़ गया था कि वेदाङ्गों में उसका भी समावेश किया जाने लगा। लगधकृत वेदाङ्ग ज्योतिष ज्योतिषशास्त्र का एक मामूली व छोटा ग्रन्थ है। उसमें चन्द्र व सूर्य की गति समझने का प्रयत्न किया गया है। सूर्य ३६६ दिनों में एक पूरा चक्कर लेता है। दिन का काल साठ घटिका बताया गया है। वर्ष बारह सौर महीनों में व महीने को तीस दीनों में विभाजित किया गया है।[2] इस ग्रन्थ में भी यज्ञ के लिये ज्योतिषशास्त्र की आवश्यकता स्वीकार की गई है।

गणित

ज्योतिषशास्त्र व गणित का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिये वैदिक युग में ज्योतिष के साथ साथ गणित का भी विकास हुआ था। अङ्कगणित का प्रारंभ वैदिक काल से ही होता है। उस समय बड़ी से बड़ी व छोटी से छोटी संख्या गिनने की विधि ज्ञात थी।[3] यजुर्वेद[4] में कितनी ही संख्याओं का उल्लेख आता है, जो कि इस प्रकार हैं—एक, दश, शत, सहस्र, अयुत, नियुत, प्रयुत, अर्बुद, न्युर्बुद, समुद्र, मध्यम, अन्त व परार्ध। यजुर्वेद[5] में २ व ४ के पहाड़े का भी स्पष्ट उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि जोड़, घटाना, गुणा, भाग आदि अङ्कगणित के मौलिक सिद्धान्त वैदिक युग में पूर्णतया ज्ञात थे। बड़ी से बड़ी संख्याओं के ज्ञान से स्पष्ट होता है कि गणित विद्या सम्बन्धी विभिन्न तत्त्वों का सम्यक् विकास प्रारंभ हो गया था। शतपथ ब्राह्मण[6] के अग्निचयन प्रकरण में ऋग्वेद के सब अक्षरों की गणना की गई है, जो कि ४३२००० है।

---

[1] डा० द० ज्ञानी—भारतीय संस्कृति (प्र० आ०) पृ० ३३३

[2] लगध-वेदाङ्ग ज्योतिष (याजुष ज्योतिष) २८—२९

[3] छान्दोग्योप० ७।१।१–४, इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, जि० ५, १९२९, पृ० ४७९–५१२

[4] १७।२

[5] १८।२५

[6] शतपथ ब्रा० ३।३।१।१३, १०।२।१।११, १३।४।१।६

यजुर्वेद में जो एक, दश, शत, सहस्र आदि संख्याएँ दी गई हैं, उनपर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि उन संख्याओं की कल्पना दशांशगणना-विधि पर आश्रित है। अतएव यह कथन अत्युक्ति न होगा कि दशांशगणना-विधि का ज्ञान वैदिक आर्य्यों को था। यह बात सर्वमान्य है कि गणित के सर्वश्रेष्ठ व सबसे अधिक उपयोगी सिद्धान्त 'सशून्य दशांशगणनाविधि' का आविष्कार प्राचीन भारतीय गणितज्ञों ने ही किया था, जिसके लिये समस्त विश्व सदैव के लिये उन का ऋणी रहेगा।

रेखागणित का प्रारंभ भी वैदिक काल से ही होता है। इसके विकास का सम्बन्ध यज्ञों से है।[1] वैदिक काल में यज्ञों का कितना प्राबल्य था, यह तो किसी से छिपा नहीं है। भिन्न-भिन्न यज्ञों के लिये भिन्न-भिन्न आकार की वेदियों की आवश्यकता होती थी। यज्ञवेदि के बनाने के लिये नयी ईंटें बनाई जाती थीं, वे भी किसी निश्चित आकार की रहती थीं। उन वेदियों के लिये आवश्यकीय वस्तुओं का उल्लेख वेदों में किया गया है। इस सम्बन्ध के मन्त्रों में रेखागणित के बहुत से पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख है, जैसे प्रता, प्रतिमा, निदान, परिधि, छन्द आदि।[2] रेखागणित के विकास का विस्तृत ज्ञान शुल्व-सूत्रों से प्राप्त होता है। उन सूत्रों में यज्ञ वेदि के आकार, नाप आदि के सम्बन्ध में पूरा पूरा ब्योरा दिया गया है। उनमे कोण, त्रिकोण आदि नापने की रीति समझाई गई है।[3] इस प्रकार वैदिक युग में रेखागणित के ज्ञान का विकास हुआ था।

शारीरिक विकास

शारीरिक विकास प्राचीन भारतीय संस्कृति का मुख्य अङ्ग था। वैदिक काल से ही समाज ने शारीरिक विकास के महत्त्व को समझ लिया था। वेदों में सभी इन्द्रियों के पूर्णतया सशक्त रहते हुए सौ

---

[1] मैकडानेल–सस्कृत लिटरैचर, पृ० ४२४–४२५, कल्चरल हैरिटेज जि० ३, पृ० ३८४–३९४

[2] ऋग्वेद १०।१३२।३ "कासीत्प्रमा प्रतिमा कि निदानमाज्य किमासीत् परिधि. क आसीत्। छन्दः किमासीत्प्रउग किमुक्थ यद्देवा देवमयजन्त विश्वे ॥"

[3] कल्चरल हैरिटज जि० ३, पृ० ३८४–९४

वर्ष तक जीवित रहने की आकांक्षा दर्शाई गई है।[1] सौ वर्ष तक जीवित रहना, सुनना, बोलना आदि तब ही सम्भव हो सकते हैं, जब कि शरीरयष्टि उत्तम व सुदृढ़ हो, किसी रोग आदि ने उसे जर्जरित न कर दिया हो। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक काल के आर्य शारीरिक विकास के महत्त्व को भली भाँति समझ गये थे।

प्राचीन भारतीयों ने शरीर-विज्ञान को भलीभाँति समझ लिया था। वैदिक साहित्य के पठन से ज्ञात होता है कि वैदिक आर्य्यों को शरीर के विभिन्न अवयवों का अच्छा ज्ञान था। अथर्ववेद में यक्ष्मा का वर्णन करते हुए शरीर के छोटे बड़े सब अवयवों को उल्लिखित किया गया है[2]; जैसे अक्षी, नासिका, कर्ण, छुबुक, शीर्ष, ग्रीवा, कीकस (हड्डी), अंस, बाहु, हृदय, अस्थि, मज्जा, स्नायु, धमनि, नख, लोम, त्वच् आदि। उक्त प्रकरण में अन्य कितने ही अवयवों का उल्लेख आता है। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि वैदिक आर्य्यों ने मानव-शरीर के ढाँचे का बहुत बारीकी से अध्ययन किया था, व इस प्रकार शरीर-विज्ञान का पर्य्याप्त विकास किया था। वे शरीर की विभिन्न क्रियाओं को जानते और पहचानते थे। उन्हें अच्छी तरह मालूम था कि शरीर की रक्षा व पुष्टि के लिये वायु, जल, अन्न आदि तीन वस्तुएं अत्यन्त ही आवश्यकीय हैं। उपनिषदों में जो

---

[1] ऋ० ७।६६।१६: "तच्चक्षुर्देवहितं शुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम् ॥"; १।८९।८; यजु० ३६।२४: "पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शत शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥"

[2] अथर्व० २।३३।१–७: "अक्षीभ्या ते नासिकाभ्या कर्णाभ्या छुबुकादधि। यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया विवृहामि ते ॥ ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्य-कीकसाभ्यो अनूक्यात्। यक्ष्म दोषण्यमंसाभ्या बाहुभ्या विवृहामि ते ॥ हृदयात् ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात् पार्श्वाभ्याम् यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीह्नो यकृतस्ते विवृहामसि ॥ आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि। यक्ष्मं कुक्षिभ्या प्लाशेर्नाभ्या विवृहामि ते ॥ ऊरुभ्या ते अष्ठीवद्भ्या पार्ष्णिभ्या प्रपदाभ्याम्। यक्ष्मं भसद्यं श्रोणिभ्या आसदं भंससो विवृहामि ते ॥ अस्थि-भ्यस्ते मज्जभ्य- स्नावभ्यो धमनिभ्यः। यक्ष्म पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो विवृहामि ते। अङ्गे अङ्गे लोम्नि लोम्नि यस्ते पर्वणि पर्वणि। यक्ष्मत्वचस्यं ते वयं कश्यपस्य वी वर्हेण विष्वञ्चं विवृहामसि ॥"

"अन्नमय कोप"[1], "अन्नं वै प्राणा."[1] आदि वचन आते हैं, उन सब का यही तात्पर्य्य है।

जीवन के लिये शुद्ध वायु के महत्त्व को भी वैदिक आर्यों ने समझ लिया था। श्वासोच्छ्वास की क्रिया हमारा प्राण है, जो कि पूर्णतया वायु पर निर्भर है। इसलिये प्राचीन काल से ही यह व्यवस्था की गई थी कि अधिक से अधिक शुद्ध वायु का उपयोग मनुष्य द्वारा किया जावे, जिससे जीवन शक्ति बढे। यही कारण है कि आश्रम व्यवस्था में गृहस्थ को छोड़ अन्य आश्रमों को जङ्गल से सम्बन्धित किया गया, जहाँ शुद्ध वायु पर्याप्त मात्रा में मिल सकती है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन का लगभग तीन चतुर्थांश भाग जंगल की शुद्ध हवा में बिताना पड़ता था। इसके अतिरिक्त वायु को दूषित होने से बचाने की भी व्यवस्था की गई थी।

अथर्ववेद[3] से ज्ञात होता है कि वैदिक काल के भारतीयों को कीटाणु-शास्त्र का पता था। वे यह जानते थे कि नाना प्रकार के रोग कीटाणु, जिनमें से अधिकांश अदृश्य हैं, वायु में इधर-उधर भ्रमण करते हैं व इस प्रकार 'वायु' दूषित हो जाती है। उस दूषित वायु के श्वासोच्छ्वास की क्रिया द्वारा शरीर में प्रवेश करने पर नाना प्रकार के रोग उत्पन्न हो सकते हैं। इसलिये वायु-शुद्धि के लिये यज्ञ करने का आयोजन किया गया था। यज्ञ से दो प्रकार के लाभ होते हैं। वायु का शुद्धीकरण व वायु की बादल धारण करने की शक्ति में वृद्धि। यज्ञ मे घी, चन्दन, केशर, कस्तूरी आदि नाना प्रकार के सुगन्धित द्रव्य डाले जाते थे। सुगन्धित द्रव्यों के यज्ञाग्नि में जलने से जो धुँआ निकलता है, उसमे वायु में विचरण करनेवाले नाना प्रकार के रोग कीटाणुओं को नाश करने की शक्ति रहती है, इसलिए इन यज्ञों द्वारा वायु को शुद्ध किया जाता था। प्रत्येक आर्य को सायं प्रात. अग्निहोत्र करना पड़ता था, तथा दार्श पौर्णमास आदि यज्ञ सामूहिक रूप से किये जाते थे। इनके अतिरिक्त बहुत से नैमित्तिक यज्ञ भी किये जाते थे, विभिन्न संस्कारों के अवसर पर भी यज्ञ करना अनिवार्य्य था। स्वास्थ्य की दृष्टि से अन्त्येष्टि संस्कार अत्यन्त ही

[1] छान्दोग्योप० ६।५

[1] छान्दोग्योप० ६।५

[3] २।३१–३३ ५।२३

महत्त्वपूर्ण है। यों तो मुर्दों को गाड़ने की अपेक्षा जलाना अधिक उत्तम व श्रेयस्कर है, किन्तु यदि शव को घृत, चन्दन, आदि सुगन्धित द्रव्यों से जलाया जाय तो वायु को शवदाह द्वारा दूषित होने से बचाया जा सकता है। इस प्रकार वैदिक युग में यज्ञ वायुशुद्धि का प्रधान साधन भी माना गया था। अन्न, जल आदि की शुद्धि पर भी पूरा ध्यान दिया जाता था।

वैदिक युग में शरीर-विज्ञान की आवश्यकताओं को समझ दैनिक जीवनक्रम इस प्रकार का निर्धारित किया गया था, जिससे स्वास्थ्य अच्छा रहे व शारीरिक शक्ति का विकास उत्तरोत्तर होता रहे। दैनिक स्नान, प्राणायाम, व्यायाम, खेल-कूद, वेषभूषा, भोजन-व्यवस्था आदि का विकास स्वास्थ्य-वर्धन की दृष्टि से किया गया था, जिससे शारीरिक शक्ति का विकास किया जा सके।

मनोरञ्जन-खेलकूदआदि

वेदकालीन समाज ने अपने मनोरञ्जन के भी बहुत से साधन ढूँढे थे, जिनका उपयोग जनसाधारण द्वारा किया जाता था। वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक आर्य्यों के मनोरञ्जन के साधन इस प्रकार थे—रथदौड़, घुड़दौड़, जुआ, मेला, तमाशा, गीत, नृत्य, आख्यान गाथा आदि श्रवण, शिकार इत्यादि। युद्ध प्रेमी व क्रियाशील आर्य्यों के लिये रथदौड़ बड़ा अच्छा मनोरञ्जन का साधन था। वैदिक आर्यों के जीवन में रथ का महत्त्वपूर्ण स्थान था। रथ आर्य्यों को इतना प्रिय था कि उनके देवी देवता हमेशा रथ में विशेष कर सुवर्ण-रथ में घूमा करते थे। वैदिक साहित्य में उपमा, रूपक आदि द्वारा वर्णन को प्रभावशाली बनाते समय रथ का भी उपयोग किया गया है, जिस पर से निष्कर्ष निकाला जा सकता है आर्यों की प्रगति में रथ का महत्त्वपूर्ण स्थान था। रथ के समान घोड़े का भी आर्य्यों के जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान था। आर्यों ने घुड़दौड़ को अपने मनोरञ्जन का साधन बनाया था। प्रत्येक गाँव में घुड़दौड़, रथदौड़ आदि के लिये एक निश्चित स्थान (मैदान) रहता था, जहाँ उत्सवादि के अवसर पर घुड़दौड़, रथदौड़ आदि हुआ करती थी, तथा विजेताओं को पारितोषिक वितरित किये जाते थे। उक्त स्थान को काष्ठा[1] या

---

[1] ऋ० ८।८०।८

आजि[1] कहते थे, तथा अथर्ववेद[2] से ज्ञात होता है कि वह मैदान कदाचित् अर्धगोलाकार रहता था। ऋग्वेद में दर्शाया गया है कि वह मैदान बहुत चौड़ा (उर्वी) रहता था व उसे नापा जाता था।[3] पारितोषिक (धन) दिये जाते थे व उन्हें प्राप्त करने की आकांक्षा बहुत लोग रखते थे।[4] विजय व पारितोषिक के लिये कार[5] व भर[6] शब्द भी प्रयुक्त किये जाते थे। रथदौड़, घुड़दौड़ आदि का सञ्चालक आजिकृत्[7] या आजिपति[8] कहलाता था। घुड़दौड़ के जो तेज घोड़े (वाजिन्, अत्य) रहते थे, उनकी खूब देख भाल की जाती थी[9]। ऋग्वेद में घोड़े के लिये विभिन्न शब्द प्रयुक्त किये गये हैं, जैसे अत्य (दौड़नेवाला), अर्वन्त (तेज), वाजिन् (सशक्त), सप्ति (दौड़नेवाला), हय (तेजगतिवाला) आदि।

ऋग्वेद में एक स्थान पर रथदौड़ के अवसर पर इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि हे इन्द्र! हमारा रथ पीछे रह गया है, मेरे लिये उसे सब के आगे कर दो। अरे आप चुपचाप कैसे बैठे हैं, हमारे रथ को प्रथम करो[10]।" पुनः आगे कहा गया है कि "हमें विजयी बनाओ।"[11] एक स्थान में अग्नि से प्रार्थना की गई है, जिसमें कहा गया है[12] कि "हे अग्नि! हमारी बुद्धि को प्रेरित करो, जिस प्रकार घुड़दौड़ के मैदान में तेज घोड़ों को प्रेरित करते हो, जिससे कि बड़े बड़े पारि-

---

[1] ऋ० ४।२४।८, १०।१५६।१

[2] १३।२।४ 'त्वा पश्यन्ति परियान्तमाजिम्।"

[3] ऋ० ८।८०।८,

[4] ऋ० १।८१।३, १।११६।१५ ८।८०।८

[5] ऋ० ५।२९।८, ९।१४।५

[6] ऋ० ५।२९।८, ९।१६।५,

[7] ऋ० ८।५३।६

[8] ऋ० ८।५३।१४

[9] ऋ० २।३४।३, ९।१०९।१०, १०।६८।११, वैदिक इन्डैक्स १।५४

[10] ऋ० ८।८०।४,५ "इन्द्र प्रणो रथमव पश्चाच्चित्सन्तमद्रिव। पुरस्तादेनं मे कृधि॥ हन्तो नु किमाससे प्रथम नो रथं कृधि।"

[11] ऋ० ८।८०।६: "अस्मान्त्सु जिग्युषस्कृधि॥"

[12] ऋ० १०।१५६।१ "अग्निर्हिन्वन्तु नो धियः सप्तिमाशुमिवाजिषु। तेन जेष्म धनन्धनम्॥"

तोपिक पाते हैं।" उपरोक्त उद्धरणों से वैदिक आर्यों का रथदौड़ व घुड़दौड़ के प्रति अगाध प्रेम स्पष्ट होता है।

जुआ

वैदिक आर्य जुए के भी बड़े प्रेमी थे। ऋग्वेद में जुए को अक्ष कहा गया है, जिसका बार-बार उल्लेख आता है। ऋग्वेद में जुआरी को एक बड़े समुदाय का नेता कहा गया है ("सेनानीर्महतो-गणस्य")।[1] वैदिक साहित्य में जुए के खेल से सम्बन्धित कितनी ही बातों का उल्लेख आता है। जुआरी अपना सब कुछ हार जाते थे, यहाँ तक कि अपनी पत्नी को भी हार जाते थे।[2] अग्न्याधेय, राजसूय आदि के अवसर पर भी जुआ खेला जाता था।[3] कृत, त्रेता, द्वापर, कलि आदि जुए के विभिन्न दावों के नाम थे, जिनका उल्लेख वैदिक साहित्य में आता है।[4] यह खेल वैदिक युग में बहुत लोकप्रिय था। बहुत से नवयुवक इसके पीछे अपना सर्वस्व नष्ट कर निकम्मे बन जाते थे, और दुःखमय जीवन व्यतीत करते थे। ऋग्वेद में एक स्थान पर जुआरी की दयनीय स्थिति का चित्रण किया गया है[5], जिसका सारांश इस प्रकार है :—

"जब चौसर के ऊपर श्रेष्ठ पासे इधर से उधर जाते हैं, तब उन्हें देख कर अत्यंत विनोद होता है। पर्वत पर उत्पन्न होनेवाली श्रेष्ठ सोमलता का रस पान करने पर जो हर्ष उत्पन्न होता है, उसी प्रकार काष्ठ से बने पासे मुझे उत्साह प्रदान करते हैं। मेरी यह सुन्दर सुशीला भार्या मुझसे कभी भी असन्तुष्ट नहीं हुई। वह सदा मेरी और मेरे कुटुम्बियों की सेवा-शुश्रूषा करती रही है। परन्तु इस पासे ने ही मुझसे अत्यन्त प्रेम करनेवाली भार्या को पृथक् कर दिया है। जुआ खेलनेवाले पुरुष की सास उसे कोसती है और उसकी सुन्दरी भार्या भी उसे त्याग देती है। जुआरी को कोई एक फूटी कौड़ी भी

---

[1] ऋ० १०।३४।१२

[2] ऋ० १०।३४।२

[3] ए० सी० दास-ऋग्वेदिक कल्चर, पृ० २२८

[4] ऋ० १०।११६।९, अथर्व० ८।११४।१, तैत्तिरीय सं० ४।३।३।१,२, शतपथ ब्रा० ५।४।४।१६; वेदिक इंडेक्स १।४

[5] ऋ० १०।३४।१-१४

उधार नहीं देता—जैसे वृद्ध अश्व को कोई नहीं लेना चाहता, वैसे ही जुआरी को कोई पास में भी नहीं बैठने देता। पासे के घोर आकर्षण में जुआरी खिंचा रहता है। उसके पासे की चाल खराब होने पर उसकी भार्या भी उत्तम कर्मवाली नहीं रहती, जुआरी के माता, पिता और भाई भी उसे न पहिचानने का ढंग अपनाते हुए उसे पकड़वा देते हैं। मैं अनेक बार यह चाहता हूँ कि अब द्यूत नहीं खेलूँगा। यह विचार करके जुआरियों का साथ छोड़ देता हूँ, परन्तु चौसर पर पीले पासों को देखते ही मन ललचा उठता है और मैं विवश होकर जुआरियों के स्थान की ओर गमन करता हूँ। जब जुआरी उत्साह-पूर्वक जीतने की आशा से जुए के स्थान पर पहुँचता है, तब कभी तो उसकी इच्छा पूर्ण हो जाती है और कभी उसके विपक्षी की बलवती कामना पूर्ण होती है। परन्तु जब हाथ की चाल बिगड़ जाती है, तब पासा भी विद्रोही हो जाता है, वह जुआरी के अनुकूल नहीं चलता, तब वही पासा जुआरी के हृदय में बाण के समान प्रविष्ट होता है, छुरे के समान त्वचा को काटता, अङ्कुश के समान चुभता है और तपे हुए लोहे के समान दग्ध करनेवाला होता है। जो जुआरी जीतता है, उसके लिये पासा पुत्रजन्म का सा हर्ष देता हैं। संसार भर का माधुर्य उसी में भर जाता है, परन्तु पराजित जुआरी का तो मरण हो जाता है। जुआरी की पत्नी सदा संतप्त रहती है, उसका पुत्र भी मारा-मारा फिरता है। अपने पुत्र की चिन्ता में वह और भी चिन्तातुर रहती है। जुआरी सदा दूसरों के आश्रय में रात काटता है। उसे जो कोई कुछ उधार देता है, उसे अपने धन के लौटने में सन्देह रहता है। जो जुआरी धन जीतने पर प्रातःकाल अश्वारूढ़ होकर आता है, सायंकाल उसी के पास शरीर पर वस्त्र भी नहीं रहता। इसलिये जुआरी का कोई ठिकाना नहीं। हे अक्ष! तुममें जो प्रमुख है उसे मैं अपने हाथों की दसों अंगुलियों को मिला कर नमस्कार करता हूँ। मैं तुमसे धन की कामना नहीं करता। हे जुआरी जुआ खेलना छोड़ कर खेती करो। उस में जो लाभ हो उसी में सन्तुष्ट रहो। इसी कृषि के प्रभाव से गौएँ और भाय (आदि प्राप्त करोगे। यही सूर्य का कथन है।"

उपरोक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि वेदकालीन समाज जुए के व्यसन से परितप्त था, यहां तक कि ऋषि-मुनि भी इससे बच नहीं

पाते थे।[1] जुआ कदाचित् किसी निश्चित सार्वजनिक स्थान में खेला जाता था, जिसे सभा कहा जाता था।[2] वैदिक साहित्य में जुआरी को "सभा स्थाणु"[3] भी कहा गया है।

मेले-तमाशे

ऋग्वेद[4] में "समन" शब्द कितने ही स्थलों पर उल्लिखित है। पिशेल ने उसका अर्थ लोकप्रिय उत्सव किया है, जिसमें स्त्रियां सज-धज कर आनन्द मनाने के लिये जाती थीं[5], जहाँ कवि यश प्राप्त करने जाते थे[6] व जहाँ घुड़दौड़ हुआ करती थी।[7] यह उत्सव रात भर चलता था।[8] इस प्रकार इन उत्सवों में सब प्रकार के लोग सम्मिलित होकर आनन्द मनाते थे। इन अवसरों पर कविसम्मेलन, घुड़दौड़, नृत्य, वादन आदि कार्यक्रम हुआ करते थे, जिनमें आबालवृद्ध स्त्री-पुरुष सम्मिलित हुआ करते थे।

गीत, नृत्य, गाथा, संवाद आदि

कला के प्रकरण में गीत व नृत्य के विकास पर विचार किया जा चुका है। वेदकालीन समाज में उनकी बहुत लोकप्रियता थी। यह कहना न होगा कि मनोरञ्जन के साधनों में गीत व नृत्य का भी प्रमुख स्थान था। स्त्री पुरुष दोनों ही इन कलाओं का सेवन करते थे। तत्कालीन गाथा, संवाद आदि में भी उनका प्रयोग किया जाता होगा। वैदिक साहित्य में अनेकों स्थानों में गाथाओं का उल्लेख है। ब्राह्मण साहित्य में गद्यात्मक आख्यानों के बीच बीच में पद्यात्मक गाथाएँ रहती थीं, जिनको गाया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि ये गाथा युक्त आख्यान सिद्धहस्त कथावाचकों द्वारा हाव भाव के साथ सुनाये जाते थे, तथा उनके अन्तर्गत गाथाएँ गाई जाती थीं, जिनको सुनकर श्रोता मन्त्रमुग्ध हो जाते थे। धर्मप्राण वैदिक आर्यों

---

[1] ऋ० ७।८६।६

[2] ऋ० १०।३४।६

[3] यजु० ३०।१८, तैत्तिरीय ब्रा० ३।४।१६।१

[4] २।१६।७, ६।६०।२, ७।२।५

[5] ऋ० १।१२४।८, ४।५८।८, ६।७५।४, ७।२।५

[6] ऋ० २।१६।७, ९।९७।४७

[7] ऋ० ९।९६।९

[8] ऋ० १।४८।६

के लिये प्राचीन राजाओं के जीवन से सम्बन्धित आख्यान मनोरञ्जन के साधन थे। इन्हीं आख्यानों में से रामायण व महाभारत की कथाओं का जन्म हुआ।

ऋग्वेद में कितने ही संवाद सूक्तों का उल्लेख आता है, जिनका विवेचन कला के प्रकरण में किया गया है। कुछ विद्वानों का मत है कि यज्ञ के अवसर पर ऋत्विकों द्वारा संवादों का अभिनय किया जाता था। ये नाटकीय संवाद भी वैदिक युग मे मनोरञ्जन के महत्त्व, पूर्ण साधन थे। उन्हें प्राचीन भारतीय नाटकों के प्रारंभिक स्वरूप के समान भी माना जाता है। इस प्रकार वैदिक आर्यों के लिये नाटकीय संवाद भी मनोरञ्जन के महत्त्वपूर्ण साधन थे।

उपसंहार

ऊपर वेदकालीन साहित्य, कला, विज्ञान, मनोरंजन के साधन आदि के बारे में जो कुछ लिखा गया है, उसके द्वारा हमें वैदिक आर्यों के सर्वाङ्गीण विकास का स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है। वैदिक आर्यों ने जीवन के प्रत्येक पहलू का विकास करना अपना परम कर्तव्य समझा था। समाजनीति, अर्थनीति, राजनीति, धर्म, दर्शन आदि गम्भीर विषयों के अभ्यस्त वैदिक आर्यों की साहित्य, कला आदि की ओर नैसर्गिक प्रवृत्ति को देखकर हमें उनके सांस्कृतिक विकास की परिपूर्णता व सर्वाङ्गीणता का भास होता है।

वैदिक आर्यों ने न केवल अपनी आत्मा व बुद्धि का ही आश्चर्यजनक विकास किया, किन्तु उन्होंने हृदय व उसके अन्दर हिलोरें लेनेवाले भावों का भी महत्त्व समझा। उन्होंने अपने सुन्दर सुन्दर भावों को कला के रूप में प्रकट करना प्रारंभ किया, जिसके परिणामस्वरूप साहित्य, कला आदि का विकास होने लगा। उनकी भावनाओं ने काव्य, नृत्य, गीत आदि कलाओं का रूप धारण किया, और साहित्य व कला के क्षेत्र में आश्चर्यजनक विकास किया गया।

कला प्रेमी वैदिक आर्यों ने अपने बौद्धिक विकास द्वारा भौतिक जगत् को भी समझने का प्रयत्न किया, जिसके परिणामस्वरूप भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, भूगर्भशास्त्र, शरीरशास्त्र, आयुर्वेद, ज्योतिष, गणित आदि के विकास का श्रीगणेश किया गया। इस प्रकार वेदकालीन समाज सर्वाङ्गीण सांस्कृतिक विकास के मार्ग में अग्रसर हुआ था।

अध्याय—१०

उपसंहार

सर्वांगीण सामाजिक जीवन

वेदकालीन समाज के बारे में पिछले पृष्ठों में जो कुछ लिखा गया है, उस पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करने से तत्कालीन सामाजिक जीवन के कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य हमारे सामने उपस्थित होते हैं। वैदिक साहित्य में जिस समाज का प्रतिबिम्ब है, उसने सर्वांगीण सामाजिक जीवन के विकास द्वारा एक मानव-संस्कृति का विकास किया था। वेदकालीन सामाजिक जीवन उदार सिद्धान्तों पर आश्रित था व उसमें जीवन के हर एक पहलू को स्पर्श किया गया था। जीवन के भौतिक, मानसिक व आध्यात्मिक पहलू के मध्य पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित करके उनका सम्यक् विकास किया गया था। वेदकालीन समाज में जीवन का ऐसा क्रम बनाया गया था, जिससे शरीर, मन या बुद्धि व आत्मा का सानुपातिक व सामंजस्यपूर्ण विकास किया जा सके। वेदमन्त्रों के आलोचनात्मक अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जायगी। वैदिक आर्य अपने देवताओं से सर्वदा यही प्रार्थना किया करते थे कि हमें बल प्रदान करो, धन प्रदान करो तथा संसार के सुख-दुख के बन्धनों से मुक्त कर शाश्वत् शान्ति प्रदान करो। वे भौतिक व आध्यात्मिक दोनों सुखों की आकांक्षा रखते थे। उपनिषदों के 'प्रेय' व 'श्रेय' में उन्हीं दोनों का समावेश होता था।

ईश्वर-प्रदत्त शक्तियों का सम्यक् विकास वेदकालीन सामाजिक जीवन का मूल-मंत्र था। वैदिक आर्यों ने युद्ध किये थे, राज्य या साम्राज्य भी स्थापित किये थे। इन्होंने दासों या दस्युओं को कई बार पराजित भी किया था व इस कार्य में अपने इष्ट देवता इन्द्र से सहायता भी प्राप्त की थी। इतना रहते हुए भी साम्राज्य स्थापना या अन्यों को अपनी सत्ता द्वारा रौंधना उनके जीवन का उद्देश्य नहीं था। उनके जीवन का उद्देश्य "कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्" या समस्त विश्व को आर्य बनाना था, अर्थात् जिस मानव-संस्कृति का उन्होंने विकास किया था, उसका प्रसार व प्रचार विश्व में करना, जिससे सब लोग

उससे लाभ उठा कर सुख प्राप्त कर सकें। इसी भाव से प्रेरित होकर वैदिक आर्यों ने दासों व दस्युओं को पराजित करके अपने समाज में समुचित स्थान दिया तथा आदान-प्रदान के सिद्धान्त के अनुसार उनकी भी बहुत सी बातों को अपने सामाजिक जीवन में स्वीकार कर उदार व उदात्त सिद्धान्तों पर आश्रित सांस्कृतिक विकास का मार्ग अपनाया। इसी वातावरण में सामाजिक समता का सिद्धान्त विकसित किया गया। स्त्री पुरुष, नीच ऊंच सब को आत्म विकास का पूरा पूरा अवसर प्रदान किया गया था। यही कारण है कि कवष ऐलूष, कक्षिवत् आदि जैसे दासीपुत्र व घोषा काक्षीवती, अपाला आत्रेयी जैसी स्त्रियों को मन्त्रद्रष्टृत्व जैसे महान् पद के योग्य माना गया था।

वेदकालीन समाज ने मानव की विभिन्न शक्तियों के विकास को सांस्कृतिक विकास का मूल मंत्र माना था। मनुष्य में तीन प्रकार की निसर्गसिद्ध शक्तियां हैं, जिनका सम्बन्ध शरीर, मन व आत्मा से है। शारीरिक, मानसिक व आत्मिक शक्ति का विकास ही वैदिक आर्यों के जीवन का मुख्य ध्येय था। इसी ध्येय की प्राप्ति में वे प्रयत्नशील रहा करते थे। इसीलिये उनकी संस्कृति सच्चे अर्थ में संस्कृति थी। उन्होंने जीवन की पहेलियों को समझना भी जीवन का कर्तव्य समझा था।

परमात्मा ने मनुष्य मात्र को शरीर दिया है। गर्भस्थिति से लेकर चितारोहण या गर्तप्रवेश तथा इस पांच तत्त्व के पुतले का कैसा विकास होता है यह एक पहेली है। वैदिक आर्यों ने इस विकास का व शरीर के विभिन्न अङ्गों का सम्यक् अध्ययन किया था व उस रहस्य को कुछ अंशों में समझ लिया था। इस प्रकार शरीर-शास्त्र के भिन्न-भिन्न अङ्गों का विकास हुआ। शारीरिक विकास के मार्ग की अन्य बाधाओं को दूर करने के लिये आयुर्वेद का विकास किया गया था। प्राचीन भारत में शारीरिक शक्ति के विकास के लिये ऐसे नियम व इस प्रकार का जीवन क्रम बनाया गया था, जिससे शारीरिक विकास मानसिक व आत्मिक विकास के मार्ग में बाधारूप न बनकर उनका सहायक ही बने। शरीर के विकास के लिये शरीर-शास्त्र को समझना आवश्यकीय माना गया था। व्यायाम, यम, नियम, प्राणायाम, आसन, ब्रह्मचर्य्यादि द्वारा शरीर के भिन्न-भिन्न अङ्गों को पुष्ट किया जाता था। यही कारण है कि वैदिक आर्य दीर्घजीवी थे।

वेद में "पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम्" आदि शब्दों द्वारा कम से कम सौ वर्ष तक जीवित रहने का दृढ़ संकल्प दर्शाया गया है। व्यायाम के द्वारा शारीरिक शक्ति का विकास होता है, जो यम, नियम आदि के द्वारा नियन्त्रित तथा संचालित किया जाता है। यह विकास मानसिक शक्ति के विकास के लिये भूमिका भी तैयार करता है। यम, नियम आदि के द्वारा इन्द्रियों पर सफलतापूर्वक नियन्त्रण व अधिकार रखा जाता है। प्राणायाम व आसन चंचल चित्तवृत्ति का निरोध कर उसे एकाग्र बनाते हैं। प्राणायाम फेफड़ों को अधिक शक्तिशाली बनाकर हृदय को शक्ति प्रदान करता है, जिससे मानसिक शक्ति के विकास में सहायता मिले। मस्तिष्क में शुद्ध रक्त अधिक मात्रा में पहुँचने से विचार शक्ति बढ़ जाती है। इस प्रकार प्राचीन भारत ने शारीरिक शक्ति के विकास की एक ऐसी योजना बनाई थी, जिससे मानसिक व आत्मिक विकास को पूरी पूरी सहायता मिले। शारीरिक विकास की ऐसी व्यवस्था अन्यत्र कहीं नहीं दीखती।

वैदिक युग के सांस्कृतिक विकास में मानसिक शक्ति को भी समुचित स्थान दिया गया था। वैदिक आर्यों ने मानव के अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग को अच्छी तरह से समझ लिया था। कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि, सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर आदि के ज्ञान द्वारा वेदकालीन समाज ने मानसिक विकास की एक सुन्दर योजना बनाई थी, जिसे आश्रमव्यवस्था की सहायता से सफल बनाया जाता था। प्राचीन भारत के ऋषियों ने विश्व की पहेलियों को समझना ही मानसिक विकास का उद्देश्य माना था। उन्होंने जीव व ब्रह्म की गुत्थियों को सुलझाकर उनमें एकत्व के दर्शन करने का प्रयत्न किया, जैसा कि वेद उपनिषदादि में उल्लिखित है। उन्होंने परमात्मा को उसकी कृति से समझने की कोशिश की, मानवसेवा को ही परमात्मा की सेवा समझा। परमात्मा की महिमा को उसकी कृति से समझने के भाव से प्रेरित होकर उन ऋषियों ने जंगल में बसना उचित समझा, क्योंकि वहाँ तो परमात्मा के रहस्य को समझानेवाली प्रकृति देवी के साक्षात्कार हो सकते थे, वहां पुरुष व प्रकृति के नग्न अट्टहास को देख व समझ सकते हैं। यही कारण है कि आश्रमव्यवस्था की प्रथा के अनुसार ब्रह्मचारियों व वानप्रस्थियों को अपना जीवन जंगल में ही व्यतीत करना पड़ता था। वहाँ के शुद्ध वातावरण में गुरुकुल रहते थे, जहाँ वैदिक युग के ब्रह्मचारी ब्रह्म प्राप्ति में प्रयत्नशील होने

थे, वे केवल विद्या में ही रत न रहते थे। उपनिषदों के अनुसार केवल विद्या में रत रहनेवाले महान् अंधकार में रहते हैं। अन्य देश तो केवल विद्यार्थी ही पैदा करते थे, किन्तु भारत ब्रह्मचारियों को जन्म देता था। जो आजन्म ब्रह्मचारी रहते थे, वे समय की गति व इतिहास के पृष्ठों को भी उलट देते थे। इस प्रकार गुरुकुल के ब्रह्मचारी परमात्मा की कृति का अध्ययन कर मानसिक विकास में अग्रसर होते थे, जिससे आत्मिक विकास में पूरी-पूरी सहायता मिले।

आत्मिक विकास के महत्त्व को जितना पहिले व जितना अधिक भारत ने समझा है, उतना और कोई देश न समझ सका। सचमुच में जबतक आत्मा को नहीं समझा जाता, तब तक सब ज्ञान अधूरा ही रहता है। हम स्वतः यह भी नहीं जान पाते कि हम कौन हैं, किस प्रकार इस हाड़, मास, चाम के पुतलों में समा जाते हैं, व जब निकलते हैं, तब कहां जाते हैं। हमने उत्तर व दक्षिण ध्रुव को खोज डाला, आफ्रिका के घने जंगल मथ डाले, दुनिया भर को ढूंढ़ मारा, जंगल के जानवरों व आकाश में उड़ने वाले पक्षियों को समझ लिया, किन्तु हम अपने आपको न समझ पाये। वैदिक काल के ऋषियों ने यही कहा कि "आत्मानं विजानीहि।"

आत्मदर्शन ही वेदकालीन संस्कृति का निचोड़ है। उसके अनुसार आत्मा को समझ उसे जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त करना ही मानव जीवन का एक मात्र ध्येय है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि की प्राप्ति के लिये मनुष्य को जीवित रहना चाहिये। प्राचीन भारत में साहित्य, काव्य, कला, विज्ञान आदि इसी वर्गचतुष्टय की प्राप्ति के लिये विकसित किये गये थे। आत्म तत्त्व की महिमा ऋग्वेद के नासदीय सूक्तादि तथा उपनिषदों में गाई गई है। "अहं ब्रह्मास्मि", "सर्वं खलु इदं ब्रह्म", "तत्त्वमसि" आदि वाक्यों द्वारा अद्वैतवाद की स्थापना कर उपनिषदों ने आत्म-साक्षात्कार द्वारा अमृतत्त्व का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। तत्कालीन समाज का प्रत्येक व्यक्ति अमृतत्त्व की प्राप्ति को ही जीवन का महान् उद्देश समझता था। इस प्रकार वैदिक युग में शारीरिक मानसिक व आध्यात्मिक शक्तियों के विकास द्वारा सर्वाङ्गीण सामाजिक जीवन का विकास किया गया था, जिसके अन्तर्गत मानव सच्चे अर्थ में मानव बन जाता था।

सामञ्जस्यपूर्ण जीवन

वेदकालीन समाज में हमें सामञ्जस्यपूर्ण जीवन के दर्शन होते हैं। वैदिक आर्यों ने अपने सामाजिक जीवन का विकास समाजशास्त्र व निसर्ग के सिद्धान्तों के आधार पर किया था, जब कि विभिन्न तत्वों के मध्य सामञ्जस्य स्थापित किया गया था। वैदिक आर्यों को काले रंगवाले असभ्य दास व दस्युओं से निपटारा करना पड़ा था। आर्यों ने दस्युओं से युद्ध अवश्य किये, किन्तु उन्होंने हमेशा के लिये वर्णभेद के आधार पर उनको कुचल देने की नीति नहीं अपनाई। उन्हें समाज में समुचित स्थान देकर रंगभेद की भावना को दूर करने के लिये वर्ण-व्यवस्था का विकास किया गया। इस प्रकार आर्य व दस्यु के मध्य सामञ्जस्य स्थापित किया गया, और दोनों ने सांस्कृतिक विकास में अपना हाथ बटाया। इस वर्ण-व्यवस्था के अनुसार समस्त समाज की जीवित पुरुष के रूप में कल्पना की गई, तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र को उसके विभिन्न अङ्गों से सम्बन्धित किया गया, जिसका विवेचन ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में किया गया है। दस्युओं को उनके अनुरूप कार्य प्रदान कर उन्हें समाज की सदस्यता प्राप्त कराई गई तथा वे योग्य नागरिक बन गये। "कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्" का श्रीगणेश यहीं से होता है। मानवता के सिद्धान्तों पर सांस्कृतिक जीवन का विकास कर के उसे विश्व में प्रसारित करने का आदर्श वेदकालीन समाज ने अपने सम्मुख रखा था, जिसको मूर्तस्वरूप भी दिया गया था। इस प्रकार आर्यों ने दस्युओं व अपने बीच सुन्दर सामञ्जस्य स्थापित किया था।

वैदिक आर्यों ने व्यक्ति व समाज के पारस्परिक सम्बन्ध व उत्तर-दायित्व को भली-भांति समझ कर दोनों के मध्य सामञ्जस्य स्थापित करने का सफल प्रयत्न किया था, जैसा कि प्राचीनकालीन अन्य देशों में हुआ था। प्राचीन भारत में वैदिक आर्यों ने वैयक्तिक विकास को इतना अवसर प्रदान नहीं किया कि वह समाज पर अपना पूर्ण नियन्त्रण व अधिकार स्थापित कर उसे अपना दास बना ले। प्राचीन चीन, बाबुल, मिश्र, रोम, यूनान आदि में यही चरितार्थ हुआ था। उन देशों में राजा का व्यक्तित्व इतना विकसित हुआ कि उसने पाशविक बल के आधार पर सम्पूर्ण समाज में आतङ्क ही स्थापित कर दिया था, वैयक्तिक विकास के लिये बहुत कम अवसर प्राप्त होता था। आधुनिक समाज में परिस्थिति इसके बिलकुल विपरीत

है। आधुनिक युग में जनतन्त्र के नाम पर समाज ने व्यक्ति को पूरी तरह से दबा दिया है। शासन व सत्ताधीश दल जनतन्त्र के नाम पर व्यक्ति के स्वतन्त्र विकास को अवरुद्ध कर देते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेतर देशों ने व्यक्ति व समाज के परस्पर संबंध व उत्तरदायित्व को अच्छी तरह नहीं समझा था। इस बात का सर्वप्रथम श्रेय वैदिक युग के आर्यों को है कि उन्होंने अपने सांस्कृतिक विकास में व्यक्ति व समाज के पारस्परिक सम्बन्ध व उत्तरदायित्व को समझ दोनों के मध्य सुन्दर सामञ्जस्य स्थापित किया। आश्रम व्यवस्था के विकास के द्वारा मानव जीवन को चार विभागों में विभाजित किया गया था, जैसे ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम व संन्यासाश्रम। इन आश्रमों में वैयक्तिक विकास की पूर्ण व्यवस्था रहती थी। इन आश्रमों के द्वारा समाज ऐसे व्यक्तियों को जन्म देता था, जो स्वार्थ, अहंकार, ईर्ष्या, द्वेष आदि मानव षड्रिपुओं को नियन्त्रण में रख कर लोककल्याण की भावना से प्रेरित होकर जीवन की पहेलियों का समझते हुए शाश्वत् सुख की प्राप्ति व स्थापना मे अपना समस्त समय लगा देते थे। ऐसे ही व्यक्ति समाज के लिये रास्ता भी बनाते थे, समाज के विभिन्न समुदायों के कर्तव्य व उत्तरदायित्व निश्चित करते थे, जिन्हें धर्म के नाम से जाना जाता था। ऐसे ही व्यक्तियों के सत्प्रयत्नों का हम आज भी वेदों व उपनिषदों के रूप में पाते हैं, जो इस बीसवीं शताब्दी के लिये भी प्रेरणास्रोत हैं। वरुण के ऋत से प्रेरित होकर उन नागरिकों ने समाज में नैतिक नियमों का साम्राज्य स्थापित किया, समाज में नैतिकता के भाव की जागृति की जिसके कारण व्यष्टि व समष्टि के मध्य नैसर्गिक रूप में ही सामञ्जस्य स्थापित होने लगा। इस सामञ्जस्य की भूमिका के रूप में सामाजिक जीवन की सफलता के एक महान् सत्य का उपस्थित किया गया। 'ईशावास्यमिदं सर्वं' आदि वेदवचनों द्वारा समाज में यह भाव अङ्कित किया गया कि इस विश्व में जो कुछ भी है, वह किसी की बपौती नहीं है, सब कुछ ईश्वर से व्याप्त है, ईश्वर के बिना किसी भी वस्तु का कोई महत्त्व नहीं है। अतएव त्यागवृत्ति से ही संसार की वस्तुओं का उपभोग करना चाहिये, किसी के धन पर अधिकार करने की वृत्ति नहीं रखनी चाहिये। ईश्वर की सत्ता, त्यागवृत्ति, सांसारिक वस्तुओं की क्षणभङ्गुरता आदि के कारण समाज में निरीह, निर्लेप व अप्रतिग्रह वृत्ति सर्वदा बनी रहती थी।

इसके कारण समाज में किसी प्रकार की विषमता उत्पन्न नहीं होती थी, प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह राजा हो या रङ्क अपने-अपने कार्यक्षेत्र में रत रहकर समाज द्वारा निश्चित अपने कर्तव्यों व उत्तरदायित्वों का निर्वाह करता था। इस प्रकार आश्रमव्यवस्था ने समाज में नैतिकता का उदात्त वातावरण उत्पन्न किया था, जिसके कारण समाज की कितनी कठिनाइयां दूर हो जाती थीं।

भौतिक व आध्यात्मिक जीवन के मध्य सामञ्जस्य भी वैदिक युग के सामाजिक जीवन की महत्त्वपूर्ण विशेषता थी। वेद्युगीन भारत में भौतिक आवश्यकताओं को ही सब कुछ नहीं समझा गया था। उस युग में आजकल के समान भौतिक आवश्यकताओं की वृद्धि नहीं की जाती थी। आध्यात्मिक विकास के दृष्टिकोण से ही भौतिक विकास किया जाता था। शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति का पूरा ख्याल रखा जाता था, किन्तु यह सब आत्मसाक्षात्कार के आध्यात्मिक उद्देश को ध्यान में रख कर ही किया जाता था। ऋग्वेद में स्थान स्थान पर "वयं स्याम पतयो रयीणाम्" आदि शब्दों द्वारा धनपति बनने की आकांक्षा दर्शाई गई है। वेदकालीन समाज के भौतिक ऐश्वर्य की झाँकी हमें वैदिक देवताओं के भौतिक ऐश्वर्य से प्राप्त होती है। इन्द्र, वरुण, विष्णु आदि देवता शारीरिक सौन्दर्य व बल के आगार के रूप में चित्रित किये गये हैं। सुन्दर व बहुमूल्य वस्त्र धारण कर वे सुवर्ण के रथ में बैठकर घूमते थे। देवताओं का भौतिक ऐश्वर्य समाज के भौतिक ऐश्वर्य की प्रतिच्छाया मात्र है। किन्तु तत्कालीन समाज के जीवन में भौतिकता ही सब कुछ नहीं थी, उस भौतिकता के पीछे आध्यात्मिकता का पुट था। यद्यपि वैदिक देवता भौतिक ऐश्वर्य के आगार थे, तथापि अमृतत्त्व की प्राप्ति व सांसारिक बन्धनों से मुक्ति के भी वे कारण थे। इसी प्रकार वेदकालीन समाज की भौतिकता के पीछे विष्णु आदि देवताओं के लोक का रसास्वादन तथा आत्मसाक्षात्कार की उत्कट इच्छा की भूमिका थी, जिसके कारण समाज भौतिकता के गर्त में पड़ने से बच गया, व उसने भौतिकता व आध्यात्मिकता के मध्य सामञ्जस्य स्थापित किया। वेदकालीन नागरिक भौतिक ऐश्वर्य को प्राप्त करता हुआ भी सर्वदा इस तथ्य को अपने सामने रखता था कि उसे अमृतत्व प्राप्त करना है, जीवन के त्रिविध तापों व पाशों से मुक्त होना है। इस प्रकार वेदकालीन सामाजिक जीवन बड़ा सुखमय बन

गया था। भौतिकता व आध्यात्मिकता के मध्य स्थापित सामञ्जस्य के दर्शन हमें उपनिषदों के अध्यात्मवाद में होते हैं। उपनिषदों में राजा व ऋषि दोनों ही आत्मविचारत रहते थे। उपनिषदों में कितनी ही कथाएँ आती है, जिनमें चरम श्रेणी का भौतिक विकास चित्रित किया गया है, किन्तु अन्त में उसपर आध्यात्मिकता की विजय करवाई गई है। सयुग्वा रैक्व, जो भौतिक ऐश्वर्य की दृष्टि से अकिञ्चन था, किन्तु संवर्ग-विद्या के कारण आध्यात्मिकता का धनी था, एक महान् राजा के अकथित वैभव को ठुकरा देता है, जिसके द्वारा वह राजा उसकी संवर्गविद्या को खरीदना चाहता था। वह रैक्व उस राजा को संवर्ग-विद्या सिखाने के लिये तब राजी होता है जब वह आत्मा के महत्त्व को समझ अपनी आत्मजा का विवाह उस तपस्वी से करता है। इसी प्रकार याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी सांसारिक ऐश्वर्य को त्याग देती है, क्योंकि उससे अमृतत्व प्राप्ति की कोई आशा नहीं थी। उपनिषदों में वर्णन आता है कि दारैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा आदि का त्याग कर, आध्यात्मिक विकास के लिये लोग वन में प्रस्थान करते थे। इन सब उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि वैदिक युग के सामाजिक जीवन में भौतिक समृद्धि व ऐश्वर्य की प्राप्ति के पश्चात् लोग आध्यात्मिक विकास की ओर अग्रसर होते थे, जो कि उनके जीवन का अन्तिम ध्येय था। यह सब भौतिक व आध्यात्मिक जीवन के मध्य स्थापित सामञ्जस्य के कारण संभव हो सका था।

वेदकालीन समाज में ऐहिक व पारलौकिक दृष्टिकोण को भी विकसित किया गया था, जिसके कारण आध्यात्मिकता का मार्ग प्रशस्त हो जाता था व समाज भौतिकता की चकाचोंधी में फँस नहीं जाता था। वैदिक आर्यों ने प्रारंभ से ही तीन अनादि व अनन्त तत्वों को भलीभाँति समझ लिया था। इस प्राकृतिक जगत् के दर्शन उन्होंने 'अदिति' के रूप में किये। विश्व ही उन्हें अदितिमय दिखाई देने लगा। विभिन्न वैदिक देवता भी अदिति के पुत्रों के रूप में आदित्य कहलाने लगे। इस महान् अदिति की पृष्ठभूमि में उन्होंने 'हिरण्यगर्भ', 'प्रजापति', परम 'पुरुष', 'सत्' आदि के दर्शन किये, जिन्होंने उपनिषदों में ब्रह्म का रूप धारण किया। वैदिक आर्यों ने आन्तरिक आत्मशक्ति को भी पहिचान लिया था। इस प्रकार अदिति, हिरण्यगर्भादि, तथा आत्मा द्वारा उन्होंने प्रकृति, जीव व ब्रह्म के स्वरुप को समझ लिया व तीनों में सामञ्जस्य स्थापित किया। इस

ऊहापोह की परिणति नासदीय सूक्त में दर्शाई गई उस स्थिति में हुई, जब कि सृष्टि के प्रारंभ में न असत् था न सत्, "वही एक था।" नासदीय सूक्त का "वही एक" उपनिषदों के ब्रह्म में परिणत हो गया। इस प्रकार वैदिक आर्यों ने इस प्राकृतिक या भौतिक अस्तित्व के अतिरिक्त भी एक ऐसा अस्तित्व स्वीकार किया, जिसका सम्बन्ध आत्मा व परमात्मा से था। आत्मा का अस्तित्व यथार्थ माना गया था, भौतिक अस्तित्व तो क्षणभङ्गुर था। आत्मा का अस्तित्व इस भौतिक जगत् के परे भी माना गया। इस तथ्य को पुरुषसूक्त में बहुत ही अच्छे ढङ्ग से समझाया गया है। सहस्रशीर्ष, सहस्राक्ष, सहस्रपात् पुरुष समस्त भूमि में व्याप्त होकर उससे दस अंगुल ऊपर स्थित है। जो कुछ है, जो कुछ हुआ है व जो कुछ होनेवाला है, वह सब पुरुष ही है, और वह अमृतत्व का व जो कुछ अन्न से वृद्धिगत होता है उसका शासक है। इस पुरुष की इतनी महिमा है, किन्तु वह इससे भी श्रेष्ठ है। उसके एकचतुर्थांश से ये सब भूत बने, उसका तीन चतुर्थांश, जोकि अमृतत्व है, आकाश में है। उस पुरुष का तीन चतुर्थांश ऊपर गया व एक चतुर्थांश यहाँ रहा, उसके द्वारा वह इस जड़-चेतन सब में व्याप्त हुआ।" इस प्रकार इन मन्त्रों में भौतिकत्व व आध्यात्मिकत्व अथवा अमृतत्व के मध्य सुन्दर सामञ्जस्य स्थापित किया गया है, व अमृतत्व को अधिक महत्त्वपूर्ण व उपादेय बताया गया है।

जीवन मरण की समस्या ने वैदिक आर्यों के हृदय पर संसार की क्षणभङ्गुरता का भाव अङ्कित किया। इस परिवर्तनशील संसार में उन्होंने आत्मतत्त्व को ही परिवर्तनों से परे पाया, तथा पुनर्जन्म व कर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर जीवन मरण की समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया। उन्होंने यह सिद्धान्त स्थिर किया कि जीवात्मा अपने कर्मों के कारण जीवन मरण के बन्धन में फँस कर जन्म जन्मान्तर तक विभिन्न योनियों में भटकता फिरता है, व दुःख का अनुभव करता है, अतएव उसके लिये आवश्यकीय हो जाता है कि वह परम आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर अमृतत्व को प्राप्त करे। इस प्रकार वैदिक आर्यों ने ऐहिक व पारलौकिक तत्त्वों के मध्य सामञ्जस्य स्थापित करके जीवन के प्रति भौतिकत्व की आधार-शिला पर स्थित विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टिकोण विकसित किया था, जो आज भी भारतीय जन जीवन की विशेषता है।

वर्गचतुष्टय

उपरोक्त आध्यात्मिक दृष्टिकोण के विकसित होने पर वैदिक आर्यों के लिये यह भी आवश्यकीय हो गया कि वे मानव जीवन का ध्येय निश्चित करें। उन्होंने अपने आध्यात्मिक विकास के अनुरूप ही वर्गचतुष्टय अर्थात् धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष की प्राप्ति ही मानव जीवन का ध्येय निश्चित किया। धर्म से उन नैतिक व आध्यात्मिक नियमों का तात्पर्य था, जिनको जीवन में आचरित करने से शारीरिक, मानसिक व आत्मिक शक्तियों के विकास के द्वारा मानव सच्चे अर्थ में मानव बन जाता था। इस प्रकार जीवन की भूमिका तैयार करके अर्थ की ओर बढ़ना पड़ता था। अर्थ से भौतिक ऐश्वर्य्य, समृद्धि आदि से तात्पर्य है। धर्म की भूमिका पर कृषि, वाणिज्य, औद्योगिक विकास आदि द्वारा आर्थिक विकास करना मानव-जीवन का महान् ध्येय माना गया था। अर्थप्राप्ति के पश्चात् काम अर्थात् जीवन की उदात्त आकांक्षाओं व महत्त्वाकांक्षाओं की ओर ध्यान दिया जाता था। आध्यात्मिक दृष्टिकोण के विकसित होने के कारण वैदिक आर्य के लिए काम-प्राप्ति का अर्थ आध्यात्मिक विकास के मार्ग में अग्रसर होकर लोकसेवा, परोपकार आदि द्वारा आत्मविकास करना पड़ता था। इसी आत्मविकास द्वारा जीवन का अन्तिम ध्येय मोक्ष सिद्ध होता था। मोक्ष का अर्थ जीवात्मा को जीवन-मरण के बन्धनों से मुक्त कर ब्रह्मसाक्षात्कार द्वारा शाश्वत् सुख का अनुभव कराना होता था। यही वैदिक आर्यों के जीवन का अन्तिम ध्येय था। इसी के लिये विचारशील व्यक्ति दारैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा आदि को तिलाञ्जलि देकर वन में प्रवेश कर आत्मविचारन होते थे। इस प्रकार वैदिक आर्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि की प्राप्ति में ही अपने सब प्रयत्न लगा देते थे। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि का सम्यक् अध्ययन कर वैदिक युग के पश्चात् उन पर आधारित अलग-अलग शास्त्र भी विकसित किये गये थे, जैसे धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र व मोक्ष का शास्त्र अर्थात् ब्रह्मविद्या या वेदान्तादि दर्शन।

विभिन्न संस्थायें

उपरोक्त वर्गचतुष्टय को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करने के लिये वैदिक आर्यों ने जीवन के सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि क्षेत्रों से सम्बन्धित विभिन्न संस्थाओं को जन्म दिया था, जिनके कारण

वैदिक आर्यों के सामाजिक जीवन का ढाँचा इतना मजबूत बन गया कि उसके कुछ अंशों में आज भी दर्शन हो सकते हैं। इन संस्थाओं मे वर्णाश्रम-व्यवस्था, राजपद व अन्य राजनैतिक संस्थाए तथा आर्थिक व्यवस्था अधिक महत्वपूर्ण थे। वर्णव्यवस्था, जैसा कि पहिले बताया जा चुका है, समाज की विभिन्न विषमताओं को दूर कर उसमें कर्तव्य, उत्तरदायित्व व समता का भाव स्थापित करती थी। समाज को कार्यविभाग के सिद्धान्त के आधार पर चार विभागों मे विभाजित किया गया था, जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य व शूद्र। पुरुष-सूक्त में इन चार वर्णो को समाजरूपी पुरुष के मुख, भुजा, जङ्घा व पैर से क्रमशः सम्बन्धित किया गया है। चारों वर्ण मिलकर समाज की सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। उसकी धार्मिक, आध्यात्मिक व बौद्धिक आवश्यकताओं की पूर्ति का उत्तरदायित्व ब्राह्मणों पर था। वे उत्तम विचारों व आचार द्वारा समाज का नेतृत्व कर उसे सन्मार्ग में प्रवृत्त करते थे। समाज के रक्षण का भार क्षत्रियों पर था, जो सैनिक शक्ति के विकास से राजतंत्र को मजबूत बनाकर बाह्य व आन्तरिक आपत्तियों से समाज की रक्षा करते थे। वैश्य समाज के भरण-पोषण के लिये उत्तरदायी थे, और वे कृषि, वाणिज्य आदि के विकास द्वारा यह कार्य सम्पादित करते थे। चौथा वर्ण शूद्र समाज की सेवा से सम्बन्धित था। इस प्रकार ये चारों वर्ण अपने-अपने क्षेत्रों में अपने कर्तव्यों को पूरा करते थे। वेदकालीन समाज के जीवन में ये चार प्रकार के कार्य्य महत्व के थे। कोई भी व्यक्ति किसी भी कार्य को स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकता था। यही कारण है कि ऋषियों में राजा हुए, राजाओं में ऋषि हुए, शूद्रों मे भी राजा व ऋषि हुए थे। वैदिक युग की वर्णव्यवस्था कर्ममूला थी, न कि जन्ममूला।

वेदकालीन सामाजिक जीवन में आश्रम-व्यवस्था का भी कुछ कम महत्व नहीं था। इस व्यवस्था के अनुसार मनुष्य के जीवन को चार बराबर के विभागों में विभाजित किया गया था, जो कि चार आश्रम कहलाते थे, जैसे ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास। इन आश्रमों द्वारा वैदिक आर्य अपने जीवन को पूर्णतया अनुशासन-युक्त बनाकर विभिन्न कर्तव्यों व उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने की शक्ति प्राप्त करते थे। वे इन आश्रमों द्वारा पितृऋण, ऋषिऋण व देवऋण को भी चुकाते थे। ब्रह्मचर्य्याश्रम में विद्याभ्यास व तपद्वारा शारीरिक, मानसिक व आत्मिक विकास करना पड़ता था। तत्पश्चात् गृहस्था-

श्रम में प्रवेश कर सन्तानोत्पत्ति द्वारा समाज के प्रति अपना कर्तव्य पूरा करना पड़ता था। प्रत्येक गृहस्थी को समाज के कल्याण के लिये जीवित रहना पड़ता था। उसका आर्थिक वैभव, समृद्धि आदि सब समाज के लिये रहते थे। इस आश्रम को छोड़ वानप्रस्थ में प्रवेश कर उसे आत्मविकास के कार्य में रत होना पड़ता था, और अन्त में संन्यास आश्रम में प्रवेश करने पर उसे माया मोह के सब बन्धन तोड़ने पड़ते थे, तथा केवल समाज के लिए जीवित रहना पड़ता था। इस प्रकार आश्रम व्यवस्था के कारण वैदिक आर्यों में अनुशासन की भावना जागृत होती थी, स्वार्थ, अहंकार आदि उनसे दूर रहते थे तथा वे अपने को समाज का घटक समझ उसी की सेवा में अपना जीवन व्यतीत करते थे। आश्रम व्यवस्था से समाज को एक और लाभ था, उसके कारण प्रवृत्ति व निवृत्ति मार्गों के मध्य सामञ्जस्य स्थापित किया गया था। इसी सामञ्जस्य ने वेदकालीन सामाजिक जीवन को सन्तुलित किया था।

वेदकालीन समाज का राजनैतिक जीवन राजपद, सभा, समिति आदि संस्थाओं द्वारा सञ्चालित किया जाता था। वेदकालीन राजा शान्ति, व्यवस्था, सुशासन, ऐश्वर्य, समृद्धि आदि का प्रतीक माना जाता था। समाज का कल्याण करना उसके जीवन का महान् उद्देश था। राजा के इस स्वरूप की झांकी हमें वरुण देवता के चित्रण में स्पष्टतया दिखाई देती है। इसीलिये वरुण को बार-बार राजा वरुण, सम्राट् वरुण आदि शब्दों से सम्बोधित किया गया है। क्षात्रतेजपूर्ण व राष्ट्रीयता से ओतप्रोत राजशक्ति के दर्शन ऋग्वेद के इन्द्र देवता में होते हैं, जिसे विद्वानों ने आर्यों का 'राष्ट्रीय देवता' कहा है। राजपद के सिवाय सभा-समिति आदि राजनैतिक संस्थाएँ भी बहुत महत्त्वपूर्ण थीं, जिनके द्वारा जनता राष्ट्रीय कार्यों में अपना हाथ बटाती थी। सभा समिति का सामाजिक जीवन में इतना महत्त्वपूर्ण स्थान था कि अथर्ववेद में उन्हें प्रजापति की दो लड़कियां कहा गया है। इन्हीं संस्थाओं द्वारा जनतान्त्रिक वातावरण का निर्माण किया गया था। कुछ विद्वानों के मतानुसार वैदिक युग में जनतन्त्रात्मक शासनप्रणाली भी वर्तमान थी। गण, वैराज्य, स्वाराज्य आदि शब्द, जिनका उल्लेख वैदिक साहित्य में बार बार आता है, गणतन्त्रात्मक संविधानों के सूचक माने जाते हैं। इस प्रकार राजपद, सभा, समिति

आदि द्वारा वेदकालीन राजनैतिक जीवन पूर्णतया सञ्चालित किया जाता था।

वेदकालीन आर्थिक जीवन के बारे में भी हमें वैदिक साहित्य से जो कुछ ज्ञात होता है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि वेदकालीन समाज ने अपनी आर्थिक व्यवस्था को भी सुसंगठित किया था। कृषिप्रधान भारत की भौगोलिक अवस्था के अनुरूप ही आर्थिक व्यवस्था को विकसित किया गया था। कृषि, वाणिज्य, उद्योग आदि के विकास द्वारा वैदिक आर्यों ने अपना आर्थिक विकास किया था, तथा सुव्यवस्थित व सुनियोजित अर्थव्यवस्था को जन्म दिया था, जिसके अनुसार सम्पत्ति के वितरण में किसी प्रकार की विषमता उत्पन्न नहीं होती थी। वैदिक युग में जिस प्रकार वाणिज्य, कृषि, उद्योग आदि का विकास हुआ था, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि उस समय का आर्थिक जीवन अवश्य संगठित रहा होगा और श्रेणि, पूग आदि के समान आर्थिक जीवन को संचालित करनेवाली संस्थाओं का भी अस्तित्व होगा, जिसका कोई प्रत्यक्ष उल्लेख वैदिक साहित्य में नहीं आता।

विदथ, विद्वत्परिषद् आदि द्वारा वैदिक युग का धार्मिक व दार्शनिक जीवन संचालित होता था। इन संस्थाओं द्वारा विद्वानों की योग्यता का परीक्षण होता था, तथा उन्हें अपने कर्तव्यों व उत्तरदायित्वों के प्रति जागरूक रखा जाता था। वेदकालीन समाज में कितने ही ऋषि मुनि थे, जो संस्था के समान थे। उनके आश्रम धर्म व संस्कृति के केन्द्र थे, जिनके संचालन में उन्हें पूर्ण स्वातन्त्र्य प्राप्त था। वानप्रस्थियों के भी अपने अपने केन्द्र जंगलों में रहते थे, जहाँ आध्यात्मिक विकास किया जाता था।

(सारांश में, यह कहा जा सकता है कि वेदकालीन समाज पूर्ण रूप से सुव्यवस्थित, सुसंगठित व सुसंस्कृत था। उसका जीवन साम-स्यपूर्ण था, तथा उसका प्रत्येक व्यक्ति वर्गचतुष्टय की प्राप्ति में अपने कर्तव्यों की इतिश्री समझता था। इस समाज का महान् आदर्श "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" द्वारा अपनी संस्कृति को विश्व भर में प्रसारित कर अमृतत्व के पद को प्राप्त करना था। अथर्ववेद ने इस आदर्श का "ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत' (ब्रह्मचर्य व तप से देवताओं ने मृत्यु का भी हनन किया) आदि शब्दों द्वारा समझाया है।)

सहायक ग्रन्थों की सूची

१ अथर्ववेद

२ अरली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया—चौथी आवृत्ति—स्मिथ

३ अङ्गुत्तर निकाय

४ अग्निपुराण

५ अर्थशास्त्र—कौटिल्य

६ अष्टाध्यायी—पाणिनि

७ आर्कटिक होम इन दी वेदाज़—बा. गं. तिलक

८ आश्वलायन गृह्यसूत्र

९ ऑक्सफोर्ड पेम्फलेटस ऑन इण्डियन अफेयर्स सं० २२ रेशियल एली-मेन्ट्स इन दी पॉपुलेशन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस बॉम्बे, १९४४.

१० इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस २२ वां अधिवेशन—अध्यक्षीय भाषण १९५७

११ इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, जि. ५, १९२९.

१२ इण्डियन एन्टीक्वेरी—१८८४

१३ इण्डो-आर्यन पॉलिटी—वसु

१४ इण्डो आर्यन रेसेज—राजशाही, १९१६.

१५ ईशोपनिषद

१६ एमेज़—हॉब्ज़

१७ एन्शन्ट इण्डियन हिस्टॉरिकल ट्रेडिशन्स—पार्जिटर

१८ इन्शन्ट इण्डिया—रेप्सन

१९ एन्शन्ट हिस्ट्री ऑफ दी फार ईस्ट—डॉ० हॉल

२० एन्हरी के फिजिक्स—हेडले

२१ ऐतरेय ब्राह्मण

२२ ऐतरेयोपनिषद

२३ ओरिजिन ऑफ दी आर्यन्स—टेलर

२४ ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स

२५ ऋग्वेद

२६ ऋग्वेदिक कल्चर—ए० सी० दास

२७ कलकत्ता रिव्यू—मार्च १९२४

२८ कर्तव्य दर्पण—नारायण स्वामी

२९ कार्पोरेट लाइफ इन एन्शन्ट इण्डिया—रमेशचन्द्र मुजुमदार

३० कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जि० १—रैप्सन द्वारा सम्पादित

३१ कौशतकी ब्राह्मण

३२ गीता (भगवद्गीता)

३३ ग्लोरी दैट वाज़ गुर्जरदेश भाग १—क० मा० मुन्शी

३४ गोपथब्राह्मण
३५ चट्टान पर खुदे हुए अशोक के १४ धर्मलेख
३६ चिप्स फ्रॉम ए जर्मन वर्कशॉप—मैक्समुलर
३७ छान्दोग्योपनिषद्
३८ जर्नल ऑफ दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी
३९ जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी, लन्दन, १९११
४० जातक
४१ तैत्तिरीय संहिता
४२ तैत्तिरीय ब्राह्मण
४३ दी आर्यन्स—चाइल्ड गॉर्डन
४४ दी ओरिजिन ऑफ दी आर्यन्स
४५ दी कल्चरल हैरिटेज ऑफ इण्डिया जि० १-२
४६ दी रिलीजन ऑफ दि ऋग्वेद—ग्रिस्वोल्ड
४७ निघण्टु—यास्क
४८ निरुक्त—यास्क
४९ पद्मपुराण
५० पातञ्जल योगसूत्र
५१ पोलिटिकल माइन्स—लीकॉक
५२ प्रश्नोपनिषद्
५३ प्रोसिडिंग्ज ऑफ दी नाइन्टिंथ सेशन ऑफ दी इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस
५४ फरदर एक्सेकेवेशन्स एट मोहनजोदाडो (२ जि०) मैके
५५ फॉउन्टेनहेड ऑफ रिलीजन—गंगाप्रसाद उपाध्याय
५६ बौधायन धर्मसूत्र
५७ बृहदारण्यक उपनिषद्
५८ ब्रह्माण्डपुराण
५९ भारतीय अनुशीलन
६० भारतीय नाट्यशास्त्र
६१ भारतीय संस्कृति शि० द० ज्ञानी
६२ मत्स्यपुराण
६३ मनुस्मृति
६४ महाभारत
६५ मुण्डकोपनिषद्
६६ यजुर्वेद
६७ याज्ञवल्क्य स्मृति
६८ रिलीजन एण्ड फिलासफी आफ वेद—कीथ
६९ लाइफ इन एन्शन्ट इण्डिया इन दि एज ऑफ मन्त्रज्ञ—श्री निवास आयङ्गर
७० लेक्चर्स—मैक्समुलर

७१ वायुपुराण
७२ वाल्मीकि—रामायण
७३ विष्णुपुराण
७४ वैदिक एज—र० च० मुजुमदार द्वारा सम्पादित
७५ वेदाङ्ग ज्योतिष (याजुष ज्योतिष) लगध
७६ वेदों का महत्व—शि० द० शानी
७७ वैदिक इंडैक्स—कीथ व मैकडोनेल
७८ वैशेषिक सूत्र—कणाद
७९ शतपथ-ब्राह्मण
८० सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट सीरीज़
८१ सेन्सस ऑफ इण्डिया १९०१, १९३१
८२ सोशियल थियरी—कील
८३ संस्कृत लिटरैचर—मैकडॉनेल
८४ संस्कृत लिटरैचर—डे व दासगुप्ता
८५ संस्कृत ड्रामा—कीथ
८६ हरिवंश पुराण
८७ हिन्दू पालिटी—का० प्र० जायसवाल
८८ हिम्स फ्राम दि ऋग्वेद—मैकडॉनेल
८९ हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरैचर—भाग १ विन्टरनीज़
९० हिस्ट्री ऑफ एन्शन्ट सिविलिज़ेशन—सिनोबरक
९१ हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरैचर—मैक्समुलर
९२ हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरैचर—मैकडॉनेल

अनुक्रमणिका